नागरीप्रचारिणी पत्रिका

त्रैमासिक

[नवीन संस्करण भाग २०]

वर्ष ४४—संवत् १९९६

संपादक-मंडल

रामचंद्र शुक्ल मंगलदेव शास्त्री

केशवप्रसाद मिश्र वासुदेवशरण

कृष्णानंद

काशी नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

वार्षिक सूची

विषय	लेखक	पृष्ठ

विषय	लेखक	पृष्ठ

विविध

आभास

मध्य प्रदेश के इतिहास की, स्वयं डाक्टर हीरालाल के हाथ की लिखी, प्रति स्वर्गवासी डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल को डाक्टर हीरालाल के भतीजे से प्राप्त हुई। उसे स्व० जायसवालजी ने काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के पास भेज दिया कि वह इसका उचित उपयोग करे। यह हस्तलिखित प्रति बहुत दिनों तक पड़ी रही। अंत में यह निश्चय हुआ कि यह इतिहास प्रकाशित कर दिया जाय। उसी निश्चय के अनुसार यह प्रकाशित किया जाता है।

श्री राहुल सांकृत्यायनजी ने लिखा है—"अन्य विषयों के विद्वान् तो हीरालालजी थे ही, किंतु वे कलचुरि-इतिहास का ऐसा ज्ञान रखते थे जैसा इस समय तक भारत में किसी को नहीं है। आगे भी उस तरह का ज्ञाता कब कोई हो सकेगा, नहीं कहा जा सकता। उनकी आयु और स्वास्थ्य को देखकर हम लोगों को बहुत डर लग रहा था कि कहीं हमारे देश को इस ज्ञानराशि से वंचित न हो जाना पड़े। हमने बहुत तरह से कहा था—'आप कलचुरि-काल के इतिहास को शीघ्र लिखवा दीजिए।' वे भी इसके महत्त्व को समझते थे और तय हुआ था कि साथ में एक लेखक रखकर वे इतिहास लिखवा देंगे। पिछली गर्मियों में ल्हासा में रहते समय मेरी यह धारणा थी कि कलचुरि इतिहास तैयार हो रहा होगा। × × × जब जब ख्याल आता है कि कलचुरि-इतिहास का लेखक चला गया और अब हमको उस योग्यता का कलचुरि-इतिहास लिखनेवाला नहीं मिलेगा तब बहुत खेद होता है। × × × इतिहास एक ऐसा विषय है जो मननशील और अध्ययनशील व्यक्ति की आयु-वृद्धि के साथ अधिक परिपक्व होता जाता है। × × × स्व० राय बहादुर का इतिहास-अनुशीलन प्रेम और भक्ति से संबंध रखता था।"

श्री जयचंद्र विद्यालंकारजी इस संबंध में लिखते हैं—"चेदि की भूमि, जातियों, बोलियों और इतिहास का जैसा ज्ञान राय बहादुर हीरालाल को था, हमारे जमाने में वैसा और किसी को नहीं है। उन्होंने अपनी उम्र उसी के अध्ययन में लगा दी थी। इसी लिये उनसे मैंने प्रार्थना की कि वे अपने ज्ञान को अपने पीछे आने वालों के लिये भी छोड़ जायँ। मेरी प्रार्थना पर पहले तो उन्होंने कहा कि वे सब प्रकार के मेहनत के काम से निवृत्त हो चुके हैं, पर सन् १९३३ में उन्होंने आखिर वह प्रार्थना मान ली। उस संबंध में उन्होंने एक पिछली घटना भी बताई।

"भारत सरकार के पुरातत्व विभाग ने चेदि-अभिलेखों के संपादन का काम राय बहादुर हीरालाल को सौंपा था। तब उन्होंने चेदि-इतिहास लिखने की पूरी तैयारी कर ली थी। उस ग्रंथ के लिये उन्हें १०) प्रति पृष्ठ के हिसाब से पारिश्रमिक देने को कहा गया। उन्हीं दिनों डाक्टर स्टाइन कोनौ को खरोजी-अभिलेखों के संपादन का काम सौंपा गया और उन्हें एक गिनी प्रति पृष्ठ पारिश्रमिक देना तय हुआ। हीरालालजी ने कहा कि वे या तो एक गिनी प्रति पृष्ठ ही लेंगे, और नहीं तो उस ग्रंथ को मुफ्त में प्रस्तुत कर देंगे। दूसरी दशा में केवल उनके एक सहकारी का खर्चा सरकार को देना होगा। सरकार इस काम के लिये ५०००) खर्च करने को तैयार थी; डायरेक्टर-जनरल आव आर्कयॉलाजी को डर लगा कि कहीं हीरालालजी के सहकारी का खर्च ५ हजार से अधिक न बढ़ जाय। इसलिये यह प्रस्ताव पड़ा ही रह गया। सन् १९३३ में डा० हीरालाल ने उस टले हुए कार्य को कर डालने का इरादा किया। एक एम० ए० पास सज्जन को अपना सहकारी नियत कर वे ग्रंथ की सामग्री जुटाने लगे। × × ×"

ऊपर दिए गए अवतरणों से स्पष्ट है कि चेदि के इतिहास के संबंध में चेदि-कीर्ति-चंद्र डाक्टर हीरालाल का सिक्का जमा हुआ था। उस इतिहास के कुछ अंशों को वे अँगरेजी में और हिंदी में भी प्रकाशित कर चुके थे। जबलपुर की अस्तंगत मासिक पत्रिका 'श्रीशारदा'

के संवत् १९७९ के मार्गशीर्ष—फाल्गुन, और संवत् १९८० के चैत्र—श्रावण तक तथा आश्विन के अंकों में उक्त इतिहास का कुछ अंश निकला था। उनके अन्यान्य ग्रंथ—सागर-सरोज, दमोह-दीपक, जबलपुर-ज्योति आदि—उसी विषय पर हैं। 'श्रीशारदा' में प्रकाशित लेख-माला को शुद्ध करके वे एकत्र रखते गए और उसके आगे का अंश भी लिखकर उन्होंने उसमें सन्निविष्ट कर दिया। प्रायः प्रत्येक अध्याय को देखक उन्होंने अंत में हस्ताक्षर करके तारीख डाल दी थी।

कापियाँ देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि उनका विचार सूक्ष्म दृष्टि से इसके संपादन करने का था। किंतु एक तो वृद्धावस्था, दूसरे अस्वस्थता और सबसे अधिक अनुत्साह तथा अनवकाश ने वह समय ही न आने दिया। संग्रह पड़ा रह गया और एक आध प्रसंग की कापियों पर तो झींगुरों ने कृपा कर दी थी।

हर्षवर्धन का जो अंश पृष्ठ २९ पर मुद्रित है उसके आगे कई पृष्ठ खाली पड़े हुए थे जिनसे ज्ञात होता है कि लेखक का विचार इस विषय पर पृथक् अध्याय लिखने का था; किंतु उसमें एक शब्द भी वे आगे न लिख पाए। मैंने हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, से प्रकाशित 'हर्षवर्धन' में इसके अनुकूल विषय ढूँढ़ा और काशी हिंदू-विश्वविद्यालय के इतिहासाचार्य डा० त्रिपाठी से भी विचार-विनिमय किया किंतु कुछ लिखने योग्य सामग्री उपलब्ध न हो सकी। पता नहीं, डाक्टर साहब इस अध्याय में क्या क्या लिखना चाहते थे। इसी प्रकार वे परिव्राजकों की राजधानी का स्थल-निर्देश और ठीक ठीक मिति भी देना चाहते थे। इसके लिये भी कापी में स्थान खाली पड़ा था। पता नहीं, वे इस तथ्य का संकलन कहाँ से करते और उसके प्रमाण में किन युक्तियों से काम लेते। जो हो, चेदि के इतिहास के संबंध में उनकी लिखी जो सामग्री प्राप्त थी वह एकत्र सन्निविष्ट करके इस आशा से प्रकाशित की जा रही है कि संभव है, डाक्टर साहब का कोई समान-धर्मा आगे चलकर इसे सर्वांगपूर्ण कर सके।

—ल० पांडेय

सूचना

१—पत्रिका के इस अंक का प्रायः सभी स्थान 'मध्य प्रदेश का इतिहास' ने ले लिया है। इस कारण इसमें अन्य विषयों का समावेश नहीं हो सका। अगले अंक से विषयों का समावेश यथापूर्व रहेगा।

२—सभा की वार्षिक रिपोर्ट में 'सभा की प्रगति' आ ही चुकी है।

विषय-सूची

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ४४-संवत् १९९६ [नवीन संस्करण] भाग २०-अंक १

(१) मध्य प्रदेश का इतिहास

[लेखक—स्वर्गवासी राय बहादुर डाक्टर हीरालाल बी० ए०, एम० आर० ए० एस०]

प्रथम अध्याय

मध्य प्रदेश

मध्य प्रदेश भारतवर्ष के बीचोंबीच का वह विभाग है जिसको अँगरेजों ने सन् १८६१ ईसवी में एक पृथक् प्रदेश बना दिया। उसके पूर्व इसका उत्तरीय भाग प्राचीन पश्चिमोत्तर प्रदेश (वर्तमान संयुक्त प्रदेश) में सम्मिलित था और दक्षिण अर्थात् नागपुर की ओर का भाग देशी रजवाड़ा था। अकस्मात् सन् १८५७ ईसवी में सिपाही-विद्रोह की आग भड़की। उसके शांत होने पर भारतवर्ष के विभागों का राजनीतिक दृष्टि से पुनः शोध किया गया तब यह स्थिर किया गया कि देश के सुप्रबंध और शांति के लिये मध्य भारत में एक प्रदेश बनाना चाहिए। इधर नागपुर का राज्य सन् १८५३ ई० ही में अँगरेजों की देखरेख में आ चुका था और जो अधिकार भोंसला घराने को प्राप्त थे वे सन् १८५७ में, आपा साहब भोंसले के बिगड़ उठने पर, छीन लिए गए जिससे अँगरेजों को उस राज के शासन

नवीन प्रदेश

का प्रबंध भी अनिवार्य्य हो गया। नागपुर का राज इतना विस्तीर्ण और अँगरेजी प्रांतों से इतनी दूर था कि वह किसी प्रदेश में जोड़ा नहीं जा सकता था। इसलिये भी एक अलग प्रदेश रचने की आवश्यकता हुई।

उत्तरीय भाग मध्य प्रदेश की रचना के पूर्व 'सागर व नरबदा प्रांत' कहलाता था। वह ६ जिलों में विभक्त था अर्थात् सागर,

अंतर्विभाग

दमोह, जबलपुर, नरसिंहपुर, होशंगाबाद, बैतूल, छिंदवाड़ा, सिवनी और मंडला। दक्षिणी भाग के भी उतने ही जिले बनाए गए अर्थात् नागपुर, वर्धा, चाँदा, भंडारा, बालाघाट, रायपुर, बिलासपुर, संबलपुर और अपर गोदावरी। इस प्रकार १८ जिलों के समूह का एक नवीन प्रांत स्थापित किया गया। पीछे से कुछ अदल-बदल की गई जिसके कारण उत्तरीय देशी रजवाड़ों से जो भूमि प्राप्त हुई उससे एक और जिला निमाड़ जुड़ गया और अपर गोदावरी का जिला तोड़ दिया गया। उसका कुछ भाग रायपुर जिले में और कुछ चाँदा जिले में मिला दिया गया। सन् १९०६ ई० में संबलपुर का जिला उड़ीसा में मिला दिया गया और दीर्घकाय रायपुर और बिलासपुर जिलों का पुनः बटवारा करके तीन विभाग किए गए जिससे दुर्ग जिले की नवीन स्थापना हुई। सन् १९०३ ई० में बरार प्रांत के चार जिले अमरावती, अकोला, यवतमाल और बुलढाना मध्य प्रदेश में सम्मिलित किए गए जिसके कारण अब इस प्रदेश में २२ जिले हो गए हैं। इनके सिवा छोटे-बड़े १५ रजवाड़े हैं जो इसी प्रदेश के अंतर्गत रखे गए हैं। पहले वे पृथक् पृथक् जिलों में विभक्त थे; यथा बस्तर अपर गोदावरी जिले का भाग समझा जाता था। उस जिले के टूटने पर वह रायपुर जिले में जोड़ दिया गया था। रायपुर में बस्तर के सिवा काँकेर, नाँदगाँव, खैरागढ़ और छुइखदान के रजवाड़े शामिल थे। कवर्धा, सकती, रायगढ़ और सारंगढ़ बिलासपुर से संबंध रखते थे। मकड़ाई होशंगाबाद जिले के अंतर्गत था। शेष कालाहाँडी, पटना, सोनपुर, रेढ़ाखोल और बामड़ा संबलपुर जिले

में सम्मिलित थे। ये, संबलपुर जिला समेत, उड़िया होने के कारण उड़ीसा में लगा दिए गए हैं। इन पाँच रजवाड़ों के बदले छुटिया नागपुर के ५ हिंदी रजवाड़े अर्थात् सिरगुजा, उदयपुर, जशपुर, कोरिया और चाँग भरवार इस प्रदेश में जोड़ दिए गए हैं। इन १५ रजवाड़ों की देख-रेख के लिये एक पालिटिकल एजेंट नियुक्त कर दिया गया है।

वर्तमान और प्राचीन अंग

मध्य प्रदेश का कुल क्षेत्रफल १,३१,०५२ वर्गमील है। वह पाँच कमिश्नरियों में विभक्त है अर्थात् (१) नागपुर कमिश्नरी जिसमें नागपुर, वर्धा, चाँदा, भंडारा और बालाघाट के जिले हैं। (२) छत्तीसगढ़ कमिश्नरी जिसमें रायपुर, बिलासपुर और दुर्ग के जिले तथा मकड़ाई को छोड़कर सब रजवाड़े सम्मिलित हैं। (३) जबलपुर कमिश्नरी जिसमें जबलपुर, सागर, दमोह, सिवनी और मंडला के जिले शामिल हैं। (४) नरबदा[1] कमिश्नरी जिसमें होशंगाबाद, नरसिंहपुर, निमाड़, छिंदवाड़ा और बैतूल के जिले शामिल हैं और (५) बरार कमिश्नरी जिसमें अमरावती, अकोला, यवतमाल और बुलढाना के जिले लगते हैं। प्राचीन काल में ये विभाग पृथक् पृथक् देशों के अंग थे। इसमें संदेह नहीं कि किसी समय मध्यदेश नामक एक प्रांत था परंतु वह वर्त्तमान मध्य प्रदेश की सीमा से मिलान नहीं खाता। वह यमुना और नर्मदा के बीचोंबीच था।

प्रागैतिहासिक काल में मध्य प्रदेश का बहुत सा भाग दंडकारण्य कहलाता था। इस जंगल का पूर्वी भाग महाकोशल या दक्षिण कोशल कहलाता था। इसमें प्राय: समस्त छत्तीसगढ़ कमिश्नरी और नागपुर कमिश्नरी का कुछ भाग आ जाता है। हैहयों का अधिकार फैलने पर महाकोशल का बहुत सा भाग चेदि देश के अंतर्गत हो गया।

१—अब नरबदा कमिश्नरी तोड़ दी गई है। दमोह जिला टूट कर सागर की तहसील कर दिया गया है और नरसिंहपुर तोड़कर होशंगाबाद की तहसील। नरबदा कमिश्नरी के बैतूल और छिंदवाड़ा जिले तो नागपुर कमिश्नरी में और निमाड़ तथा होशंगाबाद जबलपुर कमिश्नरी में मिला दिए गए हैं।—सं०

हैहयों का मूल स्थान महिषमंडल और डाहल में था। महिषमंडल की राजधानी माहिष्मती निमाड़ जिले के वर्त्तमान मांधाता में थी और डाहल की जबलपुर जिले के अंतर्गत त्रिपुरी (वर्त्तमान तेवर) में। महिषमंडल में वर्तमान औरंगाबाद जिला व दक्षिण मालवा सम्मिलित थे। डाहल का विस्तार उत्तर-दक्षिण यमुना और नर्मदा के बीचोंबीच था। बरार प्राचीन विदर्भ है जिसके अंतर्गत भोजकट का प्रांत था। बस्तर का राज्य चक्रकूट या भ्रमरकूट कहलाता था। इनारा किनारों पर अनूप, अवंति, दशार्ण, गौड़, ओड्र, कलिंग आदि लगे हुए थे जिनके कुछ टुकड़े वर्त्तमान मध्य प्रदेश में सम्मिलित हो गए हैं। कालांतर में इन नामों का परिवर्तन हो गया जिसके कारण विदर्भ बरार कहलाने लगा, अनूप और अवंतिका का नाम मालवा पड़ गया, महाकोशल को छत्तीसगढ़ की उपाधि मिली, चेदि के एक भाग का नाम कुछ काल तक जेजाकभुक्ति या जझौती रहा फिर वह बुंदेलखंड कहलाने लगा। चेदि का दूसरा भाग भट्टविल या भट्टदेश और पश्चात् बघेलखंड के नाम से प्रख्यात हो गया। ओड्र उत्कल या उड़ीसा कहलाने लगा, गौड़ के पूर्वीय भाग का नाम बंगाल चल निकला और पश्चिमी भाग के अनेक विभागों के भिन्न भिन्न नाम रख लिए गए। इन विविध देशों के पृथक् पृथक् शासनकर्त्ता थे, इसी कारण इस मध्य प्रदेश में, एक ही काल में, अनेक राजाओं का राज रहा जिनका वर्णन आगे किया जायगा।

द्वितीय अध्याय

प्रागैतिहासिक काल

भूमि की बहुत प्राचीन दशा का पता भूगर्भ-विद्या से लगता है। पत्थर और चट्टान ही उसके मुख्य चारण हैं जो उसकी महिमा और आयु का उच्चारण करते हैं। इनकी गवाही से जान पड़ता है कि कई हजार वर्ष पूर्व मध्य प्रदेश के बहुत से भाग में समुद्र लहराता था।

उसके पश्चात् उसने कड़ी भूमि का वेष धारण किया और वनस्पतियों के उगने का अवसर दिया, पश्चात् प्राणियों का आविर्भाव हुआ। इन सब में मानुषी उपज सबसे पीछे की समझी जाती है। सब से प्राचीन मानवी सृष्टि का क्या नाम था, यह तो अब विदित नहीं है परंतु जो अब जंगली जातियाँ कही जाती हैं वे सबसे प्राचीन लोगों की संतति हैं। मध्य प्रदेश में कोई ४५ प्रकार की जंगली जातियाँ पाई जाती हैं। इनमें से कई एक निस्संदेह आर्यों के आने के पूर्व यहाँ पर विद्यमान थीं। इन सब जातियों में गोंड़ों की संख्या सब से अधिक है। गोंड़ जाति की जनसंख्या कोई २२ लाख है। ऐसा कोई जिला या रजवाड़ा नहीं जहाँ पर ये न पाए जाते हों। किसी किसी जगह तो इनकी संख्या सैकड़ा पीछे साठ से भी अधिक पड़ती है, जैसे उत्तर में मंडला जिले में और दक्षिण में बस्तर रियासत में। कहीं कहीं पर पचास वर्ष पूर्व ये लोग बिलकुल नग्न अवस्था में विचरते थे। ये अपनी भाषा में अपनी जाति को कोयतूर कहते हैं जिसका अर्थ होता है मनुष्य। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ये लोग अपने को अन्य जानवरों से बिलगानेवाले शब्द का उपयोग करते थे। पशुओं और इनकी स्थिति में बड़ा भारी अंतर नहीं था। जान पड़ता है, इसी कारण जब आर्यों से संपर्क हुआ तब उस सभ्य जाति ने इन असभ्यों को पशु समान समझकर घृणासूचक गोंड की उपाधि लगा दी जिसका यथार्थ अर्थ ढोर (पशु) होता है। किसी किसी ने इन लोगों या इनके अन्य भाइयों को बंदर भालू राक्षस इत्यादि की उपमा दे डाली, जिनका समावेश रामायण समान बड़े महत्त्व के ग्रंथों में भी हो गया।

इस प्रदेश के मूल निवासियों का जो थोड़ा-बहुत वर्णन मिलता है वह रामायण ही में पाया जाता है। उस समय इस प्रदेश को

दंडकारण्य

दंडकारण्य कहते थे। विंध्य पर्वत के उत्तर की ओर आर्यों की बस्तियाँ तो अवश्य थीं, परंतु उसके दक्षिण में जंगली लोग ही रहा करते थे। आर्यों ने आधिपत्य

प्राप्त करने के पूर्व ही इस भूमि को इक्ष्वाकुवंशियों की मान लिया और वे उसमें घुसने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने मूल निवासियों को सताना आरंभ किया। वे उनके यज्ञों में बाधा डालने लगे और कई एकों को मार मारकर संसार के उस पार कर दिया।

जब कोशल के राम दंडकारण्य में आए तब उन्हें कई स्थलों पर ऋषि-मुनियों की हड्डियों के ढेर दिखलाए गए। उन्होंने दंडकारण्य को अपने राज्य के अंतर्गत समझकर उपद्रवियों को मारना आरंभ किया। बालिवध का निश्चय करते समय उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा था "यह वन-कानन-शालिनी सशैल भूमि इक्ष्वाकुवंशवालों के अधिकार में है। भरत उस वंश के राजा हैं और हम उनके आज्ञानुसार पापियों को दंड देने के लिये नियुक्त हैं। जिन्हें दंड देना है उनके संग क्षत्रियों के समान सम्मुख होकर युद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं है"।[१] जब उनके राजा रावण ने सुना तो उसने भी राम के साथ उपद्रव किया और वह उनकी स्त्री सीता को हर ले गया। यद्यपि सहस्रों वर्ष व्यतीत हो जाने के कारण बहुतेरे गोंड यह नहीं जानते कि रावण कौन था परंतु वे अभी तक अपने को रावणवंशी बतलाते ही चले जाते हैं। कोई चार सौ वर्ष पूर्व जब इस प्रदेश में गोंड़ों का आधिपत्य हो गया और ब्राह्मणों ने समय देख गोंड़ राजाओं को प्रसन्न करने के हेतु राजघरानों की अलग पंक्ति बनाकर उन्हें जनेऊ पहनाकर क्षत्रिय वर्ण की व्यवस्था कर दी तब भी उन्होंने अपने वंश को नहीं मेटा और अपने सिक्कों पर वे अपने नाम के आगे पौलस्त्यवंश अंकित करते ही रहे। कई विद्वानों का मत है कि लंका नर्मदा के उद्गम-स्थान अमरकंटक में थी जो पहले मध्य प्रदेश के भीतर था परंतु पीछे से रीवाँ के महाराजा को दे दिया गया। यदि पूर्ण शोध होने पर यह सत्य निकले तो उसके आसपास के निवासी गोंड़ों का अपने को रावणवंशी कहना सार्थक और अत्यंत उपयुक्त ठहरेगा।

राम

१—रामायणी कथा पृ० ७२।

लंका चाहे जहाँ रही हो, रामायण से यह तो प्रत्यक्ष है कि राम ने अपने वनवास का अधिक समय दंडकारण्य अर्थात् इस प्रदेश में बिताया और नर्मदा के दक्षिण के अनेक स्थलों में भ्रमण किया। उसी काल में नर्मदा के उत्तरीय अंचल में सहस्रार्जुन कार्त्तवीर्य महिषमंडल का राज्य करता था जिसकी राजधानी माहिष्मती थी। माहिष्मती नर्मदा के किनारे पर थी इसलिये कुछ लोग उसे मंडला और कुछ महेश्वर समझते रहे परंतु अब निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया गया है कि वह निमाड़ जिले के मांधाता के सिवा अन्य नहीं है। कार्त्तवीर्य रावण का समकालीन था। इन दोनों में मुठभेड़ भी हो जाया करती थी। एक बार कार्त्तवीर्य ने रावण को पकड़कर अपने महल के खूँट में बंद कर रखा था। वह चंद्रवंशी राजा था, उसी से हैहयों की उत्पत्ति हुई जिनकी एक शाखा त्रिपुरी में जा बसी। उस वंश के नृपतियों ने अपना आधिपत्य इतना बढ़ाया कि वे भारतवर्ष के सम्राट् हो गए। यह ऐतिहासिक काल की वार्त्ता है जिसका ब्योरेवार वर्णन यथास्थान किया जायगा।

कार्त्तवीर्य

यह प्रदेश राम, कार्त्तवीर्य और रावण ही की लीलाभूमि नहीं रहा वरन् अगले युग में श्रीकृष्ण से भी इसका घनिष्ठ संबंध हो गया। वर्त्तमान बरार प्राचीन काल में विदर्भ कहलाता था, जिसका राजा भीष्मक था। इसी की कन्या रुक्मिणी थी जिसका विवाह श्रीकृष्ण से हुआ। भीष्मक की राजधानी कौंडिन्यपुर थी। वह अमरावती जिले में इसी नाम से अभी तक विद्यमान है। उस समय चेदि देश का राजा शिशुपाल बड़ा शक्तिशाली था और रुक्मिणी का विवाह उसी से होनेवाला था परंतु श्रीकृष्ण ने विघ्न डाल दिया। इसी के कारण दोनों में विरोध हुआ और अंत में शिशुपाल को प्राणों से हाथ धोना पड़ा।

श्रीकृष्ण

इस देश में जो सबसे बड़ा भारी युद्ध हुआ वह कौरवों और पांडवों के बीच का है जिसका वर्णन महाभारत में किया गया है। इस युद्ध में भारतवर्ष के सभी राजा सम्मिलित हुए थे। जान पड़ता है

कि मध्य प्रदेश की भूमि के तत्कालीन अधिकारी राजा कौरवों की ओर से और कुछ पांडवों की ओर से लड़े थे। श्रीकृष्ण ने अपनी सेना कौरवों को दे दी थी और आप पांडवों की ओर से खड़े हुए थे। शोध लगाने से जान पड़ता है कि यह घटना कोई पाँच हजार वर्ष पूर्व हुई। एक जैन-मंदिर में, जो शक संवत् ५५६ में बना था, लिखा हुआ पाया जाता है कि उस समय भारत युद्ध को हुए ३७३५ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। शक संवत् ईसवी सन् के ७८ वर्ष पश्चात् प्रचलित हुआ था इसलिये सन् १९२७ में गणना करने से महाभारत की तिथि ५०२८ साल बैठती है। पंचांगों में कलियुग की जो संख्या दी जाती है वह इससे मेल खाती है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि कलियुग संवत् का आरंभ तभी से हुआ। इतने प्राचीन काल के चिह्न इस देश में नहीं मिलते। परंतु पंजाब के हड़प्पा और सिंध के मोहनजोदरो में खोदने से ऐसी कुछ वस्तुएँ मिली हैं जो इतनी ही पुरानी जान पड़ती हैं। विशेष जाँच होने पर कदाचित् ये उस जमाने की सभ्यता के प्रत्यक्ष प्रमाण समझे जायँ और ऐतिहासिक काल का क्षेत्र अधिक विस्तीर्ण हो जाय।

महाभारत

तृतीय अध्याय

मौर्य काल

भारतवर्ष का ऐतिहासिक काल कोई ढाई हजार वर्षों से आरंभ होता है। उस समय मगध देश के राजा विशेष प्रतापशाली थे। ये शिशुनाग-वंशी कहलाते थे क्योंकि इस वंश के प्रथम राजा का नाम शिशुनाग था। इस वंश के दस राजाओं ने कोई ढाई सौ वर्ष तक राज्य किया। दसवें राजा महानंद के एक शूद्रा स्त्री से नंद नाम का लड़का पैदा हुआ जिसने असल शैशवनागों को निकाल कर अपना अधिकार जमा लिया। नंद

शिशुनाग व नंदवंशी

के वंश में सौ वर्ष तक राज्य स्थिर रहा। यह वंश भी बड़ा समृद्धिशाली था। नंद का पुत्र महापद्म एकराट् एकच्छत्र कहलाता था परंतु अभी तक कोई प्रमाण ऐसा नहीं मिला जिससे यह सिद्ध हो कि शिशुनाग या नंदवंशियों का अधिकार मध्य प्रदेश के किसी भाग में था या यहाँ के स्थानीय राजा उनका आधिपत्य मानते थे।

जब नंदवंश का पतन प्रसिद्ध चाणक्य ब्राह्मण की नीति द्वारा हुआ तब मौर्यवंशी चंद्रगुप्त राजा सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। बौद्ध ग्रंथों के अनुसार चंद्रगुप्त शाक्यवंशी गौतम बुद्ध का वंशज था। उसका पिता हिमालय पर्वत के ऊपर एक छोटे से राज्य का अधिकारी था। उसके

मौर्यवंश

राज्य में मोर बहुत थे इसलिये उसके वंश का नाम मौर्य कहलाया। कोई कोई कहते हैं कि उस राजा की राजधानी मोरिय नगर में थी इसलिये वंश का नाम मौर्य चल निकला। अन्य कहते हैं कि चंद्रगुप्त नंदवंशी अंतिम राजा महानंद की मुरा नामक नाइन दासी के पेट का लड़का था इसलिये मौर्य कहलाया परंतु स्पष्टत: यह युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता, क्योंकि इतना बड़ा प्रतापी राजा अपने वंश का नाम हीनतासूचक क्यों चलने देता। यह केवल ईर्ष्या का फल है, क्योंकि इस वंश ने बौद्ध धर्म का विशेष समर्थन किया। पहाड़ी राजयुवक चंद्रगुप्त को सिकंदर की भारत पर चढ़ाई और अपने देश को लौटते समय उसकी मृत्यु ने ऐसा प्रसंग उपस्थित किया जिसके कारण वह भारतवर्ष का एक महाप्रतापी राजा हो गया। सिकंदर ने जिन राजाओं को हरा दिया था उनको संतोष कैसे हो सकता था? वे और उनकी प्रजा सभी विदेशी शासन से मुक्त होना चाहते थे। अवसर मिलने पर बलवा हो गया। चंद्रगुप्त बलवाइयों का मुखिया बन बैठा। पंजाब की सीमा पर रहनेवाली लड़ाकू जातियों से मेल कर उसने एक बड़ी भारी सेना प्रस्तुत की और यूनानी दल से लड़ाई लेकर और उसे हराकर पंजाब पर अपना स्वत्व जमा लिया। उस समय मगध देश बड़ा समृद्धिशाली था। चंद्रगुप्त ने अपनी दृष्टि उस ओर फेरी और चाणक्य की सहायता से षड्यंत्र रचकर महानंद

को मरवा डाला और आप गद्दी पर बैठ गया। अब उसकी सेना और भी बढ़ गई। उसके पास छः लाख पैदल, तीस सहस्र सवार, नौ सहस्र हाथी और बहुत से रथ थे। इस चतुरंगिणी सेना का सामना कौन कर सकता था? उसने शीघ्र ही उत्तरीय रजवाड़ों को सर कर डाला और करनाटक तक नहीं तो नर्मदा के तीर तक का प्रांत अपने अधीन अवश्य कर लिया। भारत में चंद्रगुप्त ही पहला ऐतिहासिक चक्रवर्ती राजा है जिसने बंगाल की खाड़ी और अरब समुद्र के मध्यस्थ संपूर्ण देश का अकंटक राज्य किया। उसी प्रांत के अंतर्गत इस प्रदेश के सागर, दमोह आदि जिले भी थे। जिस समय चंद्रगुप्त ने यूनानियों को हराया उस समय वह केवल पचीस वर्ष का था। उसने १८ वर्ष के भीतर पूर्ण रूप से अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया और बड़ी योग्यता के साथ शासन किया, जिसकी प्रशंसा आज तक होती है। उसने विष्णुगुप्त चाणक्य को अपना मंत्री बनाया था। उसकी सहायता से ही चंद्रगुप्त को मगध का सिंहासन प्राप्त हुआ था। इसके अतिरिक्त वह राजनीति में अत्यंत निपुण था।

चाणक्य ने अपना जो अर्थशास्त्र लिखा है, उसमें तत्कालीन राज्य-शासन-विधि का ब्योरेवार वर्णन किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बड़े महत्त्व की पुस्तक है। इससे ज्ञात होता है कि सन् ईसवी से तीन चार सौ वर्ष पूर्व की सभ्यता उच्च श्रेणी की थी। अर्थशास्त्र में राजा-प्रजा सब के कर्तव्य का वर्णन है। राजा १२ या १६ सभासदों की सम्मति से राज्य-कार्य चलाता था। राज्य-शासन के १८ विभाग रहते थे। उनके प्रबंध के लिये अलग अलग अधिकारी नियुक्त रहते थे। कई विभाग प्रजा के विशेष हितार्थ खोले गए थे, जैसे खेती की सिंचाई के लिये जलाशय-निर्माण, व्यापार के लिये जल व थल मार्ग, बाजार व गोदामें, औद्योगिक-कार्यालय, सड़क, घाट, पुल, पीड़ितों के लिये भैषज्यगृह, औषधि और वनस्पति-उद्यान, अनाथ अशक्तों के लिये दीनालय, पशुओं के लिये जंतु-गृह इत्यादि।

अर्थशास्त्र

यूनान देश की ओर से चंद्रगुप्त के दरबार में मेगेस्थनीज नामक दूत रहता था। यह विदेशी जो लेख छोड़ गया है उससे ज्ञात होता है कि चंद्रगुप्त के राज्य में कृषि-भूमि के अधिकांश भाग को पानी दिया जाता था, और इस काम को यथोचित रीति से चलाने के लिये कई अध्यक्ष नियुक्त थे। कोई नदियों की देख-रेख करता था, कोई भूमि की माप और कोई नहरों की चौकसी रखता था। अर्थ-शास्त्र के आविर्भाव से ये सब बातें अब पुष्ट हो गई हैं। इतना ही नहीं, उनके काम करने की रीति ब्योरेवार प्रकट हो गई है; जैसे कृषि-सिंचन के विषय में लिखा है कि पानी चार प्रकार से दिया जाता था,—हस्तप्रावर्तिम अर्थात् हाथ के द्वारा, स्कंधप्रावर्त्तिम अर्थात् कंधे पर ढोकर, स्रोतयंत्र-प्रावर्तिम अर्थात् कल के द्वारा और नदी-सर-तटाक-कूपोद्घाट-द्वारा। कृत्रिम नहरें भी बनी हुई थीं जिनको कुल्या कहते थे। जल-वर्षा जानने के लिये वर्षमान कुंड बने थे, जो इस समय 'रेनगेज' कहलाते हैं। धातुओं के निकालने के लिये खानि-विभाग अलग था। जल और थल दोनों से बहुमूल्य धातु या पत्थर, हीरे इत्यादि निकालने का प्रबंध राजा की ओर से होता था। कच्ची धातुएँ सिझाकर जब पक्की कर ली जाती थीं, तब वे विशेष अध्यक्षों के अधीन कर दी जाती थीं; जैसे सोने का कारबार सौवर्णाध्यक्ष के अधीन कर दिया जाता था, लोहे और इतर धातुओं का कार्य लोहाध्यक्ष के अधीन रहता था। इन धातुओं से अस्त्र-शस्त्र बनवाने के लिये अलग अधिकारी नियुक्त था, जिसे आयुधाध्यक्ष कहते थे। सारांश यह है कि प्रत्येक कार्य के लिये ब्योरेवार काम का बँटवारा इस प्रकार कर दिया गया था जिससे प्रत्येक विभाग की यथोचित वृद्धि होती जाती थी। यद्यपि चाणक्य-प्रणाली के चिह्न अब अवगत नहीं हैं तथापि जान पड़ता है कि उसका प्रचार अवश्य रहा होगा। इतना तो निस्संदेह कहा जा सकता है कि मौर्यों के पीछे जो राजा हुए, उनके दरबार में भी कई वैसे ही पदाधिकारी थे, जिनका वर्णन अर्थ-शास्त्र में है। इससे यही सिद्ध होता है कि उन राजाओं ने पूर्व प्रथा को समयोचित परिवर्तन के साथ स्थिर रखा।

चंद्रगुप्त के पश्चात् उसका लड़का बिंदुसार सिंहासन पर बैठा जिसने कोई पचीस वर्ष राज्य किया। उसने अपने राज्य की सीमा दक्षिण की ओर अधिक बढ़ाई। जब उसका लड़का अशोक सन् ईसवी के २७२ वर्ष पूर्व गद्दी पर बैठा, तब राज्य की सीमा मद्रास के पास तक पहुँच गई थी। उड़ीसा की ओर के प्रांत कलिंग को भी, जो अब तक बचा हुआ था, अशोक ने जीत लिया। कलिंग देश महानदी और गोदावरी के बीच बंगाल की खाड़ी के किनारे का प्रदेश था, जिसमें कुछ भाग छत्तीसगढ़ का आ जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अशोक ने मध्य प्रदेश के पूर्वीय भाग को स्वयं जीता। अभिषेक होने के पूर्व इस प्रदेश के पश्चिमी भाग से उसका घनिष्ठ संबंध हो गया था क्योंकि वह बहुत समय तक उज्जैन का सूबेदार रहा था। यहीं पर उसने एक वैश्यकुमारी से विवाह कर लिया था जो साँची के निकट रहती थी। साँची का विशाल स्तूप अशोक ही ने बनवाया था। इस महाप्रतापी सम्राट् के राज्य में बौद्धधर्म की अत्यंत वृद्धि हुई। प्राय: संपूर्ण भारत ही बौद्ध धर्मावलंबी नहीं बन गया, वरन् अन्य देशों में भी उसका प्रचुर प्रचार हुआ। वह क्या भिक्षु, क्या गृहस्थ, सबको उत्तेजना देता था कि उद्योग करो, परिश्रम करो, तुमको अवश्य सिद्धि प्राप्त होगी; ऊँचे से ऊँचा स्थान तुम पा सकोगे। इस प्रकार के आदेश उसने अनेक शिलाओं और स्तंभों पर खुदवा दिए थे और अपने कर्मचारियों को उपदेश करने की आज्ञा दी थी। इसी प्रकार का लेख जबलपुर जिले के रूपनाथ की चट्टान पर खुदा हुआ है। भेड़ाघाट और उसके निकटस्थ त्रिपुरी (तेवर) के आसपास भी कई बौद्ध मूर्त्तियाँ मिली हैं, जिन पर उस धर्म का बीज मंत्र खुदा हुआ है। ये मूर्त्तियाँ अशोक के समय के लगभग एक सहस्र वर्ष पीछे की हैं। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि बौद्ध धर्म का पाया किस दृढ़ता के साथ जमाया गया था। त्रिपुरी कट्टर शैवों की राजधानी थी। उसकी सीमा के भीतर बौद्धधर्म का प्रचार बना रहना कुछ कम आश्चर्य की बात नहीं है। केवल जबलपुर जिले में ही नहीं, बरन मध्य प्रदेश के चारों कोनों में बौद्ध-

धर्म का प्रचार हो गया था, यहाँ तक कि चाँदा जिले की भद्रावती या भद्रपत्तन (वर्त्तमान भाँदक) के भी क्षत्रिय राजा बौद्ध हो गए थे। कदाचित् मध्य प्रदेश में भद्रावती से बड़ी नगरी किसी जमाने में भी नहीं रही। जिस समय सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री युवान च्वंग भारत में भ्रमण करने को आया था, उस समय वह भाँदक भी गया था। उसको वहाँ पर सौ संघाराम मिले थे जिनमें दस सहस्र बौद्ध भिक्षु रहते थे; परंतु कराल काल ने इन सबको कवलित कर लिया। इतने पर भी वहाँ अब तक अनेक भग्नावशेष विद्यमान हैं। चट्टान काटकर बनाया हुआ एक बिहार अब भी मौजूद है जिसमें बुद्ध की तीन मूर्तियाँ हैं। वहाँ पर एक शिलालेख मिला है जिसमें वहाँ के बौद्ध राजा सूर्यघोष के द्वारा बौद्ध मंदिर बनवाए जाने का वर्णन है। इस राजा का पुत्र महल के शिखर पर से गिरकर मर गया था। उसी के लिये वह स्मारक बनवाया गया था। सूर्यघोष के पश्चात् उदयन राजा हुआ। उसके पश्चात् भवदेव हुआ, जिसने सुगत के इस मंदिर का जीर्णोद्धार कराया।

इसी प्रकार रायपुर जिले के तुरतुरिया नामक स्थान में बौद्ध भिक्षुणियों का विहार था। वहाँ पर बुद्धदेव की विशाल मूर्ति अभी तक विद्यमान है। बौद्ध धर्म मिट जाने पर भी इस स्थान पर अभी तक स्त्रियाँ ही पुजारिन होती हैं। सिरगुजा रजवाड़े में, जिसका पूर्वनाम झारखंड था, रामगढ़ नामक पर्वत है। वहाँ बौद्ध नाटकशाला और गुफाएँ हैं जिनमें पाली अक्षरों में लेख खुदे हैं और रंगीन चित्र खिंचे हैं। उसी लिपि में, सकती रजवाड़े के दमौदहरा नामक प्राकृतिक कुंड में भी लेख है। होशंगाबाद जिले की पचमढ़ी की मढ़ियाँ, बरार के अंतर्गत पातुर की गुफाएँ आदि मध्य प्रदेश में बौद्धधर्म के प्रचुर प्रचार के साक्षी हैं। बरार में तो सुप्रसिद्ध नागार्जुन ने जन्म ग्रहण किया था जिसने बौद्धधर्म के माध्यमिक संप्रदाय की जड़ जमाई थी। वह कुछ दिन रामटेक की एक गुफा में टिका था, जिसके कारण उसका नाम 'नागार्जुन गुफा' पड़ गया है। यह विस्तार अशोक के परिश्रम का

फल समझना चाहिए। अशोक प्रत्येक प्रकार के कष्ट सहने को उद्यत रहता था, वह सम्राट् ही नहीं बरन् भिक्षु भी था। 'धम्मपद' में लिखा है कि कायसंयम, पादसंयम, वाक्संयम से उत्तम संयमी, आत्मदर्शी, समाधिस्थित, एकचारी, संतोषी पुरुष को ही भिक्षुक कहते हैं।

अशोक के समय मौर्य-प्रताप शिखर पर पहुँच गया। उसकी मृत्यु होते ही अवनति ने अपना पाया जमाया। अंत में मौर्यों के ही सेनापति पुष्यमित्र ने धोखा दिया और अंतिम राजा को मारकर वह आप गद्दी पर बैठ गया। इस प्रकार यह प्रदेश सन् ईसवी से १८५ वर्ष पूर्व तक मौर्यों के अधीन रहकर शुंगों के हाथ चला गया।

चतुर्थ अध्याय

विद्रोह-काल

शुंग वंश का प्रथम राजा पुष्यमित्र ही था। लाटायन श्रौत सूत्र में लिखा है कि शुंगाचार्य किसी विश्वामित्र गोत्रवाले ब्राह्मण का नियोगज पुत्र था। उसी के वंशज शुंग कहलाए।

शुंग

मौर्यों से ब्राह्मण खार खाते थे, क्योंकि उन्होंने ब्राह्मण धर्म को हटाकर बौद्ध धर्म का प्रचार कर दिया था। प्रभावशाली मौर्यों के सामने किसी की दाल गल नहीं पाई, परंतु जब अधिकार एक निर्बल राजा बृहद्रथ के हाथ में आया तब ब्राह्मणों ने सेना का अधिपति एक सबल ब्राह्मण को पा उसे उकसाकर अपना अभीष्ट सिद्ध किया। जब वह स्वामिघात करके राजा बन गया तब उसे अपने हिमायतियों को प्रसन्न करने के लिये बौद्धों को तंग करना पड़ा। उसने कई बौद्ध भिक्षुओं को मरवा डाला, विहारों में आग लगवा दी और अनेक प्रकार की पीड़ाएँ पहुँचाईं जिसके कारण बहुत से भिक्षु उसका राज्य छोड़कर अन्यत्र चले गए। पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ रचा और पुनः हिंसामयी पूजा का प्रारंभ कर दिया जिसकी जड़ अशोक ने काट दी थी। पुष्यमित्र ने अपने युवराज अग्निमित्र को भिलसा-निकटस्थ बेसनगर में सूबेदार बनाकर भेज दिया था। इसने

बरार के राजा से लड़ाई ठानी और अपना अधिकार वर्धा नदी तक स्थिर कर लिया। कालिदास ने इसी अग्निमित्र को अपने मालविकाग्निमित्र नाटक का नायक बनाया है। पुष्यमित्र से कलिंग के जैन राजा खारवेल की एक बार ठन गई। जब खारवेल ने हरा दिया तब उसे मथुरा की ओर भागना पड़ा। शुंगों का राज ११२ वर्ष तक चला। पुष्यमित्र के मरने पर उसके वंशजों में शीघ्रता से परिवर्तन होता गया, जिससे जान पड़ता है कि कुछ गड़बड़ अवश्य हुई होगी। निदान इस वंश का अंतिम राजा देवभूति अपने ब्राह्मण मंत्री वासुदेव के हाथ मारा गया। हत्या करने के पश्चात् वह सिंहासन पर बैठ गया परंतु पैंतालीस ही वर्ष के भीतर उसके वंश का नाश हो गया। इस वंश का नाम काण्वायन था। यह प्रकरण सन् ईसवी से २८ वर्ष पूर्व पूरा हो गया।

खारवेल

प्रसंगवश खारवेल का नाम अभी लिया जा चुका है, वह कलिंग देश का राजा था। बता चुके हैं कि अशोक ने बड़ा भारी युद्ध ठानकर कलिंग देश (वर्तमान उड़ीसा) को बड़े परिश्रम से जीता था। अशोक की मृत्यु होते ही वहाँ मौर्यों का अधिकार दूसरों के हाथ चला गया। इन्होंने भी अपने राज्य की सीमा बढ़ाने के लिये कुछ उठा नहीं रखा। इनमें खारवेल बड़ा प्रतापी निकला। उसके समय में भारतवर्ष में कोई ऐसा नगर नहीं था जो उसकी सेना को देखकर या नाम सुनकर काँप न उठता हो। सन् ईसवी के १६० वर्ष पूर्व की बात है। जान पड़ता है, ओ व मूषिकदेश वर्तमान बरार या उसके आसपास के देश थे। बरार में पुष्यमित्र अपना अधिकार जमाए हुए था। कदाचित् इन दोनों में मुठभेड़ हो जाने का एक यह भी कारण हो। वैसे तो खारवेल जैन था, इसलिये पुष्यमित्र खार खाता रहा होगा, क्योंकि जैनों से ब्राह्मणों की कभी पटती ही नहीं थी। खारवेल के उत्तराधिकारियों का इतिहास ज्ञात नहीं है, परंतु जान पड़ता है कि आंध्रभृत्यों के उदय से जैन और शुंग दोनों को हानि पहुँची। रायपुर जिले के आरंग स्थान में एक प्राचीन वंश के राज्य का पता चलता है जिसे राजर्षितुल्यकुल कहते थे।

यदि इसका संबंध खारवेल से रहा हो तो समझना चाहिए कि खारवेल का वंश सैकड़ों वर्ष चला। परंतु गुप्तों के आविर्भाव तक मध्य प्रदेश के दक्षिणीय भाग के राजत्व का पूरा पूरा पता नहीं चलता।

शक जातीय विदेशियों के बहुत से सिक्के मिले हैं, जिनमें एक ओर यावनी भाषा में विरुद और नाम लिखे हैं और दूसरी ओर उसी का अनुवाद संस्कृत में है। यदि ये भारतवर्षीय प्रजा के लिये न बनाए गए होते तो संस्कृत-अनुवाद की कोई आवश्यकता न थी। इस प्रकार का सब से पुराना सिक्का भूमक नामी राजा का है जिसका समय सन् ईसवी की प्रथम शताब्दि का मध्य स्थिर किया गया है। जबलपुर के अंतर्गत भेड़ाघाट में कुछ प्राचीन मूर्तियाँ मिली हैं। उनमें लिखा है कि भूमक की पुत्री ने उनकी स्थापना की थी। इससे अनुमान होता है कि भूमक का राज्य इस ओर रहा होगा। भूमक के पश्चात् नहपाण का पता लगता है जो सन् ९० ईसवी के लगभग राज्य करता था। ये लोग चहराट् कहलाते थे। इन लोगों को तिलंगाने के अंध्रभृत्यों ने सन् १२४ ई० के लगभग हटा दिया। आंध्रों का अधिकार उत्तर की ओर बहुत दिन तक नहीं ठहरा। क्योंकि उज्जैन के राजा महाक्षत्रप रुद्रदामन् ने अपने दामाद आंध्रराजा पुलुमायी से लड़ाई ठानकर चहराटों से पाए हुए देश का बहुत सा भाग छीन लिया। यह प्रायः १५० ईसवी की बात है। इसके ७५ वर्ष पश्चात् आंध्रों का अस्त ही हो गया। रुद्रदामन् भी विदेशी था। इसके पितामह चष्टन ने सन् ई० ८० के लगभग मालवे को अधीन कर उज्जैन में अपनी राजधानी जमाई थी। ये महाक्षत्रप उज्जैन में कई पीढ़ियों तक राज्य करते रहे। इनकी गद्दी पर बैठने की प्रथा विचित्र ही थी। राजा की मृत्यु के पश्चात् उसके भाई अपने वयक्रम के अनुसार गद्दी के अधिकारी होते थे। सब भाइयों के हो चुकने पर बड़े भाई के लड़के को गद्दी मिलती थी। सन् ३०४ ई० तक इन महाक्षत्रपों का सिलसिला बराबर चलता रहा। फिर जान पड़ता है, कुषाणवंशी कनिष्क ने इन लोगों को मालवे से हटाकर अपना अधिकार जमा लिया। कुषाणवंशी भी तुर्की विदेशी थे, परंतु उनमें

कई शिव-उपासक हो गए थे। कनिष्क बौद्ध हो गया था; परंतु उसके पूर्वज वेम कडफाइसेस के सिक्कों में 'महाराजस राजधिराजस सर्व लोग—इस्वरस महिस्वरस हिमकथपिससत्रदत' लिखा मिलता है और उसमें नंदी और त्रिशूल-सहित शिव की मूर्ति भी रहती है। इससे स्पष्ट है कि वह माहेश्वर अर्थात् शिव-उपासक था। कुषाणवंश में कनिष्क ही सब से बड़ा प्रतापी राजा हुआ; परंतु मालवे में इस वंश का राज्य अधिक नहीं ठहरा। चतुर्थ शताब्दी के प्रथम चरण ही में गुप्तवंश का उदय हुआ, जिसने विदेशियों को समूल उखाड़ कर फेंक दिया।

आंध्रभृत्य

आंध्रभृत्य वही हैं जिनको तिलंगे कहते हैं। ये गोदावरी और कृष्णा के बीच की भूमि के निवासी हैं। इनकी राजधानी कृष्णा के तट पर श्रीकाकुलम में थी। जिस प्रकार उत्तर में मौर्य प्रतापी राजा हो गए हैं उसी प्रकार दक्षिण में इन आंध्रों का जोर था। इनके पास एक लाख पैदल सिपाही, दो सहस्र सवार और एक सहस्र हाथियों की सेना थी। ये लोग पहले बिलकुल स्वतंत्र थे, परंतु मौर्यों ने इनको सन् ई० के २५६ वर्ष पूर्व अपने अधीन कर लिया था। किंतु अशोक के पश्चात् दक्षिण के राज्यों से मौर्यों का दबदबा बहुत कुछ उठ गया। आंध्रों ने तो अवसर पाकर अपने राज्य की सीमा नासिक तक बढ़ा ली, जिससे प्रायः नर्मदा के दक्षिण का सारा प्रांत इन द्राविड़ों के हाथ में चला गया। पहले उल्लेख हो चुका है कि आंध्रों ने चहराटों को हटाकर उज्जैन पर भी अपना अधिकार जमा लिया था। इस वंश में गौतमी-पुत्र श्री शातकर्णी बड़ा प्रतापी राजा हुआ। उसी के समय आंध्रराज की विशेष वृद्धि हुई। उसका पुत्र राजा वाशिष्ठीपुत्र श्री पुलुमायी था। यह सन् १३५ ई० में गद्दी पर बैठा। इसका विवाह उज्जैन के क्षत्रप रुद्रदामन् की लड़की से हुआ था, तिस पर भी ससुर ने दामाद से लड़ाई लेने और उसके देश को छीन लेने में कमी नहीं की। यहीं से आंध्रों का अधिकार संकुचित हो चला, जिसकी इतिश्री सन् २२५ ई० में हो गई।
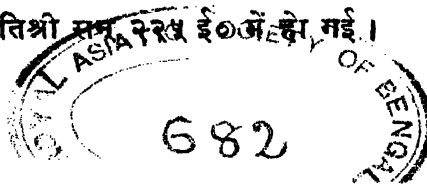
पंचम अध्याय

गुप्त वंश

मगध देश में वैभव-हीन छोटे मोटे राजा रह गए थे। उनमें से एक का विवाह नैपाल के लिच्छवि-वंश में हो गया। इस राजा का नाम चंद्रगुप्त था। लिच्छवि-वंश में संबंध होने के कारण उसका गौरव बहुत बढ़ गया, क्योंकि वह वंश बहुत प्राचीन, प्रतापी और प्रभावशाली था। लिच्छवियों से उसे प्राचीन वैभवशाली राजधानी पाटलिपुत्र प्राप्त हो गई। तब तो चंद्रगुप्त ने अवसर पा अपना महत्त्व इतना बढ़ाया कि शीघ्र ही उसने महाराजाधिराज का विरुद धारण कर लिया और गुप्त नामक संवत्सर का प्रचार सन् ३२० ई० में कर दिया।

चंद्रगुप्त का लड़का समुद्रगुप्त हुआ, जिसने चंद्रगुप्त मौर्य की नाईं अपने राज्य की सीमा तिलंगाने तक फैलाने का उद्योग किया और अनेक राजाओं को परास्त कर उन्हें मांडलिक बना दिया। जब वह दिग्विजय को निकला, तो सागर जिले ही से होकर दक्षिण को गया। जान पड़ता है कि सागर उसे बहुत प्रिय लगा, क्योंकि उसने बीना नदी के किनारे एरन में 'स्वभोग-नगर' रचा। उसके खंडहर अब तक विद्यमान हैं। एरन में एक शिलालेख मिला है। उसी में इस बात का उल्लेख पाया जाता है। यह पत्थर विष्णु के मंदिर में लगवाया गया था। समुद्रगुप्त के दिग्विजय की प्रशस्ति इलाहाबाद की लाट में खुदी है, जिसमें अनेक जातियों और राजाओं के नाम लिखे हैं, जिन्हें जीतकर उसने अपने वश में कर लिया अथवा उनका विध्वंस कर डाला था। उसमें से एक जाति खर्परिक है जो दमोह या उसके आसपास के जिलों में अवश्य रहती रही होगी। उस जिले के बटिहागढ़ नामक स्थान में चौदहवीं शताब्दी का एक शिलालेख मिला है जिसमें खर्पर सेना का उल्लेख है। ये प्राचीन खर्परिक से भिन्न नहीं हो सकते। जान पड़ता है, बड़े लड़ाकू होने के कारण इनको सैनिक बनाकर रखना मुसलमानों तक को अभीष्ट था, इसी कारण महमूद

सुलतान की ओर से इन लोगों की सेना बटिहागढ़ में रहती थी। पीछे से लड़ाई पेशावाली जातियों की जो गति हुई वही इनकी भी हुई। अब इन लोगों की एक अलग जाति खपरिया नाम की हो गई है जो बुंदेलखंड में विशेष पाई जाती है। इस जाति के लोग 'वसुदेवों' की नाईं अब भैंसे-भैसों का व्यापार करते हैं। समुद्रगुप्त ने महाकोशल[१] अर्थात् छत्तीसगढ़ के राजा महेंद्र से लड़ाई ली और उसे हरा दिया। इसी प्रकार महाकांतार के राजा व्याघ्रदेव को भी हराया। यह कदाचित् बस्तर का कोई भाग रहा होगा जहाँ पर इस समय भी बड़ा भारी जंगल है। इलाहाबाद की प्रशस्ति में आटविक (जंगली) राज्यों के जीतने का भी जिक्र है। जान पड़ता है कि बहुत प्राचीन काल से अष्टादश अटवी राज्य अर्थात् अठारह वनराज प्रसिद्ध थे। ये बहुत से वर्त्तमान मध्यभारत के रजवाड़ों में से थे। इनमें से निदान दो परिव्राजक व उच्च कल्प के महाराज गुप्तों के मंडलेश्वर हो गए थे। इन दोनों राजवंशों के कई शिला व ताम्र लेख मिले हैं जिनमें गुप्त-संवत् का उपयोग किया गया है। इनसे पता लगता है कि परिव्राजकों का आदि पुरखा देवाढ्य था।[२] उसका लड़का प्रभंजन और उसका दामोदर हुआ। दामोदर का पुत्र हस्तिन् प्रतापी हुआ। वह ४७५ ई० में विद्यमान था। उसका लड़का संक्षोभ हुआ। इसका एक ताम्रशासन मिला है जिसकी तिथि ५१८ ई० में पड़ती है।

१—जान पड़ता है, इस देश में 'महा' शब्द का विशेष महत्त्व था। देश का नाम महाकोशल, राजा का नाम महेंद्र, सबसे बड़े जंगल का नाम महाकांतार, सबसे बड़ी नदी का नाम महानदी, सबसे बड़े पर्वत का नाम महेंद्रगिरि, सबसे बड़े तालाब का नाम महासमुद्र और सिरपुर के सोमवंशी पांडव राजाओं की राजकीय उपाधि महाशिवगुप्त अथवा महाभवगुप्त। अचिरस्थायी बाहरी विजेताओं का भी अपने नामों में बिना 'महा' जोड़े कदाचित् काम नहीं चलता था। शरभपुरीय राजाओं के नाम भी महाजयराज और महासुदेवराज पाए जाते हैं।

२—देखो नागरीप्रचारिणी पत्रिका वर्ष ४३, पृष्ठ ४०१।

इनके पड़ोसी उच्चकल्प के महाराजा थे जो उचहरा में राज्य करते थे। उच्चकल्प का ही अपभ्रंश उचहरा जान पड़ता है। इनकी वंशावली ओघदेव से आरंभ होती है जिसका विवाह कुमारदेवी से हुआ था। इनका पुत्र कुमारदेव हुआ जिसने जयस्वामिनी से विवाह किया। उनका पुत्र जयस्वामिन् हुआ। इसने रामदेवी से विवाह किया। उसका पुत्र व्याघ्र हुआ जिसने अज्झितादेवी को पटरानी बनाया। इनका पुत्र जयनाथ हुआ जिसके कई ताम्रशासन मिले हैं। इनमें संवत् अंकित हैं। जयनाथ सन् ४२२ ई० में विद्यमान था। उसका लड़का सर्वनाथ हुआ जिसका राज्यकाल ४४१ ई० के लगभग पड़ता है। इसके पश्चात् उसने अश्वमेध यज्ञ किया था, जो पुष्यमित्र के समय से बीच में कभी नहीं हुआ था। मौर्यवंश में चंद्रगुप्त का पोता अशोक और गुप्तवंश में चंद्रगुप्त का लड़का समुद्रगुप्त दोनों समान तेजस्वी निकले। समुद्रगुप्त भारतीय नेपोलियन कहलाता है। यद्यपि कोई कोई उसे सिकंदर की उपमा देते हैं जिससे यह अर्थ निकलता है कि उसकी विजय चिरस्थायी नहीं थी। निदान यह तो मानना पड़ेगा कि दिग्विजय में वह अद्वितीय हो गया, उसी प्रकार धर्मप्रचार में अशोक से बढ़कर दूसरा नहीं निकला। समुद्रगुप्त केवल वीर ही नहीं था; वरन् वह योद्धा, कवि और उच्च श्रेणी का गायक भी था।

समुद्रगुप्त का देहांत ३७५ ई० के लगभग हुआ। तब उसका लड़का द्वितीय चंद्रगुप्त सिंहासन पर बैठा। इसके समय में प्रजा बड़ी सुखी थी। यह चंद्रगुप्त विक्रमादित्य कहलाता था, और कहा जाता है कि भारत के देशी राजाओं में कोई ऐसा नहीं हुआ जिसका शासन इसके शासन से बढ़कर रहा हो। इसकी पुष्टि चीनी-यात्री फाहियान के समान विद्वान् विदेशी भी करते हैं। प्रजावर्ग में अतुलित शांति और समृद्धि थी। इसके शिलालेख भिलसा के पास उदयगिरि और साँची में विद्यमान हैं।

विक्रमादित्य

समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका लड़का कुमारगुप्त राजा हुआ। इसने अपने पितामह के समान अश्वमेध यज्ञ किया, परंतु मध्य एशिया के हूणों ने आक्रमण करना आरंभ किया और गुप्त राज्य को बलहीन कर दिया। कुमारगुप्त के मरते ही स्कंदगुप्त के राज्यकाल में हूणों के लगातार हमले होने लगे। इस प्रवाह को वह रोक न सका। निदान हूण उसके राज्य के भीतर घुस आए। स्कंदगुप्त की मृत्यु के चार ही वर्ष पश्चात् हूणों का राजा तोरमाण (तुरमानशाह) एरन में आ गया। उस समय एरन का प्रांत स्कंदगुप्त के भाई-बंदों के हाथ में बुधगुप्त राजा के अधीन था; परंतु वह स्वयं यहाँ का राजकाज नहीं देखता-भालता था। उसकी ओर से सुरश्मिचंद्र नामक मांडलिक यमुना और नर्मदा-मध्यस्थ प्रांत का शासन करता था। एरन में सुरश्मिचंद्र की ओर से मैत्रायणीय शाखा के ब्राह्मण मातृविष्णु और धन्यविष्णु[१] राज्य चलाते थे। इन्हीं के समय में तोरमाण ने सन् ४८४ ई० में अपना आधिपत्य जमा लिया था। एरन के वराह के वक्षःस्थल में इसका उल्लेख अभी तक विद्यमान है, परंतु हूणों का राज्य इस ओर स्थायी नहीं हुआ। गुप्तों का विध्वंस हूणों ने अवश्य कर डाला; परंतु राज्य किसी और के अधिकार में चला गया।

हूण-आक्रमण

मध्य भारत में यशोधर्म्मन् नाम का एक प्रतापी राजा हुआ, जिसने मगध के राजा से मैत्री करके सन् ५२८ ई० में हूणों को निकाल बाहर किया। यशोधर्म्मन् का आधिपत्य इस प्रदेश में अवश्य ही हो गया होगा, जब उसके इतिहासकार लिखते हैं कि उसका राज्य हिमालय से त्रावणकोर के महेंद्रगिरि तक फैल गया था। यशोधर्म्मन् का राज्य बहुत दिनों तक नहीं चला। छठी शताब्दी ही में उसका अंत हो गया।

यशोधर्मन्

अभी तक हम नर्मदा के उत्तरी ओर के राज्यों का वर्णन करते आए हैं, अब उसके दक्षिण की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक जान पड़ता

१—इन्हीं का एक संबंधी दयितविष्णु बंगाल में जाकर पालवंशीय राजाओं का अधिष्ठाता हो गया।

है। दक्षिण में महाकोशल और विदर्भ दो बड़े देश थे जिनमें प्रतिभाशाली राजवंश हो गए हैं। ये एक दूसरे से लगे हुए थे। पूर्व की ओर महाकोशल का विस्तार था और पश्चिम की ओर विदर्भ था। जान पड़ता है कि इनकी सीमा चाँदा जिले के निकट मिली हुई थी। महाकोशल की प्राचीन राजधानी भद्रावती (वर्त्तमान भाँदक) चाँदा जिले में थी। खारवेल के पूर्व महाकोशल में किसका राज्य था, इसका पता नहीं चलता। अनुमान से मौर्यों का आधिपत्य मान लिया जा सकता है। बौद्धध्वंसावशेष इसकी गवाही भी देते हैं। पहले बता आए हैं कि चौथी शताब्दी में महाराज समुद्रगुप्त ने महाकोशल को जीत लिया था। उस समय वहाँ महेंद्र नाम का राजा था, परंतु उसके उत्तराधिकारी कौन हुए, इसका कुछ भी पता नहीं लगता। रायपुर जिले के आरंग नामक ग्राम में एक राजर्षितुल्य कुल के राजा का ताम्रशासन मिला है। उसकी तिथि सन् ६०१ ईसवी में पड़ती है। उस समय महाराज भीमसेन द्वितीय का राज्य था। उसके पिता का नाम दयितवर्म्मन् द्वितीय, उसके पिता का विभीषण, उसके पिता का दयित प्रथम और उसके पिता का शूर नाम था। कदाचित् ये महेंद्र के वंशज रहे हों। परंतु उदयगिरि के पाली लेख में खारवेल को 'राजर्षिवंशकुलविनि.सृत' लिखा है। यदि राजर्षितुल्यकुल और राजर्षिवंशकुल एक ही हों तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि खारवेल के वंश का राज्य महाकोशल में सातवीं सदी तक स्थिर रहा आया। कलिंग में चाहे उनकी पद्धति उखड़ गई हो परंतु दंडकवन में उनके वंशजों का अधिकार बना रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। राजर्षितुल्य कुलवाले कोई भी रहे हों, उनके ताम्रशासन से यह बात तो सिद्ध है कि महाकोशल के मध्यस्थान रायपुर में सौ वर्ष से अधिक समय तक उनका राज्य बना रहा। यद्यपि भीमसेन को 'महाराज' लिखा है, परंतु इनकी विरुदावली ऐसी नहीं जान पड़ती कि ये स्वतंत्र या चक्रवर्ती राजा रहे हों। कदाचित् ये भद्रावती के बौद्ध राजाओं के मांडलिक रहे हों। जिस समय चीनी यात्री युवानच्वंग

राजर्षितुल्यकुल

महाकोशल की राजधानी में सन् ६३९ ई० में आया था, उस समय वहाँ का राजा क्षत्रिय परंतु बौद्ध-धर्मावलंबी था। ये राजा भद्रावती में कब से राज्य करते थे, इसका कहीं प्रमाण नहीं मिलता; यदि संपूर्ण महाकोशल उनके अधिकार में रहा हो, तो आरंग के राजा अवश्य उनके मांडलिक रहे होंगे। मध्य प्रदेश में बौद्ध-धर्म बहुत दिनों तक बना रहा, परंतु अंत में भद्रावती के बौद्ध राजा शैव हो गए और उन्होंने अपनी प्राचीन राजधानी को स्थानांतरित कर रायपुर जिले में महानदी के किनारे श्रीपुर (वर्तमान सिरपुर) में जमाया। ये अपने को सोमवंशी पांडव कहते थे। इनके वंशजों के नामों के अंत में बहुधा 'गुप्त' शब्द रहने से इतिहासकार इनको 'पिछले गुप्त' कहने लगे हैं; परंतु इनसे और पटना के आदिगुप्तों से कोई संबंध नहीं था।

सोमवंशी पांडव

सोमवंशी पांडवों का पता उदयन तक लगता है, जो प्राचीन राजधानी भाँदक में राज्य करता था। उसका लड़का इंद्रबल, उसका नन्नदेव, उसका महाशिवगुप्त तीव्रदेव, उसका भतीजा हर्षगुप्त और उसका लड़का महाशिवगुप्त बालार्जुन हुआ। किस राजा के समय में श्रीपुर में राजधानी स्थापित की गई इसका कहीं लेख नहीं है; परंतु जान पड़ता है कि तीव्रदेव की राजधानी वहीं पर थी। बालार्जुन के समय तक इस वंश का प्रताप बढ़ता गया और महाकोशल में प्रत्येक प्रकार की वृद्धि होती गई। ताम्रशासनों की भाषा से जान पड़ता है कि इन राजाओं की सभाओं में अत्यंत सुशिक्षित और धुरंधर पंडित रहा करते थे। राज्यशासन की प्रणाली भी अच्छी थी, परंतु जो चढ़ता है वह गिरता है। एक दिन वह आया कि सोमवंशियों को यथानाम तथागुणवाली राजधानी श्रीपुर को छोड़कर, विनीत हो, विनीतपुर का आश्रय लेना पड़ा। शरभपुर-वंशीय उनके स्थानापन्न हुए। इस वंश के दो ही राजाओं का नाम ज्ञात है, अर्थात् महासुदेवराज और महाजयराज। इनके पश्चात् ताम्रशासनों में न वंशावली दी गई है और न कोई विशेष विरुद पाया जाता है। इनकी मोहरों में यह श्लोक पाया जाता है—"प्रसन्नहृदय-

स्यैव विक्रमाक्रांतविद्विष:। श्रीमत्सुदेवराजस्य शासनम् रिपुशासनम्॥" इन्होंने जो गाँव प्रदान किए हैं वे रायपुर और बिलासपुर जिलों के बीचोंबीच पड़ते हैं। ये शासन शरभपुर से लिखे गए थे, जिसका ठीक ठीक पता अभी तक नहीं लगा। किसी किसी के अनुसार यह शरभवरम् है जो गोदावरी के उस पार स्थित है। शरभपुरीय राजा बहुत दिनों तक नहीं टिके। उनके हाथ से राज्य दूसरों के हाथ में बहुत जल्दी चला गया। परंतु वह सोमवंशी पांडवों के अधिकार में लौट कर नहीं गया।

त्रिकलिंगाधिपति

सोमवंशियों की नवीन राजधानी विनीतपुर अब बिनका नाम से प्रसिद्ध है। यह सोनपुर रजवाड़े में महानदी के तट पर, श्रीपुर से सीधी लकीर में जाने से, सौ मील पड़ेगी। नदी द्वारा नाव पर कोई जाय तो १८० मील पड़ेगी। जान पड़ता है कि महाशिवगुप्त बालार्जुन के पश्चात् श्रीपुर विपत्तिग्रस्त हुआ। उसका उत्तराधिकारी महाभवगुप्त उपाधिधारी राजा वहाँ से भागकर विनीतपुर में जा बसा। इसके हाथ में महाकोशल का पूर्वीय भाग फिर भी बच रहा था, जिसके बढ़ाने का उद्योग इसके वंशजों ने अवश्य किया और क्रमश: उड़ीसा और तिलंगाने को जीतकर त्रिकलिंगाधिपति का विरुद धारण कर लिया। जान पड़ता है कि महाभवगुप्त जनमेजय ने पहले पहल यह पदवी धारण की। उसके ताम्रशासनों में उसका पूर्ण विरुद यों पाया जाता है—"परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्री शिवगुप्तदेव पादानुध्यात परममाहेश्वर परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर सोमकुल-तिलक त्रिकलिंगाधिपति श्री महाभवगुप्त राजदेव:।" मनन करने से जान पड़ेगा कि महाभवगुप्त के पिता शिवगुप्त के नाम के आगे न तो 'महा' शब्द है न 'त्रिकलिंगाधिपति'। महाभवगुप्त जनमेजय सिरपुर से निकाले हुए महाभवगुप्त का पोता जान पड़ता है। उसका लड़का शिवगुप्त हीन दशा में उत्पन्न हुआ, तब महा-अहा सब भूल गया; परंतु उसके लड़के ने त्रिकलिंग को जीतकर प्राचीन प्रतिष्ठा पुन: प्राप्त कर ली

और वंशपरंपरा का नाम पूर्ण रूप से पुनः धारण कर लिया। सिरपुर वंश में राजाओं के दो ही नाम चलते थे, अर्थात् महाशिवगुप्त और महाभवगुप्त। बाप यदि शिवगुप्त हुआ तो लड़का भवगुप्त होता था। प्रत्येक के जन्म-नाम व्यक्तिगत होते थे, परंतु गद्दी पर बैठते ही राजकीय नाम धारण करना पड़ता था। इस प्रकार तीवरदेव महाशिवगुप्त के नाम से प्रसिद्ध था। उसका उत्तराधिकारी उसका भतीजा हर्षगुप्त हुआ, जिसका राजकीय नाम महाभवगुप्त रहा होगा। हर्षगुप्त के लड़के का नाम महाशिवगुप्त बालार्जुन लेखों में मिलता है। इसका लड़का महाभवगुप्त रहा होगा; पर उसके कोई ताम्रशासन नहीं मिले। वह बेचारा स्वयं विपत्ति में था, फिर ताम्रशासन-द्वारा दान देने की उसे कहाँ से सूझती! उसके लड़के ने महाशिवगुप्त के बदले अपना नाम केवल शिवगुप्त रखा। इस शिवगुप्त का लड़का जनमेजय हुआ, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। जनमेजय का लड़का महाभवगुप्त ययाति हुआ, जिसने विनीतपुर का नाम बदल कर ययातिनगर कर दिया। उसका लड़का महाभवगुप्त भीमरथ हुआ, जिसके पश्चात् सोमवंशियों का पता नहीं लगता। प्रत्यक्षतः उनका राज्य दूसरों के हाथ में चला गया।

षष्ठ अध्याय

विदर्भ

हम अभी तक मध्य प्रदेश के, विशेषकर उत्तरीय भाग के, राजाओं का वर्णन करते आए हैं। अब नर्मदा के दक्षिण के राजाओं की कुछ चर्चा करने का समय आ गया।

पुराणों में विदर्भ (वर्त्तमान बरार) का बहुत अधिक उल्लेख है। उनमें लिखा है कि यदुवंश में विदर्भ नाम का एक राजा हुआ था जिसके नाम से देश का नाम विदर्भ चलने लगा; यद्यपि जान तो ऐसा पड़ता है कि बरार में दर्भ या कुश की हीनता के कारण देश का नाम

विदर्भ (दर्भविहीन) रखा गया। विदर्भ से लगे हुए प्रांत का नाम, जहाँ कुश की बहुलता थी, कोशल रखा गया था। पौराणिक कथा के अनुसार कोशल का नाम भी रामचंद्र के पुत्र कुश राजा के नाम से रखा बतलाया जाता है। स्मरण रहे कि यहाँ पर जिस कोशल का वर्णन हो रहा है वह उत्तर कोशल अर्थात् अवध नहीं है। वह दक्षिण कोशल या महाकोशल है जिसकी सीमा बरार से लगाकर उड़ीसा तक थी। विदर्भ में यादवों का राज्य बहुत प्राचीन काल से था। पुराणों में सबसे बड़ी वंशावली इन्हीं की मिलती है, परंतु ऐतिहासिक काल में मौर्यों से पूर्व का वृत्तांत अवगत नहीं है। मौर्यकाल के चिह्न भी बरार में बहुत कम हैं, परंतु इसमें बिलकुल संदेह नहीं है कि अशोक का राज्य विदर्भ में था। निजाम के राज्यांतर्गत रायचूर जिले के मस्की नामक ग्राम में अशोक का एक शिलालेख मिला है जो रूपनाथ के लेख से बहुत मिलान खाता है। जान पड़ता है कि विदर्भ में जो राजा पहले राज्य करते थे, उनको अशोक ने निकाला नहीं था। वे उसके मांडलिक हो गए थे, परंतु जब शुंगों ने अपना अधिकार जमाया तब वे फिर स्वतंत्र हो गए। प्रथम शुंगराजा पुष्यमित्र के लड़के अग्निमित्र ने विदर्भ के राजा से लड़ाई ली थी और उसका आधा राज्य उसके चचेरे भाई को दिलवाया था जिनके बीच की सीमा वरदा (वर्त्तमान वर्धा) नदी बनाई गई थी। मालविकाग्निमित्र नाटक में जिस राजा को अग्निमित्र ने हराया उसका नाम यज्ञसेन लिखा है। कदाचित् यह आंध्रवंशीय राजा रहा हो, जिनका परिचय हम दे चुके हैं। कलिंग के जैन राजा खारवेल ने पश्चिम के आंध्रवंशीय राजा ही को हराया था। तभी से जान पड़ता है कि विदर्भ का संबंध आंध्रों से कुछ काल तक टूट गया। बरार जैनियों के अधिकार में कब तक बना रहा इसका ठीक पता नहीं लगता, परंतु वह थोड़े दिनों में वाकाटकों के हाथ चला गया।

अमरावती, छिंदवाड़ा, सिवनी और बालाघाट जिलों में वाकाटक राजाओं के ताम्रशासन मिले हैं। उनमें इस वंश का परिचय यों दिया है—"विष्णुवृद्ध सगोत्रस्य श्रीमद्वाकाटकानां महाराज श्रीप्रवर-

सेनस्य" जिससे जान पड़ता है कि वाकाटक नाम की कोई जाति थी जिसके विष्णुवृद्ध गोत्र के नायक राजा थे। इनका आदिपुरुष

वाकाटक

विंध्यशक्ति था, जिसका पुत्र प्रवरसेन (प्रथम) बड़ा प्रतापी राजा जान पड़ता है। उसने अग्निष्टोम, आप्तोर्याम, उक्थ्य, षोडशिन्, आतिरात्र, वाजपेय, बृहस्पतिसव, साद्यस्क और चार अश्वमेध यज्ञ किए थे। उसका लड़का गोतमीपुत्र था जिसका विवाह भारशिवों के राजा भवनाग की कन्या से हुआ था। इनका पुत्र रुद्रसेन (प्रथम) हुआ, उसका पृथ्वीषेण, उसक रुद्रसेन द्वितीय हुआ, जिसको महाराजाधिराज देवगुप्त की कन्या प्रभावती गुप्ता ब्याही थी। इनका पुत्र प्रवरसेन (द्वितीय) हुआ जिसने अमरावती जिले में चम्मक नामक ग्राम की भूमि एक हजार ब्राह्मणों को दान में बाँट दी थी। चम्मक इलचपुर से चार मील है। ताम्रशासन में लिखा है कि चम्मक भोजकट राज्य में था, जिससे यह भी पता लग जाता है कि इलचपुर का प्रांत पहिले भोजकट कहलाता था। प्रवरसेन द्वितीय का लड़का नरेंद्रसेन हुआ और उसका पृथ्वीषेण द्वितीय। इनके पश्चात् देवसेन और हरिषेण राजा हुए। फिर वंश का लोप हो गया। इन लोगों ने अपना राज्य उत्तर में बुंदेलखंड तक फैला लिया था। दक्षिण में गोदावरी तक, पश्चिम में अजंटा और पूर्व में बालाघाट तक इनका आधिपत्य था। इनकी मुहरों में निम्नलिखित श्लोक खुदा रहता था—"वाकाटकललामस्य क्रमप्राप्तनृपश्रियः। राज्ञः प्रवरसेनस्य शासनं रिपुशासनम्।" जान पड़ता है, इनकी राजधानी प्रवरपुर में थी। इसका पता अभी तक नहीं लगा। यदि प्रवरपुर का अपभ्रंश पवरार या पवनार हो गया हो तो यह स्थान वर्धा शहर से ६ मील पर धाम नदी के किनारे का पौनार हो सकता है। वहाँ कई पुरानी मूर्त्तियाँ भी निकली हैं और दंतकथा के अनुसार प्राचीन काल में वह बहुत प्रसिद्ध रहा है।

जिस समय श्रीपुर के सोमवंशियों का अधःपतन हुआ और शरभपुरीय राजाओं ने अपना अमल स्थिर किया, उस समय जान पड़ता

है महाकोशल का पश्चिमी भाग शैलवंशी राजाओं के हाथ जा पड़ा। इस वंश का एक ही ताम्रशासन बालाघाट जिले में मिला है। उसमें

शैलवंशी

लिखा है कि शैलवंश में सुरावर्द्धन नामक राजा हुआ और उसका लड़का पृथुवर्द्धन हुआ, जिसने गौर्ज्जर देश (गुजरात) को जीत लिया। उसका लड़का सौवर्द्धन हुआ, जिसके तीन औरस पुत्र थे। उनमें से एक ने पौंड्र (बंगाल व बिहार) के राजा को मारकर उसका देश ले लिया। तीसरे लड़के ने काशीश को मारकर काशी अपने स्वाधीन कर ली। उसका लड़का जयवर्द्धन (प्रथम) हुआ, जिसने विंध्या के राजा को मारकर विंध्या ही में अपना निवास स्थापित किया। उसका लड़का श्रीवर्द्धन हुआ और उसका पुत्र "परममाहेश्वर सकलविंध्याधिपति महाराजाधिराज परमेश्वर श्री जयवर्धनदेव" (द्वितीय) हुआ, जिसने बालाघाट का खार्दा (?) नामक ग्राम रधोली के सूर्य-मंदिर को भोगार्थ लगा दिया। यह दान श्रीवर्द्धनपुर राजधानी से प्रदान हुआ था। इस स्थान का पता अभी तक नहीं लगा, परंतु जान पड़ता है कि वह रामटेक के निकट कहीं पर रहा होगा। रामटेक से तीन-चार मील पर नगरधन (प्राचीन नंदिवर्द्धन) नामक ग्राम है। संभव है कि प्रथम विंध्य-नरेश श्रीवर्द्धन ने यहीं पर अपने नाम पर राजधानी स्थापित की हो और उसके पश्चात् किसी नंदिवर्द्धन नामक वंशज ने उसका नाम पलटकर अपने नाम पर राजधानी का नाम चलवा दिया हो। जो हो, इतना तो पक्का है कि बालाघाट और नागपुर की ओर का प्रांत शैलवंशियों के अधीन था। इस वंश के कृत्यों के वर्णन से जान पड़ता है कि वह ऐसा-वैसा वंश नहीं था। उसने बड़े बड़े नरेशों के राज्य छीन लिए थे; परंतु बीस वर्ष पूर्व भारत के इतिहासकारों को उसका नाम तक नहीं ज्ञात था।

अब महाकोशल के पश्चिमी भाग से और थोड़ा पश्चिम को चलकर जब हम विदर्भ पर दृष्टि डालते हैं, तो वाकाटक का नाटक समाप्त और राष्ट्रकूटों का अभिनिवेश दृग्गोचर होता है। ये राठौर

राजपूत थे। इनकी मुख्य राजधानी मान्यखेट (वर्तमान मालखेड़) में थी। मालखेड़ बरार के दक्षिण में निजाम के राज्य में है। जान पड़ता है कि अचलपुर (वर्तमान इलचपुर) में राष्ट्रकूटों का प्रतिनिधि या सूबेदार रहता था और वहाँ से वह बरार, बैतूल, छिंदवाड़ा, वर्धा, चाँदा आदि पर शासन करता था। इन सब स्थानों में उनके लेख मिले हैं। चाँदा जिले के भांदक में जो ताम्रशासन मिला वह प्रथम कृष्ण का है, जिसकी तिथि ७७२ ईसवी में पड़ती है। वर्धा जिले की देवली के लेख का समय ९४० ईसवी है। इस काल के बीच दक्षिण से चालुक्यों और उत्तर से परमारों ने धावे किए, परंतु वे ठहरे नहीं, इसलिये राठौरों का राज्य बहुत दिनों तक बना रहा।

राष्ट्रकूट

सातवीं शताब्दी में थानेश्वर के राजा हर्षवर्धन के वैभव ने संभवतः दक्षिण में नर्मदा तक सारा देश उसके अधिकार में कर दिया। हर्ष बड़ा प्रतापी राजा था। पैदल सिपाहियों के अतिरिक्त उसके पास साठ सहस्र हाथी और एक लाख सवारों की सेना थी। उसने अपने बाहुबल ही से अपना राज्य बढ़ाया और कन्नौज को अपनी राजधानी बनाई। सन् ६०६ ई० में जब वह गद्दी पर बैठा, तब से उसने अपने नाम पर हर्षसंवत् चला दिया। वह अहिंसा का बड़ा पक्षपाती था। उसके समय में किसी भी जंतु के मार डालने या मांस खाने के अपराध में कठोर दंड दिया जाता था। हर्ष अपने विस्तीर्ण राज्य की देखरेख स्वयं दौरा करके किया करता था। उसके समय में बेगार से कराए हुए काम के लिये मजदूरी दी जाती थी।

हर्षवर्द्धन

शिक्षा की ओर उसका विशेष ध्यान था। जान पड़ता है, वह स्वयं बहुत अच्छा कवि और नाटककार था। उसके दरबार में प्रसिद्ध कवि बाण रहा करता था, जिसने अत्यंत क्लिष्ट संस्कृत में 'हर्षचरित' लिखकर अपनी अपूर्व शक्ति का परिचय दिया। हर्ष ने नगरों और देहातों में भी अनेक धर्मशालाएँ बनवा दी थीं, जिनमें एक एक वैद्य भी रहा करता था। जिसको आवश्यकता हो उसको बिना मूल्य ओषधि देना

वैद्य का काम था। सागर हर्ष के राज्य में सम्मिलित रहा होगा, परंतु कदाचित् वैद्यों के सिवा उसके समय के कोई भी चिह्न अब विद्यमान नहीं हैं। सागर जिले में गाँव गाँव नहीं तो मुख्य मुख्य गाँवों में वैद्य मिलेंगे, जो बहुधा धर्मार्थ वैद्यक किया करते हैं। कदाचित् यह प्रथा हर्ष के समय से ही चली हो। हर्ष की मृत्यु सन् ६४६ ई० में हुई। उसके संतान न होने से उसके मरते ही अराजकता-सी फैल गई, और जिससे जहाँ बना वह वहाँ का राजा बन बैठा।

सप्तम अध्याय

कलचुरि

अब नर्मदा के उत्तरीय भाग में पुनः लौटकर हमें देखना चाहिए कि उस ओर हर्ष के बाद क्या हाल हुआ। उस जमाने का दो सौ एक वर्ष का इतिहास बहुत स्पष्ट नहीं है, परंतु जबलपुर की ओर कलचुरियों ने अपना सिलसिला जमाना आरंभ कर दिया था। इनके प्रबल प्रताप ने मध्यप्रदेशांतर्गत राज्य को ही नहीं, वरन् उसके चारों ओर के दूर दूर के राजाओं को अपने अधीन कर लिया था। डाक्टर कीलहार्न के अनुमानानुसार इनकी राजधानी त्रितसौर्य[१] में थी, जिसका कि अभी तक पता नहीं लगा।

प्राचीन राजधानी

१—यह अनुमान रत्नपुर में मिले हुए एक कुछ टूटे शिलालेख पर से किया गया है, जिसमें त्रितसौर्य का नाम दो श्लोकों में आया है। वे ये हैं—

तेषां हैहयभूभुजां समभवद्वंशे स चेदीश्वरः
श्री कोकल्ल इति स्मरप्रतिकृतिर्विश्वप्रमोदो यतः।
येनायं त्रितसौर्य [सैन्यबलमाया] मेन मातुं यशः
स्वीयं प्रेषितमुच्चकैः कियदिति ब्रह्मांडमंतःक्षिति ॥ ४ ॥
प्रापत्तेषु कलिङ्गराजमसमं वंशःक्रमाद्रानुजः
पुत्रं शत्रुकलत्रनेत्रसलिलस्फीतं प्रतापद्रुमम्।

कलचुरियों ने सन् २४८ ईसवी में अपना नया संवत् चलाया था, जो प्राय: एक सहस्र वर्ष तक चलता रहा और जिसका उपयोग अन्य राजा

येनायं त्रितसौर्यकोशमकृशीकर्त्तुं विहायान्वय-
क्षोणीं दक्षिणकोशलो जनपदो बाहुद्वयेनार्ज्जितः ॥ ६ ॥

ऊपर के पहले श्लोक में त्रितसौर्य के पश्चात् के ६ अक्षर टूट गए हैं और जो कोष्ठक के भीतर दिए गए हैं, वे केवल मैंने अनुमान से भर दिए हैं। यह निश्चित नहीं है कि मूलश्लोक में उस स्थल पर कौन से अक्षर थे। डाक्टर कील-हार्न ने पहले श्लोक का अर्थ यों किया है—"इन हैहय राजाओं के वंश में श्री कोकल्ल नामक चेदि का शासक हुआ, जो कामदेव की मूर्त्ति ही था, जिसमे विश्व को प्रमोद मिलता था और जिसके द्वारा पृथ्वी पर होकर अपने निज यश को नापने के लिये, कि वह कितना होगा, यह त्रितसौर्य (का रहनेवाला) ब्रह्माण्ड में ऊँचा भेजा गया।" मैं श्लोक के उत्तरार्द्ध का जो अर्थ लगाता हूँ, वह यह है—"जिसने त्रितसौर्य की सेना को उसकी विपुलता-द्वारा अपने निजी यश को स्पष्ट रूप से नापने के लिये, कि ब्रह्माण्ड के बीच और पृथ्वी पर कितना है, भेजा (अर्थात् त्रितसौर्य के विपुल सैन्य को हराकर चारों ओर अपना यश फैला दिया)। वेदों में चेदि और तृत्सुजातियों का नाम आया है। तृत्सु लोगों का राजा दिवो-दास बड़ा पराक्रमी था। उसने तुर्वसु, द्रुह्यु और संबर को मारा और गंगु और नहुष-वंशियों को हराया। इसका पुत्र सुदास हुआ। वैदिक युद्धों में इसका युद्ध सबसे बड़ा समझा जाता है। इसके विपक्षी अनेक राजाओं ने मिलकर इसे हराना चाहा, परंतु उनका प्रयास निष्फल हुआ और वे सब पराजित होकर अपना सा मुँह लेकर रह गए। विजयी तृत्सुजाति के लोगों को हराना उस समय जगत् में यश की सीमा समझी जाती रही होगी। इसी बात की उपमा इस श्लोक में दी हुई जान पड़ती है और त्रितसौर्य का अर्थ तृत्सुजातीय जान पड़ता है, न कि किसी स्थान का नाम। किंतु दूसरे श्लोक में कहा है कि कोकल्लदेव का वंशज कलिंगराज त्रितसौर्य का कोश क्षीण न करने के अभिप्राय से अपने बान्धवों की सेना को छोड़ दक्षिणकोशल को चला गया। इससे पुनः अनुमान के लिये जगह मिल जाती है कि त्रितसौर्य हैहयों की राजधानी थी, जहाँ के कोश को कम न करने के हेतु राजा के भाई-बंधु अन्यत्र चले गए।

भी करते रहे। इसी से प्रकट हो जायगा कि ये लोग कितने प्रभावशाली नृपति थे। कलचुरि, हैहयों की एक शाखा है, जिनका वर्णन पुराणों में बहुत आता है। ताम्रलेख आदि में कलचुरियों का सबसे प्राचीन उल्लेख सन् ५८० ई० में मिलता है, जब कि बुद्धराज राजा था। उस समय जबलपुर की ओर गुप्तों के मांडलिक परिव्राजक महाराजाओं का अमल था। इससे स्पष्ट है कि बुद्धराज ने मध्य प्रदेश में कभी राज्य नहीं किया। इस प्रदेश में कलचुरियों के आधिपत्य का समय प्रायः ८७५ ई० से जान पड़ता है, परंतु विजयराघोगढ़ के निकट उचहरा में इनके मांडलिक रहते थे, जो उच्चकल्प के महाराजा कहलाते थे। इनके कई लेख जबलपुर जिले में मिले हैं, जिनकी तिथियाँ सन् ४७५ और ५५४ ई० के बोचोंबीच पड़ती हैं। इससे यही अनुमान किया जा सकता है कि उचहरा राज्य के आसपास ही कहीं कलचुरियों की पुरानी राजधानी रही होगी। यह प्रांत वर्तमान बघेलखंड में पड़ता है। रीवाँ

मेरी समझ में इस अर्थ से तो हैहयों की दरिद्रता दरसेगी, न कि प्रशंसा। मेरी समझ में फिर भी त्रितसौर्य शत्रु जाति का बोधक है। कलिंगराज 'क्षोणी' को छोड़कर चले गए, जिससे शत्रुओं का खर्च कम हो गया। उनके रहने से लड़ाई जारी रहती, जिससे त्रितसौर्य जाति का कोश क्षीण होता जाता। इससे उनकी महानुभावता प्रकट होती है। चेदिवंश बड़ा उदार-चरित्र था। ऋग्वेद के आठवें मंडल में एक उदाहरण भी लिखा है कि चेद-पुत्र कसु ने एक कवि को १०० भैंसें और दस हजार गायें दी थीं। वैदिक काल में यह अवश्यमेव बड़ा भारी दान समझा जाता रहा होगा और करोड़पतियों के होते भी इस जमाने में भी न्यून नहीं है। मिश्रबंधुओं ने तृत्सु लोगों को सूर्यवंशी माना है। हैहय अपने को सदैव चंद्रवंशी कहते आए हैं। क्या त्रितसौर्य-चर्चा में चंद्रवंशियों की, महाप्रतापी सूर्यवंशियों की हीनता दिखलाकर, स्तुति तो नहीं छिपी है? जो हो, इस लंबी टिप्पणी के लिखने का अभिप्राय यह है कि कदाचित् विज्ञ पाठकों की नजर में पड़ने से कोई महानुभाव इस जटिल समस्या की पूर्ति कर दें, क्योंकि मुझे न तो डा० कीलहार्न के श्लोकार्थ से संतोष है और न अपने ही लगाए अर्थ से।

से चार मील पर, रायपुर नामक ग्राम में, कलचुरि क्षत्रियों की अब भी बहुलता है। उनके प्राचीन नाम का अपभ्रंश होकर अब करचुलिया हो गया है।

प्राचीन राजधानी से उठकर कलचुरियों ने जबलपुर के निकट ६ मील पर त्रिपुरी नगरी में अड्डा जमाया। वहाँ त्रिपुरेश्वर महादेव अब भी विद्यमान हैं। त्रिपुरी का नाम त्रिपुरेश्वर के नाम से पड़ा या त्रिपुरेश्वर त्रिपुरी या त्रिपुरनगर के महादेव होने से कहलाए, इसके निर्णय के लिये सामग्री नहीं है; परंतु त्रिपुरी कलचुरियों के आगमन के पूर्व ही से प्रख्यात थी। इसका प्रमाण वहाँ के प्राचीन सिक्कों से मिलता है। ये सिक्के सन् ईसवी से ३०० वर्ष पूर्व के हैं। इनमें नर्मदा नदी का चिह्न बना है। नर्मदा त्रिपुरी के पार्श्व ही में है। त्रिपुरी का वर्तमान नाम तेवर है। यहाँ पर अनुपम कारीगरी के प्राचीन ध्वंसावशेष अब भी विद्यमान हैं, यद्यपि सड़क के ठेकेदारों ने गत सौ वर्ष के भीतर लाखों मन पत्थर सुंदर हर्म्यों और प्रासादों से निकाल लिए और इमारतों का नाश कर दिया है। वहाँ के गढ़े-गढ़ाए पत्थरों के ढोने के लिये ट्रामवे लगाई गई थी और पत्थर मिट्टी के मोल खरीदे गए थे, तिस पर भी वहाँ के मालगुजार को प्रायः पौन लाख रुपया इसी अनर्थ से मिल गया था। इससे सरलता से अनुमान किया जा सकता है कि वहाँ पत्थर का कितना बहुत सा काम था, जो तोड़-फोड़कर सड़कों और पुलों में लगा दिया गया। मिरजापुर की सड़क के पुलों में अधफूटी मूर्त्तियाँ इसकी साक्षी देती हैं। जो थोड़ी-बहुत मूर्तियाँ बच गई हैं, उनसे कलचुरि-शिल्प की उत्तमता स्पष्ट दीख पड़ती है।

त्रिपुरी

त्रिपुरी के राजाओं की सिलसिलेवार वंशावली कोकल्लदेव से आरंभ होती है। उसका विवाह चंदेलों में हुआ था और उसने अपनी कन्या दक्षिण के राठौर राजा द्वितीय कृष्ण को ब्याही थी। कोकल्ल ने इस राजा को सिंहासन प्राप्त करने में बड़ी सहायता की थी, क्योंकि अन्य रिश्तेदारों ने गद्दी के

आदिराजा

लिये झगड़ा किया था। इसी तरह उसने गुजरात के राजा भोज, चित्रकूट के चंदेल राजा हर्षदेव और नैपाल की तराई के शंकरगण की रक्षा की थी। इससे स्वयं सिद्ध है कि कोकल्ल बड़ा भारी राजा था। कोकल्ल के १८ पुत्र थे। जेठे का नाम मुग्धतुंग प्रसिद्धधवल था। वह त्रिपुरी के सिंहासन पर सन् ६०० ई० के लगभग बैठा और उसके भाई अनेक मंडलों के मांडलिक बना दिए गए। कुछ भाइयों ने बिलासपुर जिले की ओर मंडल पाए। उनमें से एक लाफा जमींदारी के अंतर्गत तुम्माण में जाकर जम गया। यह स्थान स्वाभाविक किला-सा है, क्योंकि यह चारों ओर से ऊँचे पहाड़ों से घिरा हुआ है, केवल उपरोरा की ओर से भीतर जाने का मार्ग है। प्राचीन काल में राजा लोग इस प्रकार के सुरक्षित स्थानों को अपना निवासस्थान बनाते थे। अठारह लड़कों में से दो ही ऐसे निकले, जिन्होंने अपने वंश की कीर्ति का प्रसार चारों ओर कर दिया। तुम्माण की शाखा महाकोशल और त्रिकलिंग को अपने स्वाधीन करने में दत्तचित्त हुई और त्रिपुरी की मूलगद्दी ने अपना विस्तार उत्तर में नैपाल, पूर्व में बंगाल, पश्चिम में गुजरात और दक्षिण में करणाटक-निकटस्थ कुंतल देश तक कर दिखाया। मुग्धतुंग ने कोशल के राजा से लड़ाई ली थी और उससे पूर्व समुद्र की ओर की प्रधान पुरी पाली छीन ली थी। (विजित्य पूर्वाम्बुधिकूलपाली: पालीस्समादाय च कोसलेंद्रात् । निरन्तरोद्भासितवैरिधामा धामाधिक: खड्गपतिर्य आसीत् ।)

मुग्धतुंग के दो लड़के थे—बालहर्ष और केयूरवर्ष युवराजदेव। ये दोनों भाई एक के पीछे एक गद्दी पर बैठे। युवराजदेव ने चालुक्य राजा अवनिवर्मन् की कन्या नोहलादेवी से विवाह किया। इस राजा ने गोलकी मठ नामक शैव मठ के महंत सद्भाव शंभु को अपने डाहल देश से ३ लाख गाँवों की जागीर दी थी। उस समय यमुना और नर्मदा के मध्यस्थ डाहल देश में ६ लाख ग्राम थे। गोलकी मठ का अर्थ गोमठ ही होता है। डाहल देश में भेड़ाघाट के सिवाय दूसरा कोई स्थान नहीं दिखता

गोलकी मठ

जहाँ पर इतना बड़ा मठ रहा हो। ऐसे मठ की स्थापना भी राजधानी के निकट ही सोची गई होगी। भेड़ाघाट त्रिपुरी से ६ मील नर्मदा के किनारे पर है, जहाँ पर चौंसठ योगिनियों का प्राचीन मंदिर अभी तक विद्यमान है। गोलकी मठ के आचार्य पाशुपतपंथी शैव थे, जिनके मत से योगिनियों का विशेष संबंध है। इसलिये यह बात सिद्ध सी जान पड़ती है कि गोलकी मठ भेड़ाघाट ही का चौंसठ योगिनियों का मंदिर है। भारतवर्ष में इस प्रकार के मठ पाँच-सात से अधिक नहीं हैं, उनमें से बहुतेरे मध्य प्रदेश के अंतर्गत या उसके आसपास ही पाए जाते हैं। बुंदेलखंड में खजुराहो का चौंसठ योगिनी का मंदिर प्रसिद्ध था। वह अब बिलकुल टूट फूट गया है और योगिनियों की मूर्तियाँ भी उठ गई हैं। खजुराहो में किंवदंती है कि वहाँ की योगिनियाँ अप्रसन्न होकर नर्मदा-किनारे भेड़ाघाट को चली गईं। इसका कुछ अर्थ हो सकता है तो यही कि खजुराहो का मंदिर प्राचीन था। उसके पश्चात् भेड़ाघाट में उससे बढ़कर मठ बनाया गया, जिससे खजुराहो के मंदिर की कीर्ति लुप्त हो गई। परंतु खजुराहो-निवासी, जिनका स्थान अनुपम मंदिरों से परिपूर्ण था, यह सहन नहीं कर सके कि भेड़ाघाट का मंदिर उनके योगिनी-मंदिर से बढ़िया कहा जाय। इसलिये उन्होंने भेड़ाघाटवालों को चोरी लगा दी, परंतु 'ऊँट की चोरी छिपे छिपे' नहीं होती। उनको यह समझाना कठिन हो गया कि इतनी वजनदार चीजें सैकड़ों मीलों पर कैसे पहुँची होंगी। तब कह दिया कि मूर्तियाँ ही हमसे अप्रसन्न होकर चल दीं और नर्मदा के किनारे उन्होंने अपना निवास स्थिर कर लिया। इसमें कलचुरियों की कुछ करतूत नहीं। खजुराहो चंदेलों की राजधानी थी। कलचुरियों और चंदेलों के बीच हिरस थी, इसलिये वे एक दूसरे से जलते थे। भेड़ाघाट के मठ में एक विशेषता यह है कि वह बिलकुल गोलाकार बना है; खजुराहो और अन्यत्र के मठ चतुष्कोण हैं। कदाचित् गोलाकार होने के कारण से ही नर्मदा-तटस्थ मठ का नाम गोलकी मठ रख लिया गया हो।

केयूरवर्ष युवराजदेव का समय ९२५ ईसवी के लगभग पड़ता है। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका लड़का लक्ष्मणराज ९५० ईसवी के लगभग सिंहासन पर बैठा। उसने पश्चिम में समुद्र-पर्यंत धावा किया और लाट अर्थात् गुजरात के राजा को हरा दिया, फिर समुद्र में स्नान कर सोमनाथ के महादेव की पूजा की। कन्नौज में गुर्जर राजा के स्थान में उसने अपने एक लड़के को गद्दी पर बिठा दिया जो कोशलाधीश कहलाने लगा। उसने बंगाल के पाल राजाओं को भी पराजित किया और कश्मीर के वीरों से कुन्नस करवाई। उसने अपनी लड़की बोंठादेवी दक्षिण के चालुक्यों को दी थी जिनका लड़का महाप्रतापी तैलप हुआ। उसने अपने वंश के गिरे हुए राज्य का पुनरुत्थान किया। लक्ष्मणराज के दो लड़के थे, शंकरगण और युवराजदेव (द्वितीय)। ये एक के पीछे एक गद्दी पर बैठे। इनसे कुछ नहीं बन पड़ा, विजय करने के बदले उलटे हार खा बैठे। द्वितीय युवराजदेव के समय में मालवा के राजा वाक्पति मुंज ने त्रिपुरी पर चढ़ाई की और उसे हरा दिया। इसी मुंज ने युवराजदेव के भानजे तैलप को १६ बार हराया, परंतु सत्रहवीं बार तैलप ने उसका सिर काट लिया। तैलप बड़ा लड़ाका था। उसने अपने मामा युवराजदेव पर भी चढ़ाई की और उसे हरा दिया। द्वितीय युवराज देव का पुत्र द्वितीय कोकल्ल हुआ। वह सन् १००० ईसवी के लगभग सिंहासन पर बैठा, परंतु उसने भी कुछ पराक्रम नहीं दिखलाया। हाँ, इतना अवश्य किया कि उसने ऐसे सुपूत को जन्म दिया जिसने चेदि के राज्य को शिखर पर पहुँचा दिया।

चढ़ाव उतार

प्रथम सुपुत्र गांगेयदेव था जिसने १०१९ ईसवी के भीतर भीतर नैपाल और तिरहुत तक अपना आतंक बैठा दिया। उसने दक्षिण में करणाटक-निकटस्थ कुंतल देश पर आक्रमण किया और वहाँ के राजा को हरा दिया। वह बेचारा सुध-बुध-हीन बिखरे केश भागा जाता था, परंतु गांगेय की राजोचित

गांगेयदेव

दया से 'अकुन्तलः कुन्तलतां बभार'[१] अर्थात् कुंतल-देश-विहीन ने कुंतल-स्वामित्व पुनः धारण किया। क्योंकि गांगेयदेव ने उसका देश लौटा दिया। ऐसे ही विक्रमों के कारण इस राजा का नाम विक्रमादित्य पड़ गया। परंतु यह न समझ लेना चाहिए कि उसकी कभी हार नहीं हुई। ऐसे पराक्रमी पुरुषों के कोई भी कृत्य हों, वे सब उपखान बन जाते हैं। एक बार गांगेयदेव ने तिलंगाने के राजा को साथ लेकर धार के भोज पर चढ़ाई की, परंतु हार गया। तब तो धार के निवासियों के घमंड की सीमा न रही। वे कहने लगे "कहाँ राजा भोज और कहाँ गांगेय तैलंगण'। अब इस कहावत का अपभ्रंश होकर "कहाँ राजा भोज कहाँ गांगू तेलन" हो गया है। अरब-निवासी संस्कृतज्ञ यात्री अलबेरूनी ने अपनी पुस्तक में इस राजा की बड़ी प्रशंसा लिखी है। जिस समय वह यहाँ आया था उस समय डाहल देश का राज्य गांगेय के ही हाथ में था। त्रिपुरी के राजाओं के जो सोने-चाँदी के सिक्के मिले हैं वे इसी राजा के हैं, अन्य के अभी तक प्राप्त नहीं हुए। गांगेयदेव अपने राज्यांतर्गत प्रयाग में अक्षयवट के पास बहुधा रहा करता था। अंत में उसने अपनी १०० स्त्रियों के साथ वहीं पर मुक्ति पाई। उसकी मृत्यु सन् १०४१ ईसवी में हुई। त्रिपुरी भारत के ठीक मध्य में है। गांगेयदेव ने अपने अतुलित प्रताप से उसे भारत-साम्राज्य का केंद्र बना दिया। उसके समकालीन चंदेल राजा विजयपाल के एक लेख में "जितविश्वः...गांगेयदेवः" लिखा है, अर्थात् वह गांगेयदेव जिसने विश्व को जीत लिया था।

कर्णदेव

गांगेयदेव ने कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार वंश की बिलकुल जड़ उखाड़ दी थी और वहाँ का शासन अपने युवराज कर्णदेव के अधीन कर दिया था। जब कर्ण सिंहासन पर बैठा तब उसने अपने बाप से भी अधिक ऐसा प्रताप दिखलाया कि कन्याकुमारी-निकटस्थ प्रांत के पांड्य राजा अपनी चंडिमता भूल

१—अन्यार्थ केशविहीन ने केशमयत्व धारण किया। (विरोधाभास)

गए, मालाबार के मुरलों का घमंड विलीन हो गया, कोयंबटूर के कुंग सीधी चाल चलने लगे, बंग (बंगाल) और कलिंग (उड़ीसा) के लोग काँप उठे, काँगड़े के कीरों की, सुग्गे की नाईं अपने पिंजरे के भीतर से, बाहर आने की हिम्मत न पड़ी और पंजाब के हूणों का प्रहर्ष लुप्त हो गया। उसने चंदेलों पर चढ़ाई कर उन्हें राज्य-च्युत कर दिया। मालवा पर आक्रमण कर भोज से राजभोग छीन लिया और कन्नौज का राज बिलकुल अपने करतल-गत कर लिया। उसने मगध पर दो बार धावा किया, उनमें से एक का वर्णन तिब्बती भाषा की पुस्तकों में भी पाया जाता है। दक्षिण के चोल, पांड्य और केरल देश उसके धावे से नहीं बचे; परंतु वहाँ उसने स्थायी रूप से राज्य नहीं जमाया। ऐसे ही उसने तिलंगाने पर चढ़ाई कर त्रिकलिंगाधिपति का विरुद धारण कर लिया परंतु सोमवंशियों को बिलकुल निकाल नहीं दिया।

'रासमाला' में लिखा है कि १३६ भूपति कर्ण डहरिया की सेवा करते थे। परंतु "सब दिन होत न एक समान।" जिन जिन को कर्ण ने निकाला था उनके हृदय की दाह कैसे कम हो सकती थी। उन्होंने भीतर ही भीतर उसको नीचा दिखाने का उद्योग किया। चंदेल राजा कीर्तिवर्मन् ने सेना इकट्ठी कर अंत में लड़ाई ठानी और 'विश्वविजयी' कर्ण को हरा दिया। उस जीत के उपलक्ष्य में 'प्रबोध-चंद्रोदय' नाटक रचवाया गया जिसमें कर्ण की हार और चंदेल सेनापति गोपाल द्वारा कीर्त्तिवर्मन् की राज्य-प्राप्ति दिखलाई गई। इसी प्रकार मालवा के राजा उदयादित्य ने भी लड़ाई करके अपना राज्य-बंधन मुक्त कर लिया। कदाचित् इन्हीं बातों से निराश हो कर्ण ने अपनी गद्दी खाली कर दी हो, क्योंकि उसने अपने जीते जी अपने पुत्र यशःकर्णदेव का महाभिषेक करवा के उसे सिंहासन पर बिठा दिया। कर्ण स्वयं सिंहासन पर प्रायः पच्चीस वर्ष रहा परंतु उसने अपने साम्राज्य की वह उन्नति कर दिखाई जैसी उसके वंश में आगे पीछे किसी ने कभी न कर पाई। इसके एक पूर्वज की उपाधि चेदिचंद्र थी। तब तो कर्ण को चेदिपूर्णचंद्र कहना चाहिए। परंतु इसी वीर के साथ कलचुरि-शुक्लपक्ष

समाप्त हुआ और उसकी मृत्यु के पश्चात् कृष्णपक्ष का आरंभ हुआ। कर्ण ने त्रिपुरी से लगी हुई कर्णवती नगरी बसाई, जिसकी शोभा अकथनीय थी। परंतु अब वह स्थान बेल का जंगल हो गया है जिससे उसका नाम भी करनबेल पड़ गया है। काशी में उसने एक विशाल मंदिर बनवाया था जो कर्णमेरु कहलाता था। अब उसका पता नहीं।

कर्ण ने आवल्लादेवी नामक हूण-कुमारी से विवाह किया था। उसी से यशःकर्णदेव उत्पन्न हुआ था। बाप ने इसको छोटी ही अवस्था में गद्दी पर बिठा दिया, इसलिये इसका राज्य-काल लंबा हो गया। गद्दी पर आते ही इसने तिलंगाने के राजा को, जो फिर प्रबल हो गया था, बड़ी वीरता से पछाड़ और उसका धन लूटकर उसी के प्रसिद्ध भीमेश्वर महादेव को चढ़ा दिया। यह मंदिर गोदावरी के उत्तर में १४ मील द्राक्षारामम गाँव में है। इस बात का जिक्र यशःकर्ण के सन् १०७१ ई० के ताम्रशासन में है, जिससे स्पष्ट जान पड़ता है कि यशःकर्ण ने अल्प वय ही में इसका संपादन किया था। उत्तर में उसने बिहार के चंपारण्य को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया था। ऊपर वर्णन कर आए हैं कि कलचुरियों के प्रायः सभी पड़ोसी उनके वैरी हो गए थे। जब उनका दाँव आया तो वे क्योंकर चूकनेवाले थे। सन् १०८३ ई० के पूर्व ही परमार राजा लक्ष्मणदेव ने त्रिपुरी ही पर चढ़ाई कर दी। उसकी प्रशस्ति में लिखा है कि उसने रेवा (नर्मदा) के किनारे मोरचा जमाया और कलचुरियों के योद्धाओं का विनाश कर दिया। लक्ष्मणदेव दक्षिण को बढ़ता गया, परंतु बस्तर में चोल राजा प्रथम कुलोत्तुंग से मुठभेड़ हो गई। लक्ष्मण हार गया और अपना सा मुँह लेकर लौट आया। त्रिपुरी का ह्रास देखकर तुम्माण घराने के निज बांधव भी, जो अभी तक मूल गद्दी का मान करते आते थे, स्वतंत्र हो गए। इसी जमाने में कन्नौज का राज्य भी निकल गया। इस प्रकार त्रिपुरी का बल संकुचित हो चला।

यशःकर्णदेव

यशःकर्णदेव के पश्चात् उसका लड़का गयाकर्णदेव राजा हुआ। उसके गद्दी पर बैठने की तिथि तो ज्ञात नहीं है; परंतु ताम्र-लेखों से स्पष्ट

है कि वह सन् ११५० ईसवी में अवश्य राज्य करता था। उसका देहांत सन् ११५५ के पूर्व हो गया, क्योंकि उस सन् का ताम्रशासन उसकी विधवा रानी-द्वारा दिया गया पाया जाता है। जान पड़ता है, गयाकर्ण के समय में चेदि-राज का बहुत सा भाग हाथ से निकल गया। गयाकर्ण ने मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा विजयसिंह की लड़की से विवाह किया था। उसके दो पुत्र नरसिंहदेव और जयसिंहदेव हुए, जो एक के पश्चात् एक गद्दी पर बैठे। नरसिंहदेव के राज्यकाल के शिलालेख ११५५ ई० से ११५९ तक के मिले हैं और जयसिंह के ११७५ व ११७७ के मिले हैं। जय-सिंह का पुत्र विजयसिंह सन् ११८० के लगभग उत्तराधिकारी हुआ। हाल ही में रीवाँ में एक लेख मिला है, जिसकी तिथि सन् ११९२ ई० में पड़ती है। तब विजयसिंह ही का राज्य था। ऐसे ही सन् ११९५ ई० के एक और लेख में उसका जिक्र आता है, और उसमें उसका विरुद परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर परममाहेश्वर त्रिकलिं-गाधिपति दर्ज है। विजयसिंह का लड़का अजयसिंह हुआ, परंतु उसके राजत्व-काल का कोई लेख अभी तक नहीं मिला। विजयसिंह के समय तक टोंस नदी के दक्षिण का भाग कलचुरियों के अधीन था। परंतु रीवाँ के सन् १२४० ई० के चंदेल ताम्रशासन से जान पड़ता है कि वह भाग उस संवत् के पूर्व चंदेलों के अधिकार में चला गया था। कब और कैसे गया, यह अभी तक तिमिरावृत है। इस प्रकार त्रिपुरी के कलचुरि-कृष्णपक्ष की अमावस्या पूर्ण अंधकार-युक्त समाप्त हो गई। तिस पर भी मध्य प्रदेश के एक कोने में कलचुरिवंश का अंश बना ही रहा। बता चुके हैं कि तुम्माण के मांडलिक त्रिपुरी-परिवार ही के थे। ये कालांतर में स्वतंत्र हो गए थे। इनका सिलसिला उन्नीसवीं सदी तक चला, इसलिये इनका अलग वर्णन किया जायगा। इसके पूर्व हम त्रिपुरी के प्रभावशाली नरेशों की शासन-पद्धति और धर्म का कुछ दिग्दर्शन यहाँ पर करा देना चाहते हैं।

त्रिपुरी के अंतिम राजा

कलचुरियों के समय में शासन-प्रणाली उच्च श्रेणी की थी। यद्यपि उनके राज्य का अब इतना विस्मरण हो गया है कि स्थानीय लोग उनका नाम तक नहीं जानते, तथापि वे जो अनेक शिला व ताम्र लेख छोड़ गए हैं उनसे उनकी शासन-पद्धति का कुछ कुछ पता लगता है। यथा, यशःकर्ण के एक दान-पत्र में निम्नलिखित उल्लेख है—

कलचुरिशासन-पद्धति

स च परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्रीवामदेवपादानुध्यात परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर परममाहेश्वर त्रिकलिंगाधिपति निजभुजोपार्जिताश्वगजपतिनरपतिराजत्रयाधिपति श्रीमद्यशःकर्णदेवः। श्री महादेवी, महाराजपुत्रः, महामन्त्री, महामात्यः, महासामन्तः, महापुरोहितः, महाप्रतीहारः महाक्षपटलिकः, महाप्रमात्रः, महाश्वसाधनिकः, महाभाण्डागारिकः, महाध्यक्षः, एतानन्यांश्च प्रदास्यमानग्रामनिवासिजनपदाश्चाहूय यथार्हं सम्मानयति बोधयति समाज्ञापयति विदितमेतदस्तु भवतां यथा संवत् ८२३ फाल्गुनमासि शुक्लपक्षे चतुर्दश्यां रवौ संक्रान्तौ वासुदेवोद्देशे देवग्रामपत्तलायां देउलापंचेलग्रामः ससीमापर्यन्तः चतुराघाटविशुद्धः सजलस्थलः साम्रमधूकः सगर्त्तोषरः सनिर्गमप्रवेशः सलवणाकरः सगोप्रचारः सजाङ्गलानूपः वृक्षारामोद्भेदोद्यानतृणादिसहितः कान्वसगोत्राय आप्लवन जामदग्नि त्रिप्रवराय बह्वृचशाखिने सीआपौत्राय छीतपईपुत्राय गङ्गाधरशर्मणे ब्राह्मणाय मातापित्रोरात्मनश्च पुण्ययशोभिवृद्धये ग्रामोयमस्माभिः शासनत्वेन सप्रदत्तः।

इससे स्पष्ट ज्ञात होगा कि प्राचीन काल में दान मुख्य मुख्य राज्याधिकारियों के सामने दिया जाता था, ताकि वह भूल या भ्रांति से फिर कभी छीना न जाय। ऊपर उद्धृत लेख से प्रकट है कि दान देते समय राजा, रानी और युवराज के अतिरिक्त राजसभा के मुख्य दस अधिकारी, तथा जो गाँव दिया गया उसके निवासी, उपस्थित थे। अधिकारियों के नामों से ही ज्ञात होता है कि निदान राजशासन के नव या दस विभाग (महकमे) थे, जिनके अलग अलग अध्यक्ष थे। महाराजपुत्र के पश्चात् महामंत्री का नाम आता है, जो अवश्य अन्य सब विभागों

का स्वामी रहा करता था, जैसा कि अब भी होता है। उसके बाद महामात्य का दर्जा रहता था, जिसको राजा की कौंसिल का मुखिया समझना चाहिए। इसी प्रकार सेना का स्वामी महासामंत, धर्म का महापुरोहित, राजमहल का महाप्रतीहार, लेख-विभाग का महाक्षपटलिक, व्यवहार-पद्धति का महाप्रमात्र, घोड़ों और सवारों का महाश्व-साधनिक, खजाने का महाभांडागारिक और अन्य विभागों का देख-रेख करनेवाला महाध्यक्ष रहता था। किस विभाग में कौन कौन सी बातें सम्मिलित थीं इसका ब्यौरा तो प्राप्य नहीं है परंतु दान की शर्तों ही से प्रकट होता है कि कितनी बारीकी के साथ कार्रवाई हुआ करती थी। ऊपर वर्णित दानपत्र की शर्तों से पता लगता है कि गाँवों के चारों ओर सीमा बनी रहती थी। किसी किसी लेख से जान पड़ता है कि जहाँ स्वाभाविक सीमा नहीं रहती थी वहाँ खाई खोदकर बना ली जाती थी। इतनी बारीकी इस शिक्षित काल में भी नहीं की जाती। जल, स्थल, आम, महुआ, गड्ढे, खान, नमकवाली भूमि, गोचर, जंगल, कछार, बाग-बगीचे, लता, घास, बीड़ों (घास के मैदान) इत्यादि का ही लेख नहीं है, वरन् गाँव में आने जाने के रास्तों का अधिकार भी लिख दिया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि माल और स्वत्व का सूक्ष्म रीति से विचार किया जाता था। हर एक विभाग में अलग अलग लेखक (मुहर्रिर) रहते थे, जैसे धर्मविभाग का लेखक धर्मलेखी कहलाता था। कार्रवाई शीघ्रता के साथ होती थी, क्योंकि कई दानपत्रों से पता लगता है कि संकल्प करने के थोड़े ही दिन पश्चात् ताम्रशासन दे दिए जाते थे। अब जितनी देर कागज पर नकल करके देने में लगती है उतनी कदाचित् ताम्रपत्रों पर शासन खुदाकर देने में न लगती थी।

कलचुरि शैव थे और धर्म पर उनकी बड़ी श्रद्धा थी। पीछे वर्णन कर आए हैं कि उन्होंने ३ लाख ग्रामों की जागीर एक मठ को दे दी थी। उनकी धर्मशालाओं में ब्राह्मण और चांडाल सभी को समदृष्टि से दान दिया जाता था। उनके विचार उच्च कोटि के थे।

कलचुरि-धर्म

पाषाणशिवसंस्कारात् भुक्तिमुक्तिप्रदो भवेत् ।
पाषाणशिवतां याति शूद्रस्तु न कथं भवेत् ॥
[संस्कार तें पत्थरहु, भुक्ति-मुक्ति-प्रद होय ।
पत्थर जो शिव होय तौ, शूद्र क्यों न शिव होय ॥]

मठों के अधिकारी पाशुपत-संप्रदाय के शैव रहते थे। यह संप्रदाय दक्षिण के द्राविड़ ब्राह्मणों में बहुत प्रचलित था। वहाँ भी अनेक मठ स्थापित किए गए थे, जो गोलकी मठ से संबंध रखते थे। इस पंथ के प्रचारक दुर्वासा मुनि समझे जाते हैं। गोलकी मठ के प्रथम महंत सद्भावशंभु हुए थे। वे कालामुख शाखा को पालते थे। कालामुख शैव निम्नलिखित छः मुक्तिमार्ग मानते हैं—(१) खोपड़े में भोजन करना, (२) शरीर में शव की राख लेपन करना, (३) राख खाना, (४) दंड धरना, (५) मदिरा का प्याला पास रखना और (६) योनिस्थित देव का पूजन करना।

कलचुरियों ने इन्हीं आचार्य[१] को ३ लाख गाँव अर्पण किए थे। यद्यपि गाँव व्यक्तिगत अतिसृष्ट किए गए थे, तथापि सद्भावशंभु ने इस भारी जायदाद को अपने पास नहीं रखा; सब मठ को सौंप दी। इसी मठ के एक महंत सोमशंभु हुए, जिन्होंने 'सोमशंभुपद्धति' नाम का ग्रंथ लिखा। उनके पश्चात् वामशंभु हुए। उनके सहस्रों चेले थे, जिनके आशीर्वाद के लिये नृपतिगण भी बड़ी अभिलाषा रखते थे। महंत की गद्दी के लिये बड़े योग्य पुरुष चुने जाते थे। एक महंत विमलशिव मद्रास के अंतर्गत केरल देश में पैदा हुए थे। उनके शिष्य धर्मशिव हुए। उनके शिष्य विश्वेश्वर शंभु बड़े ओजस्वी हुए। ये बंगाल के अंतर्गत राढ़ में पैदा हुए थे और बड़े नामी वेदज्ञ थे। इन्होंने निजाम-राज्य के अंतर्गत वारंगल देश के काकतीय राजा गणपति को दीक्षा दी थी और चोल, मालवीय तथा कलचुरि राजाओं को भी शिष्य बना लिया था। गण-

१—तस्मै निस्पृहचेतसे कलचुरिक्ष्मापालचूडामणिः,
ग्रामाणां युवराजदेवनृपतिः भिक्षां त्रिलक्षं ददौ ॥

पति राजा तो इनको पिता कहते थे और इनके आदेशानुसार गौड़ अर्थात् बंगाल के अनेक शैव साधुओं और अनगिनती कवियों को पुरस्कार दिया करते थे।

विश्वेश्वरशंभु स्वयं उदारचरित्र थे। उन्होंने सब जातियों के लोगों को सदावर्त मिलने का ही प्रबंध नहीं किया था, वरन् अस्पताल, धात्रीगृह और महाविद्यालय भी स्थापित किए थे। संगीत और नृत्य-कला को भी वे उत्तेजन देते थे। यहाँ तक कि बहुत से गवैए काश्मीर से बुलाकर रखे थे। ग्राम-प्रबंध के लिये वीरभद्र और वीरमुष्टि इत्यादि नियुक्त किए थे। निस्संदेह विश्वेश्वरशंभु ने तत्कालीन प्रणाली के अनुसार त्रिलक्षग्रामीय जायदाद का प्रबंध किया होगा। विश्वेश्वरशंभु सन् १२५० ई० के लगभग विद्यमान थे। वह कलचुरियों की अवनति का समय था। यही कारण है कि विश्वेश्वर स्वामी काकतीयों के यहाँ जाकर रहे।

यद्यपि कलचुरि कट्टर शैव थे, तथापि उन्होंने दूसरों के धर्म में कभी हस्तक्षेप नहीं किया। तेवर के निकट गोपालपुर नामक ग्राम में अवलोकितेश्वर और तारा की मूर्त्तियाँ मिली हैं, जिनमें बौद्धधर्म का बीजमंत्र खुदा हुआ है। यदि कलचुरि उदारचित्त के न होते तो बौद्धों का, जिनको शैवों ने ही भारत से निकाला था, ठहरना कठिन हो जाता।

कलचुरियों के शिल्प का कुछ वर्णन हम पीछे कर चुके हैं। उन्होंने अनेक विशाल मंदिर, धर्मशालाएँ, अध्ययनशालाएँ, मठ इत्यादि

शिल्प और साहित्य

अपने राज्य के अनेक स्थानों में स्वयं या प्रजावर्ग द्वारा बनवाए थे, जिनकी कारीगरी एक प्रकार की विशेष छटा दिखलाती है। पुरातत्त्व-विभाग के एक मर्मज्ञ ने उसका नाम ही कलचुरि-शिल्प रख दिया है। कलचुरि-मंदिर आदि के दरवाजों पर बहुधा गजलक्ष्मी या शिव की मूर्त्ति पाई जाती है। गजलक्ष्मी उस वंश की कुलदेवी थी और कुल उनका शिव-उपासक था। इसी कारण प्रत्येक राजा अपने विरुद में 'परममाहेश्वर' शब्द का उपयोग करता था। इस वंश के ताम्र-शासन सदैव 'ओं नमः शिवाय' से आरंभ होते हैं। कलचुरिये साहित्य-प्रेमी भी बड़े थे।

कई विद्वानों का मत है कि इन्हीं की राजसभा में धुरंधर कवि राजशेखर रहते थे। कलचुरियों की बिलहरी की प्रशस्ति में राजशेखर के विषय में यों उल्लेख किया गया है—

"सुश्लिष्टबंधघटनाविस्मितकविराजशेखरस्तुत्या।
आस्तामियमाकल्पं कृतिश्च कीर्तिश्च पूर्वा च॥"

अर्थात्, इस प्रशस्ति की रचना को देखकर कवि राजशेखर विस्मित हो गए थे और उन्होंने उसकी बड़ी प्रशंसा की थी। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि राजशेखर कोई बड़े प्रतिभाशाली कवि थे। शोध से पता लगा है कि राजशेखर ने कविकुल में जन्म लिया था और अपना विवाह-संबंध भी एक ऐसी स्त्री से किया था जो कवि थी। इनकी स्त्री चौहानिन थी और काव्य-रहस्य अच्छी तरह जानती थी। स्वयं राजशेखर ने अपने अप्रतिम 'काव्यमीमांसा' ग्रंथ में कम से कम तीन बार अवंतिसुंदरी के मत का हवाला दिया है। अपने 'कर्पूरमंजरी' नाटक में उन्होंने अपनी पत्नी का परिचय यों दिया है—

"चाहुआणकुलमौलिमालिमा राजसेहरइन्दगेहिणी।
भत्तुणो किहमवन्तिसुन्दरी सा पउज्जइऽमेजमिच्छइ॥"

राजशेखर अपने पुरखों को महाराष्ट्र-कुल-चूड़ामणि लिखते हैं। उनके विवाह-संबंध से स्पष्ट है कि वे क्षत्रिय थे। बिलहरी के प्रशस्ति-लेखक कुछ कम दर्जे के कवि नहीं थे; परंतु जब राजशेखर ने उनके प्रबंध का अनुमोदन कर दिया, तब तो वे फूले नहीं समाए और उन्होंने अपने लेख में इस बात का समावेश कर दिया। इस प्रदेश में स्वयं राजशेखर-कृत कोई प्रशस्ति उपलब्ध नहीं हुई; परंतु उनके चेलों ही की कृति हम लोगों के विनोद के लिये बस है। हजार वर्ष पुरानी कविता का एक नमूना लीजिए—

वाचामुज्ज्वलमापि नास्ति यदि मे तर्क्यस्त्यमानोन्नते-
रस्मादेव महीयसः शशभृतो वंशात्स सम्पत्स्यते।
यद्वा पश्य निसर्गकालिमभुवोऽप्याशोभदानच्छटाः
क्षीरोदन्वति किन्न संगतिभृतस्तच्छायतां बिभ्रति॥

अर्थात् "यद्यपि मेरे उज्ज्वल वाणी नहीं है, तथापि इसमें संदेह नहीं कि उसकी चमक इस चंद्रवंश से आ जायगी, जिसकी मैं प्रशस्ति लिखता हूँ। क्या नैसर्गिक कालिमा की जगह भी दिग्गजों के मद की धाराओं से मिलते ही समुद्र की फेन के समान चमकने नहीं लगती है ?" यह प्रशस्ति रानी नोहलादेवी ने अपने बनवाए हुए शिवमंदिर में लगवाई थी। एक दूसरी रानी अल्हणदेवी ने सन् ११११ ईसवी में भेड़ाघाट में दान किया था और एक प्रशस्ति लिखवाई थी। उसके रचयिता थे पं० शशिधर। आप काव्य में अद्भुत निपुण और तर्कशास्त्र के विशेष विद्वान् थे। आपने अपने संबंधियों का भी कुछ जिक्र कर दिया है—आपके भाई का नाम पृथ्वीधर था, जो समस्त गंभीर शास्त्रार्णवपारगामी थे। इनकी कौन कहे, इनके शिष्यगणों ने दिग्विजय कर डाला था। आपके पिता का नाम धरणीधर था, जिन्होंने अपने नाम, गरिमा, यश और श्री से 'धरणीधर' शब्द को सार्थक कर दिया था। आप कोमल कांति-स्नेह के भार से भरे हुए दीर्घ मनोज्ञ दशा से पूर्ण मानो त्रिभुवन के दीपक थे। प्रेमपूर्ण कवि-द्वारा अपने पिता की यह प्रशंसा क्षंतव्य है। शशिधर जबलपुरी पंडित मालूम होते हैं। तब तो ये अवश्य त्रिपुरी अर्थात् तेवर में रहते रहे होंगे; नहीं तो ये अपने पुरखों का मूल स्थान बिना बताए न रहते।

शशिधर की कविता शशि-सी सुहावनी और गूढ़ थी। आप तार्किक थे ही, इसलिये आपकी कविता का अनेक तर्कनाओं से भरी हुई होना कोई अचरज की बात नहीं। शशिधरजी ने भेड़ाघाट-प्रशस्ति में, आरंभ में, शशिशेखर की वंदना श्लोकों में की है। पहले श्लोक में शशिधर रूप में महादेवजी का आशीर्वाद दिलाया गया है, दूसरे में गंगाधर रूप से, तीसरे में अष्टांग से और चौथे में नीलकंठ रूप से। नमूने के लिये हम यहाँ पर दूसरा और चौथा श्लोक उद्धृत करते हैं।

दूसरा श्लोक यों है—

किं माला: कुमुदस्य किं शशिकला किं धर्म्म्यैकर्मांकुरा:
किंवा कंचुकिकंचुका: किमथवा भूत्युद्गमा भान्त्यमी।

इ (?) न्माकि वितर्क्किता: शिवशिर:संचारिनाकापगा
रिङ्गद्वल्गुतरङ्गभङ्गिततय: पुण्यप्रभा: पान्तु व: ॥

वे पुण्य के फुहारे, वे शिव के सिर में आकाश-गंगा की टेढ़ी-मेढ़ी बहती व कूदती तरंगें तुम्हारी रक्षा करें जिनको देखकर स्वर्ग के देव-गंधर्व मन में तर्कना करते हैं कि ये कमल की मालाएँ तो नहीं हैं अथवा ये चंद्र की कलाएँ, पुण्य कर्म के अंकुर, साँप की केंचुल या ईश्वरीय प्रभा का आविर्भाव हैं।

चौथा श्लोक अनुष्टुप् है—

शक्तिहेतिपरप्रीतिहेतुश्चंद्रकचर्चित: ।
ताण्डवाडम्बर: कुर्य्यान्नीलकण्ठ: प्रियाणि (?) ॥

वह नीलकंठ, जो बरछी-भालाधारियों को आनंद से भर देता है और बालचंद्र से चर्चित हो तांडव-नृत्य में मग्न रहता है, तुमको जो प्रिय होवे सो देवे।

यह श्लोक श्लेषात्मक है और नाचते हुए मोर को भी लग सकता है। मोर भी नीलकंठ कहलाता है, वह शशिधर अर्थात् कार्त्तिकेय के आनंद का हेतु है और उसकी पूँछ चंद्रक-चर्चित रहती है अर्थात् उसमें चंद्रमा के समान काले चिह्न रहते हैं।

बस, इतने ही नमूनों से प्रकट हो जायगा कि कलचुरि-काल के विद्वान् किस श्रेणी के थे। कलचुरि विद्वानों के आश्रयदाता थे और यथोचित उत्तेजना देकर उनका उत्साह बढ़ाया करते थे। गोलकी मठ की व्यवस्था ही से ज्ञात हो जायगा कि उस समय सभ्य समाज का ध्यान किन किन बातों पर विशेष रूप से था।

अष्टम अध्याय

रत्नपुर के हैहय

पीछे कह आए हैं कि त्रिपुरी की एक शाखा छत्तीसगढ़ में जा बसी। बिलासपुर जिले में प्राय: गोलाकार एक पर्वतश्रेणी है जिसके

भीतर लगभग तीस गाँव बसे हैं। मुख्य ग्राम तुमान है जिसके कारण पर्वत से घिरे हुए समूचे स्थल का नाम तुमान-खोल रख लिया गया है। शिलालेखों में इस ग्राम या पुर का नाम तुम्माण लिखा हुआ पाया जाता है। त्रिपुरी के एक मंडलेश्वर ने जब से इसे अपना निवासस्थान बनाया तभी से इसकी ख्याति हुई। यह मंडलेश्वर त्रिपुरी के राजा कोकल्लदेव के १८ पुत्रों में से था। इस कोकल्ल का समय ८७५ ई० स्थिर किया गया है। कोई सवा सौ वर्ष तक कोकल्ल के बनाए हुए मंडलेश्वर का वंश तुम्माण में चलता रहा। उसके पश्चात् जान पड़ता है कि वह निर्मूल हो गया और किसी दूसरे ने उस पर अधिकार कर लिया। तब त्रिपुरी के राजा का एक और लड़का कलिंगराज नामक भेजा गया जिसने केवल उस मंडल ही की ठीक व्यवस्था नहीं की, वरन 'दक्षिणकोशलो जनपदो बाहुद्रुयेन अर्ज्जितः' अपने बाहुबल से दक्षिण कोशल का जनपद जीत लिया। "राजधानी स तुम्माणः पूर्वजैः कृत इत्यतः। तत्रस्थोऽरिक्षयं कुर्व्वन् वर्धयामास स श्रियम्।" तुम्माण में जाकर उसने अपने शत्रुओं का क्षय करके अपने पूर्वजों की राजधानी को अपना निवासस्थान बनाया और उसके वैभव की वृद्धि की। 'तत्रस्थ अरि' कौन थे, इसका उल्लेख किसी भी शिलालेख में नहीं पाया जाता। संभव है कि ये कवर जाति के स्थानीय जमींदार रहे हों जिन्होंने मौका पाकर अपना सिलसिला जमा लिया हो। दंतकथा के अनुसार इस ओर के जंगलों में घुग्घुस नामक कोई सरदार रहता था जिसने राजपूतों से दस वर्ष तक लड़ाई ली। कदाचित् यही या उसका कोई पूर्वज रहा हो जिसने तुम्माण पर अपना अधिकार जमाया हो और जिसको कलिंगराज ने निकाल बाहर किया हो। कलिंगराज को 'जनपद' प्राप्त करने की प्रतिष्ठा दी गई है। इससे जान पड़ता है कि उसकी किसी जंगली ही से मुठभेड़ हुई जिसमें वह विजयी हुआ। अगले राजाओं के चरित्रों से जान पड़ेगा कि कलिंगराज ने समस्त दक्षिण कोशल के जनपद को नहीं जीत डाला था, केवल दक्षिण कोशल के एक जनपद का अर्जन किया था और तुमान-

खोल अब भी "जनपद" है। कलिंगराज प्रथम कोकल्ल की सातवीं पीढ़ी में पैदा हुआ था और तत्कालीन त्रिपुरी के राजा की सेना में, तुम्माण जाने के पहले, अधिकारी था। इससे स्पष्ट है कि वह असाधारण योद्धा रहा होगा। उसको जंगली शत्रुओं को भगाने में कोई विशेष कठिनाई न पड़ी होगी। जब उसने एक बार शत्रुओं को पराजित कर दिया तब वह शांतिपूर्वक अपनी राजधानी की वृद्धि करने लगा। उसके पश्चात् उसका लड़का कमलराज तुम्माण की गद्दी पर बैठा। इसके विषय में कोई विशेषता लिखी हुई नहीं पाई जाती। परंतु इसका पुत्र रत्नराज या रत्नेश हुआ। उसने तुम्माण में अनेक आम्रवन, पुष्पोद्यान आदि लगवाकर और वंकेशादि अनेक देवताओं के मंदिर बनवाकर उसकी विशेष आभा बढ़ाई। परंतु इतने ही से उसे संतोष नहीं हुआ। उसने वहाँ से ४५ मील चलकर एक नवीन राजधानी स्थापित की जिसका नाम उसने रत्नपुर रखा। इस नवीन नगर में तुम्माण से कहीं बढ़कर नानावर्ण-विचित्र रत्नखचित नानादेव-कुलभूषित शिव-मंदिर बनवाए जिसकी प्रशंसा चारों दिशाओं में फैल गई। उसको कुबेरपुर की उपमा दी जाने लगी और उसका महत्त्व इतना बढ़ गया कि वह चतुर्युगी पुरी कहलाने लगी। स्थानीय लोगों का पूरा विश्वास है कि रत्नपुर चारों युगों में विद्यमान था। सत्ययुग में उसका नाम मणिपुर था, त्रेता में माणिकपुर, द्वापर में हीरापुर और कलियुग में वह रत्नपुर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। महाभारत की एक कथा का स्थान भी यहीं बताया जाता है जहाँ राजा मयूरध्वज राज्य करता था। उस राजा की प्रगाढ़ भक्ति की परीक्षा भी इसी स्थान में की गई बताई जाती है। और उसकी पुष्टि में घुड़बँधा और कृष्णार्जुनी (कन्हारजुनी) तालाबों का प्रमाण दिया जाता है। कहते हैं, घुड़बँधा तालाब वह स्थान है जहाँ युधिष्ठिर का अश्वमेध यज्ञ के लिये छोड़ा हुआ घोड़ा मयूरध्वज के पुत्र द्वारा, उसके रक्षक अर्जुन को हराकर, बाँधा गया था और दूसरे तालाब का नाम कृष्ण और अर्जुन के ब्राह्मण बनकर मयूरध्वज की भक्ति-परीक्षा के लिये उनके रत्नपुर में आगमन का स्मारक बतलाया जाता है। कहते हैं,

रत्नपुर में १,४०० तालाब थे। अब भी प्राय: ३०० विद्यमान हैं। इनमें से कुछ तालाब घोड़ों के नहलाने-धुलाने के काम में आते रहे होंगे। जिस तालाब के पास राजा के घोड़े बाँधे जाते रहे होंगे, उसका घुड़बँधा तालाब नाम पड़ जाना कोई विस्मय की बात नहीं है। इसी प्रकार पौराणिक नाम रखा देने से कोई तालाब, उसके नाम-संबंधी कथा का समसामयिक नहीं हो सकता। अनेक स्थलों में सैकड़ों रामसागर, सीताकुंड, लछमनसागर सौ दो सौ बरस के बने हुए मिलेंगे परंतु वे राम, सीता और लक्ष्मण के उन स्थानों में विचरण करने के स्मारक नहीं समझे जा सकते। किंतु रत्नपुर की इस महिमा से इतना तो अवश्य सिद्ध होता है कि महाकोशल में रत्नराज के जमाने में और कदाचित् उसके पश्चात् कई पीढ़ियों तक रत्नपुर की समता का दूसरा शहर नहीं रहा। तिस पर भी रत्नेश ने तुम्माण को तिलांजलि नहीं दे दी। उसने ही नहीं वरन् उसके उत्तराधिकारियों ने पुरखों की राजधानी से अपना संबंध स्थिर रखा और जब उसे छोड़ भी दिया तब भी वे अपने लेखों में तुम्माण को प्रधानता देते ही रहे। तुम्माण का नाम चार शिलालेखों में मिलता है; रत्नपुर का केवल दो लेखों में पाया जाता है। सो भी इनमें से एक में दोनों के नाम लिखे हैं।

रत्नपुर के राजा

रत्नराज ने कोमो के मंडलेश्वर वज्जूक की पुत्री नोनल्ला के साथ विवाह किया। उनका पुत्र पृथ्वीदेव हुआ। उसने एक पृथ्वीदेवेश्वर नामक मंदिर तुम्माण में बनवाया और रत्नपुर में एक तालाब खुदवाया। उसके समय में भी कोई उल्लेखनीय बात नहीं हुई। परंतु जान पड़ता है कि राज्य का विस्तार थोड़ा-बहुत बढ़ता गया। विशेष जलजला पृथ्वीदेव के पुत्र प्रथम जाजल्लदेव के समय में हुआ। उसने आदि-घराना त्रिपुरी से संबंध तो नहीं तोड़ा परंतु वास्तव में वह स्वतंत्र हो गया और कान्यकुब्ज तथा जझौती (बुंदेलखंड) के राजाओं से मित्रता कर उसने अपना मान बढ़ा लिया (कान्यकुब्जमहीपेन जेजाभुक्तिकभूभुजा। शूर इति प्रता-

पित्वादर्हितो मित्रवत्श्रिया)। उस समय ये दोनों राजा बड़े प्रतापी थे। उनसे मित्रभाव का व्यवहार रखना कुछ ऐसी-वैसी बात नहीं थी। अपनी राजधानी के दक्षिण की ओर का प्राय: समस्त इलाका, जो महाकोशल के भीतर पड़ता था और जो उसके परे भी था उसको भी उसने जीतकर अपने अधीन कर लिया और पश्चिम की ओर बाला-घाट और चाँदा तक अपना दौर-दौरा जमा लिया। इस प्रकार वह गंजाम जिले की आंध्र खिमिड़ी, चाँदा जिले के वैरागढ़, बालाघाट की लाँजी और भंडारा, तलहारी, दंडकपुर, नंदावली, कुक्कुट इत्यादि के मंडलेश्वरों से कर लेने लगा। जाजल्लदेव ने महाकोशल के अनेक भागों को जगपालदेव की सहायता से अपने अधीन कर लिया। यह जगपाल, मिरज़ापुर के दक्षिण में, बड़हर का रहनेवाला था और जाति का राजमाल था। उसके पूर्वजों ने भट्टविल (बघेलखंड का भाग), डाँडोर (सरगुजा) और कोमोमंडल (पेंडरा जमींदारी) को सर कर लिया था। जगपाल ने राठ, तेरम और तमनाल को, जो रायगढ़ के उत्तर में थे, जीत लिया। उसके डर के मारे मयूरभंज के लोग और साँवता जंगलों में जा छिपे। जगपाल ने दुरुग, सिहावा, कांकेर और बिंद्रानवागढ़ के दक्षिण में कांदाडोंगर तक हैहयों के अधीन कर दिया और बस्तर के राजा को भी हरा दिया। यह वीर एक नहीं, तीन राजाओं के काल में हैहय-राज्य की वृद्धि करता गया, जिससे हैहयों का आतंक चारों ओर बैठ गया और उत्तर-दक्षिण अमरकंटक से गोदा-वरी तक तथा पश्चिम-पूर्व बरार से उड़ीसा तक उनकी दुहाई फिरने लगी। यह सब कार्य कोई ५० वर्ष के भीतर ही पूरा कर लिया गया।

इस काल में जो तीन राजा हो गए वे थे—प्रथम जाजल्लदेव, उसका पुत्र द्वितीय रत्नदेव और पोता द्वितीय पृथ्वीदेव। द्वितीय रत्नदेव कलिंगदेश के राजा चोड गंग को पराजित किया। इस प्रकार उसने 'त्रिकलिंगाधिपति' कहलाने की नींव तो जमा ली, परंतु मूल घराना त्रिपुरी के विरुद को नहीं अपनाया। यह पदवी उस घराने में सन् ११७७ ईसवी तक स्थिर रही आई, यद्यपि मूल गद्दी उस समय इतनी

हीन हो गई थी कि त्रिकलिंग की कौन कहे त्रिपुरी ही की रक्षा करने की सामर्थ्य उसमें न रह गई थी।

राज्य बढ़ा देने से उसके प्रबंध का भार विजेताओं के उत्तराधिकारियों पर पड़ा। उन्होंने प्रचलित प्रथा में बहुत हेर-फेर नहीं किया। परंतु "समूहानां तु यो धर्मस्तेन धर्मेण ते सदा। प्रकुर्युः सर्वकार्याणि स्वधर्मेषु व्यवस्थिताः॥" इसलिये वे कई पीढ़ियों तक लड़ाई के धूम-धड़क्के से बचे रहे और शांति के साथ भीतरी प्रबंध करते रहे। द्वितीय पृथ्वीदेव का पुत्र द्वितीय जाजल्लदेव, उसका तृतीय रत्नदेव और उसका तृतीय पृथ्वीदेव हुआ। इन सबों के समय के शिलालेख मिले हैं जिनमें कोई विशेषता नहीं पाई जाती। तृतीय पृथ्वीदेव का समय बारहवीं शताब्दी के अंत में पड़ता है, पश्चात् कोई ऐसे प्रामाणिक लेख अवगत नहीं हुए जिनसे पिछले राजाओं का ठीक पता लग जाय, केवल राजाओं की निम्नलिखित नामावली पाई जाती है।

भानुसिंह	शासनकाल लगभग		१२०० ईसवी	
नरसिंहदेव	,,	,,	१२२१	,,
भूसिंहदेव	,,	,,	१२५१	,,
प्रतापसिंहदेव	,,	,,	१२७६	,,
जयसिंहदेव	,,	,,	१३१९	,,
धर्मसिंहदेव	,,	,,	१३४७	,,
जगन्नाथसिंहदेव	,,	,,	१३६९	,,
वीरसिंहदेव	,,	,,	१४०७	,,
कमलदेव	,,	,,	१४२६	,,
शंकरसहाय	,,	,,	१४३६	,,
मोहनसहाय	,,	,,	१४५४	,,
दादूसहाय	,,	,,	१४७२	,,
पुरुषोत्तमसहाय	,,	,,	१४९७	,,
बाहरसहाय या बाहरेंद्र	,,	,,	१५१९	,,
कल्याणसहाय	,,	,,	१५४६	,,

लक्ष्मणसहाय	शासनकाल	लगभग	१५८३ ईसवी
शंकरसहाय	,,	,,	१५९१ ,,
कुमुद या मुकुंदसहाय	,,	,,	१६०६ ,,
त्रिभुवनसहाय	,,	,,	१६१७ ,,
अदितिसहाय	,,	,,	१६४५ ,,
रणजीतसहाय	,,	,,	१६५९ ,,
तखतसिंह	,,	,,	१६८५ ,,
राजसिंहदेव	,,	,,	१६९९ ,,
सरदारसिंह	,,	,,	१७२० ,,
रघुनाथसिंह	,,	,,	१७३२ ,,

जिस प्रकार प्रबंध के लिये त्रिपुरी की एक शाखा तुम्माण में बैठाई गई थी उसी प्रकार तुम्माण की शाखा प्रौढ़ होने पर उसकी एक डाल खलारी में जमाई गई। रायपुर जिले में खलारी एक प्राचीन गाँव है। वहाँ और अन्यत्र शिलालेख मिले हैं जिनसे प्रकट होता है कि चौदहवीं शताब्दी के मध्य में रतनपुर के राजा का नातेदार लक्ष्मीदेव प्रतिनिधि-स्वरूप खलारी भेजा गया। उसका लड़का सिंहण हुआ जिसने शत्रु के १८ गढ़ जीत लिए। जान पड़ता है कि सिंहण रतनपुर के राजा से बिगड़कर स्वतंत्र हो गया था। उसने अपनी राजधानी रायपुर में स्थापित की। उसका लड़का रामचंद्र और उसका ब्रह्मदेव हुआ। खलारी और रायपुर के शिलालेख ब्रह्मदेव के समय के हैं। उनकी तिथि १४०२ व १४१४ ईसवी है। परंतु रायपुरी शाखा की जो नामावली पाई जाती है उसमें न ब्रह्मदेव का नाम मिलता है, न उसके पुरखों का और न रतनपुरी-सूची ही में लक्ष्मीदेव का नाम पाया जाता है। तथापि उन दोनों सूचियों में जो पिछली दो-चार पीढ़ियों के नाम हैं वे ऐतिहासिक हैं और मुसलमानी तवारीखों में भी पाए जाते हैं। इसलिये जब तक अधिकतर प्रामाणिक नामावलियाँ प्राप्त न हों तब तक वर्तमान वंशावली का संशोधन नहीं किया जा सकता। रायपुर की वंशावली केशवदेव से आरंभ होती है जिसका

रायपुरी शाखा

समय १४१० ईसवी लिखा पाया जाता है परंतु १४०२ और १४१४ के बीच में ब्रह्मदेव का राज्य था। यदि केशवदेव का समय १४२० मान लिया जाय तो अलबत्ता कोई बाधा नहीं आती। वह सूची इस प्रकार है—

केशवदास	शासनकाल	लगभग	१४२०	ईसवी
भुवनेश्वरदेव	,,	,,	१४३८	,,
मानसिंहदेव	,,	,,	१४६३	,,
संतोषसिंहदेव	,,	,,	१४७८	,,
सूरतसिंहदेव	,,	,,	१४९८	,,
सं.........	,,	,,	१५१८	,,
चामंडासिंहदेव	,,	,,	१५२८	,,
वंशीसिंहदेव	,,	,,	१५६३	,,
धनसिंहदेव	,,	,,	१५८२	,,
जैतसिंहदेव	,,	,,	१६०३	,,
फतेसिंहदेव	,,	,,	१६१५	,,
यादवदेव	,,	,,	१६३३	,,
सोमदत्तदेव	,,	,,	१६५०	,,
बलदेवसिंहदेव	,,	,,	१६६३	,,
उमेदसिंहदेव	,,	,,	१६८५	,,
बनवीरसिंहदेव	,,	,,	१७०५	,,
अमरसिंहदेव	,,	,,	१७४१	,,

अमरसिंहदेव कलचुरियों का अंतिम राजा था जिसको भोसलों ने निकाल बाहर किया। यही हाल उन्होंने रतनपुर की गद्दी के राजा रघुनाथसिंह का किया। अमरसिंह का दिया हुआ ताम्रपत्र आरँग के एक लोधी के पास है जिसमें संवत् १७९२ अर्थात् सन् १७३५ ई० की तिथि अंकित है। मराठों ने सन् १७४० ई० में रतनपुर पर चढ़ाई की और रघुनाथसिंह से राज्य छीन लिया। उसी साल रघुनाथसिंह मर गया। तब सन् १७४५ में उसी वंश के मोहनसिंह को उन्होंने गद्दी पर बिठा

दिया, पश्चात् १७५८ में उसे निकाल दिया। अमरसिंह से मरहठे पहले नहीं बोले परंतु सन् १७५० में उसे थोड़ी सी जागीर देकर धीरे से अलग कर दिया। सन् १७५३ में वह मर गया तब उसके लड़के शिवराजसिंह से जागीर छीन ली गई परंतु जब सन् १७५७ में भोंसलों ने हैहय-राज्य का शासन पूरा अपने हाथ में कर लिया तब ५ गाँव शिवराजसिंह की परवरिश के लिये लगा दिए गए। इस प्रकार 'जड़ सूखी शाखा पुनः सूखे पत्ते अंत। डेढ़ सहस्राब्दिक तरुहिं बिलम न लग्यो झड़ंत।'

जब तक आदि-गद्दी त्रिपुरी का जोर बना रहा तब तक शासन-पद्धति स्वभावतः उसी प्रकार की चलती रही जैसी कि त्रिपुरी में चलती थी; परंतु जब रतनपुर की शाखा स्वतंत्र हो गई तब पद्धति में भी कुछ अदल-बदल अवश्य हुआ होगा। लेकिन इसका पता छत्तीसगढ़ में मिले हुए लेखों से नहीं लगता। पहले पहल रतनपुरी राजाओं की मुठभेड़ मुसलमानों से बाहरसहाय के समय में हुई। जान पड़ता है कि पठानों के उपद्रव के कारण बाहरसहाय कोसगई के दुर्गम किले में रहने लगा था और रतनपुर में किसी गोविंद नामक व्यक्ति को अपना प्रतिनिधि बना दिया था। लड़ाई का स्मारक कोसगई ही में मिला था। उसमें लिखा है कि यवन सेना बाहरेंद्र से हार गई। पहली लड़ाइयों में जो कुछ हुआ हो, अंत में मुसलमानी दबदबा स्थिर हो गया और बाहरसहाय का लड़का कल्याणसहाय दिल्ली जाकर शाही दरबार में बहुत दिनों तक रह आया। इसी राजा के जमाने की जमाबंदी की एक किताब मिली थी जो प्रायः ६० वर्ष पूर्व बिलासपुर के बंदोबस्त के अफसर को दिखलाई गई थी। अब उसका पता नहीं है, परंतु उसमें कई बातें ऐसी थीं जिनसे हैहयवंशी राज्य-प्रबंध का पता लगता था। यथा, उसमें लिखा था कि रतनपुर और रायपुर दोनों इलाकों में कुल मिलाकर ४८ गढ़ थे जिनसे साढ़े छः लाख रुपये सालाना आमदनी थी। उसमें हैहयों के करद रजवाड़ों के नाम लिखे थे और सेना का ब्यौरा आगे लिखे अनुसार था—

रतनपुरी राजाओं की शासन-पद्धति

खड्गधारी २,०००
कटारधारी ५,०००
बंदूकधारी ३,६००
धनुषधारी २,६००
घुड़सवार १,०००
कुल १४,२००

इसके सिवा ११६ हाथी भी थे। इतनी सेना से कुल राज्य का प्रबंध बराबर हो जाता था। जब अधिक बल की आवश्यकता होती तब उसकी पूर्त्ति जागीरदारों द्वारा की जाती थी। यही इस राज्य का कमजोर पाया था। जब तक जागीरदार या करद राज्यों पर पूरा आतंक बना रहा तब तक तो कुछ गड़बड़ नहीं हुई, परंतु ज्योंही रक्षित राज्यों या जागीरदारों में से किसी ने अपनी सत्ता कुछ दृढ़ रूप से जमा ली त्योंही मामला हाथ के बाहर निकल गया और राजा शक्तिहीन हो गया। अंतिम राजा तो इतने बलहीन और आलसी हो गए थे कि शत्रु के आते ही उन्होंने सिर नवा दिया और १,५०० वर्ष के स्थायी वंश के यश को मिट्टी में मिला दिया। एक अँगरेज अफसर ने अंतिम राजा रघुनाथसिंह के कापुरुषत्व का हाल सुनकर अपनी बंदोबस्त की रिपोर्ट में यह राय दर्ज कर दी है कि हैहय समान नामी नरेश्वरों के अंतिम वंशज को हाथ में तलवार लेकर रणभूमि में मर जाना श्रेय था न कि बिल्ली के समान दबकर प्राण की रक्षा करना। यद्यपि रघुनाथसिंह बूढ़ा और बलहीन हो गया था तिस पर भी उसको वंशोचित और क्षत्रियोचित कार्य से मुँह नहीं मोड़ना था। उसने निष्कलंक वंश में उत्पन्न होकर अपने मुख पर सदैव के लिये कालिमा लगा ली।

नवम अध्याय

महाकोशल के छोटे-मोटे राजा

रतनपुरी कलचुरि शाखा का इतिहास लिखते समय कई छोटे-मोटे राजाओं का जिक्र आया है जिनको जीतकर उन्होंने अपने अधीन

कर लिया था। इनमें से कई प्रतापी घराने थे और किसी किसी का राज्य तो अभी तक स्थिर है। इसलिये यहाँ पर उनका कुछ वर्णन कर देना योग्य जान पड़ता है। जाजल्लदेव के सन् १११४ ईसवी के शिलालेख में बहुत से देशों के नाम लिखे हैं जहाँ के नृपति उसका स्वामित्व स्वीकार कर उसको कर देने लगे थे। खेद का विषय है कि यह शिलालेख खंडित हो गया है इसलिये पूरी नामावली, जैसी कि मूल में रही होगी, प्राप्य नहीं है तथापि नव देशों के नाम साफ पढ़े जाते हैं। आदि में एक ही नाम गुम हो गया मालूम पड़ता है जो श्लोक के अनुक्रम से जान पड़ता है दो दीर्घ अक्षरों का रहा होगा। इसलिये निम्न उद्धरण में अनुमान से गुमनाम की जगह "लाढ़ा" भर दिया गया है। श्लोक यों है—

[लाढ़ा दक्षि] ण कोशलांध्रखिमिड़ी वैरागरम् लाञ्जिका,
भाणारस्तलहारि दण्डकपुरम् नन्दावली कुक्कुटः।
यस्यैशां हि महीपमण्डलभृतो मैत्रेन केचिन्मुदे,
... . कान्यन्वब्द किलप्रम् ददुः॥

इस श्लोक के आदि ही में लाढ़ा कल्पित नाम के रख देने का कारण यह है कि रतनपुर से कोई बीस मील आग्नेय को कोटगढ़ नामक किला है उसमें एक शिलालेख रत्नदेव द्वितीय के समय का मिला है। उसमें लिखा है कि वहाँ पर एक वैश्य राजा देवराज नामक था जो रत्नदेव के पूर्वजों का मंडलेश्वर था। उसका पोता हरिगण कलचुरियों का परम हितैषी और सहायक था। उसके लड़के वल्लभराज ने लदहा और गौड़ देश पर धावा किया और सप्ताश्व (सूर्य) के पुत्र रेवंत का मंदिर बनवाया, वल्लभसागर नामक तालाब खुदवाया और एक भारी वाह्याली अर्थात् घुड़सार बनवाई। डाक्टर देवदत्त भांडारकर ने अनुमान किया है कि यह लदहा या लहदा देश दक्खिन में है जिसका जिक्र वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में अश्मक और कुलूत के साथ किया है, परंतु हरिगण सरीखे छोटे से मंडलेश्वर का, जो एक घुड़सार बनवाने में अपनी प्रतिष्ठा समझता था, इतने दूर दक्षिणस्थ लहदा पर धावा करना

असंभव सा प्रतीत होता है। लेखक के मत के अनुसार लदहा या लड़हा, लाड़ा या लाढ़ा का अपभ्रंश है जिसका वर्तमान रूप लड़िया या लरिया हो गया है। छत्तीसगढ़ में जहाँ उड़िया और हिंदी बोलियों का मिलाप होता है वहाँ पर उड़िया बोलीवाले देश को उड़िया और हिंदी बोलीवाले देश को लड़िया कहते हैं। यह स्थल कोटगढ़ से बहुत दूर नहीं है। उसी के परे बंगाल देश लगा हुआ है, जिसे पहले गौड़ कहते थे। इससे जान पड़ता है कि वल्लभराज ने कोटगढ़ के पूर्व की ओर धावा किया और लाड़ा या लरिया वर्तमान रायगढ़ रजवाड़े को जीत लिया। राजिम के सन् ११४५ के लेख में वर्णन है कि जगपालदेव ने रायगढ़ के उत्तरस्थ राठ, तमनाल व तेरम को जीतकर हैहय राज्य में मिला लिया, परंतु रायगढ़ के दक्षिणी भाग का जिक्र कहीं नहीं पाया जाता। कारण स्पष्ट है। जब उस भाग को हरिगण ने जीतकर हैहय राज्य में शामिल करवा दिया था तब जगपालदेव उसको अपने वंश की कृतियों में कैसे शामिल कर सकता था? जान तो ऐसा पड़ता है कि लाड़ा या लदहा तेरम, तमनाल आदि जीते जाने के पहले ही हैहयाधीन हो चुका था इसलिये उसका नाम जाजल्लदेव के करद राज्यों में शामिल रहना असंगत नहीं है।

दूसरा करद राज्य दक्षिण कोशल लिखा है, जिससे ज्ञात होता है कि बारहवीं शताब्दी में यह नाम एक संकुचित मंडल का द्योतक था। आम तौर से दक्षिण कोशल नाम सारे छत्तीसगढ़ को लागू था परंतु उसके मध्य में कोई खास इलाका रहा होगा जो इस नाम से प्रख्यात था और जहाँ का राजा हैहयाधीन हो गया था। इसमें कोई अचरज की बात नहीं समझनी चाहिए, क्योंकि वर्तमान नामावली में भी इसी प्रकार के एक के अनेक अर्थ प्रसंगानुसार होते हैं, यथा नागपुर जिला कहने से इन दिनों एक करीब चार हजार वर्ग मील के क्षेत्र का बोध होता है जो नागपुर डिवीजन का प्रायः छठाँ अंश है। दक्षिण कोशल का विशेष मंडल दक्षिण कोशल देश का इसी प्रकार एक छोटा हिस्सा रहा होगा। अनुमान से जान पड़ता है कि यह भाग रायपुर जिले के

मध्य में रहा होगा क्योंकि उसके आसपास के भागों के प्राचीन नाम मिलते हैं, उसी भाग का कोई विशेष नाम नहीं पाया जाता।

तीसरा मंडल आंध्र खिमिड़ी है। कोई कोई इसे पृथक् पृथक् कर आंध्र अलग और खिमिड़ी अलग गिनते हैं। शब्द के दोनों अर्थ यानी आंध्रदेशस्थ खिमिड़ी या आंध्र और खिमिड़ी सार्थक हैं; परंतु एक बात यह है कि त्रिपुरी के राजा यश:कर्णदेव ने आंध्र देश के राजा को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। रतनपुरी राजाओं ने त्रिपुरी से विरोध नहीं किया फिर त्रिपुरी का करद राज वे अपने रजवाड़ों में कैसे शामिल कर सकते थे? इसी से जान पड़ता है कि यहाँ पर आंध्र खिमिड़ी का अर्थ आंध्र देशस्थ खिमिड़ी है, न कि आंध्र और खिमिड़ी। खिमिड़ी (वर्तमान नाम किमिड़ी) गोदावरी के उस पार गंजाम जिले में बड़ी भारी जमींदारी है। यहाँ के जमींदार उड़ीसा के राजाओं के वंशज बतलाए जाते हैं। पहले वे यहाँ के राजा थे। पूरी किमिड़ी का क्षेत्रफल ३३०० वर्ग मील से अधिक है परंतु कोई २७०० वर्गमील में बड़ा सघन जंगल लगा है। अब किमिड़ी के तीन विभाग हो गए हैं जो परला, पेद्दा और चिन्ना किमिड़ी के नाम से प्रसिद्ध हैं।

चौथा मंडल वैरागरम् वर्तमान वैरागढ़ है। यह चाँदा जिले में विद्यमान है। इसका दूसरा प्राचीन नाम वज्राकर था, क्योंकि वहाँ पर वज्र अर्थात् हीरे की खानें थीं। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि वैरागरम् प्राचीन नाम नहीं है। उसका नाम इसी रूप में तामिल काव्य शिलप्पदिगारम् में मिलता है। यह काव्य सन् ११० और १४० ई० के मध्य में लिखा गया था। वज्राकर के रूप में इसका जिक्र नागवंशी राजा सोमेश्वर के शिलालेख में आता है। उसमें रतनपुर का भी जिक्र है। जाजल्लदेव के लेख में सोमेश्वर के पछाड़ने का भी उल्लेख है। सोमेश्वर के लेख से विदित होता है कि महाकोशल में छ: लाख छियानबे गाँव थे जो उसने छीन लिए थे, परंतु जाजल्लदेव ने इस बेहूदगी का फल उसे चखा दिया। वह रण में सोमेश्वर की असंख्य सेना को यम-सदन पहुँचाकर स्वयं उसको बाँध लाया। सोमेश्वर का

लेख बहुत ही संक्षिप्त अवस्था में है, नहीं तो उससे बहुत कुछ ऐतिहासिक पता लगता। वर्तमान दशा में भी उसमें लाँजी, रतनपुर, लेम्णा, वेंगी, भद्रपत्तन, वज्र और उड्र के नरेशों का जिक्र मिलता है। इनमें से कोई कोई जाजल्ल के करद मंडलेश्वर थे, जैसा कि क्रमशः ज्ञात होता जायगा।

लीजिए, पाँचवाँ मंडलेश्वर ही जाजल्लीय लेखानुसार लाज्जिका या लाँजी का अधिपति था जैसा ऊपर अभी वर्णन कर आए हैं। लाँजी का नाम सोमेश्वर के लेख में भी मिलता है। लाँजी बालाघाट जिले में है। वह प्राचीन काल में उस जिले या इलाके की राजधानी थी। अब भी वहाँ पर अनेक प्राचीन खँडहर और शिलालेख मौजूद हैं। शिलालेख बहुत घिस जाने से पढ़े नहीं जाते।

लाँजी से लगा हुआ भाणारा वर्तमान भंडारा है। वहाँ अलग मंडलेश्वर था जो जाजल्ल को कर देता था।

अब जाजल्ल का प्रशस्तिकार पाठक को रायगढ़, रायपुर, गंजाम, चाँदा, बालाघाट और भंडारा की सैर कराकर रतनपुर के पाद-तल में तलहारी को वापस लिए जाता है और पश्चात् भूलभुलैयाँ में डाल देता है। वह कहता है कि दंडकपुर, नंदावली और कुक्कुट मंडलों का भी अवलोकन कर आओ पर अब पता ही नहीं लगता कि ये स्थान थे कहाँ। छत्तीसगढ़ में फैला हुआ अरण्य पहले दंडक नाम से प्रसिद्ध था। जान पड़ता है कि इसके मध्य में कोई पुर बसा था जिसका नाम दंडकपुर था। पाठक इसकी खोज करें। प्रयत्न करने से कदाचित् पता लग जाय। यही बात नंदावली और कुक्कुट की है। कुक्कुट के पर्यायवाची 'मुर्गी ढाने' तो बहुत से हैं परंतु उनमें से कौन सा प्राचीन मंडलेश्वर का पुर था, यह लेखक को अभी तक मालूम नहीं हुआ। इसका पता कदाचित् छत्तीसगढ़-गौरव-प्रचारक मंडली द्वारा लग सके। हाँ, एक और स्थल का जिक्र सोमेश्वर के लेख में है जिसका अर्थ लेम्णा वर्तमान लवण या लवन हो सकता है। यह रायपुर के पूर्वीय इलाके का नाम है। प्रसंग-वश यह भी बता देना उचित जान

पड़ता है कि सोमेश्वर के लेखवाले वेंगी, भद्रपत्तन और उड्र क्रमशः गोदावरी और कृष्णा मध्यस्थ इलाका, भाँदक और उड़ीसा हैं।

जगपालदेव के राजिमवाले लेख का जिक्र पहले कई बार आ चुका है और जिन देशों के जीतने का उल्लेख उसमें है उनके नाम भी बतला दिए गए हैं। वहाँ के राजाओं का विशेष हाल प्राप्य नहीं है, क्योंकि राजाओं के नाम या उनके वंशों का पता उस लेख में दिया नहीं गया। जगपाल के पुरखों ने प्रथम भट्टविल और विहरा को सर किया। भट्टविल, जो भटघोड़ा भी कहलाता था, बघेलखंड का प्राचीन नाम कहा जाता है। उस जमाने में भट्टविल की सीमा कहाँ तक थी, इसका कहीं पता नहीं लगता। निदान वह वर्तमान पूरे बघेलखंड की सीमा नहीं रही होगी, क्योंकि बघेलखंड ही कलचुरियों का आदि-स्थान माना जाता है। कदाचित् वहीं से वे त्रिपुरी गए थे। तब से प्राचीन बघेलखंड में त्रिपुरी के कलचुरियों का अधिकार बहुत पहले ही से रहा होगा। फिर जगपाल सरीखे मांडलिक उनको कैसे हरा सकते थे?

इससे यही सिद्ध होता है कि बघेलखंड के किसी कोने में भट्टविल कोई छोटी रियासत थी जिसको जगपाल के पुरखों ने जीतकर रतनपुर के हैहयों के जिम्मे कर दिया। विहरा भी कदाचित् उसी के निकट कोई छोटी सी रियासत रही होगी।

जगपाल ने राठ, तेरम और तमनाल तीनों के नाम लिखे हैं। ये रायगढ़ के उत्तर में नजदीक नजदीक स्थान हैं जो कदापि बड़े रजवाड़े कभी न रहे होंगे। संभव है कि इनके छोटे छोटे स्वतंत्र जंगली राजा रहे हों। उन तीनों को जगपाल ने जीत लिया और अपनी महिमा बढ़ाने के हेतु उन तीनों के नाम खुदवा दिए। मांडलिकों में भी तो भेद होता है। कोई कोई हैदराबाद के बराबर बृहत् और कोई चुटकी में समाने योग्य छोटे 'सक्ती' के समान होते हैं, परंतु उनकी गणना तो पृथक् पृथक् होती ही है।

जगपाल के लेख से जान पड़ता है कि उसने मयूरभंज पर चढ़ाई तो नहीं की, परंतु वहाँ के मायूरिक लोग उसके आतंक से जंगलों

में छिप गए। इसी प्रकार बिलासपुर जिले के जंगली भाग में रहने-वाले साँवता लोग पहाड़ों को भाग गए। जगपाल तलहारी को द्वितीय रत्नदेव के समय में जीतने का दावा करता है; परंतु यह मंडल, जो दक्षिण की ओर रतनपुर से बिलकुल सटा हुआ था, रत्नदेव के पिता जाजल्लदेव के करद राज्यों में शामिल है। संभव है कि रत्नदेव के समय वहाँ का राजा बिगड़ उठा हो, तब जगपाल ने उसका दमन किया हो। जब तक अन्य कोई प्रमाण न मिले तब तक इसका निर्णय करना कठिन जान पड़ता है।

अभी तक जिन स्थानों के विजय का वर्णन किया गया है वे रतनपुर के आसपास उत्तर, पूर्व और दक्षिण के मंडल थे। अब जग-पाल पश्चिम को बढ़ता है और सिंदूरमाँगु अथवा सिंदूरागिरि वर्त्तमान रामटेक को सर करता है। इससे जान पड़ेगा कि रामटेक का मंडले-श्वर भंडारा के मंडलेश्वर से भिन्न था। पृथ्वीदेव के जमाने में जगपाल-देव ने अपना अड्डा दुर्ग में जमाया। दुर्ग बड़ा प्राचीन स्थान है। वहाँ पर मिले हुए लेखों से जान पड़ता है कि किसी शिवदेव नामक शैव राजा ने उसे बसाया था और उसका नाम शिवपुर रखा था। जब वहाँ पर किला बन गया तब उसका नाम शिवदुर्ग चलने लगा। कालांतर में उस नाम का प्रथम भाग कटकर केवल दुर्ग रह गया। जग-पाल के समय में दुर्ग में कौन राजा था, इसका परिचय तो नहीं दिया गया; परंतु जान पड़ता है कि वहाँ के प्राचीन राजा को हटाकर जग-पाल ने राजधानी का नाम अपने नाम से जगपालपुर प्रसिद्ध किया था, यद्यपि वह उसकी मृत्यु के बाद चल नहीं सका और पूर्व नाम का प्रचार पुनः हो गया। जगपाल दुर्ग के दक्षिण को बढ़ा और उसने सरहरा-गढ़ वर्त्तमान सोरर को ले, मचका सिहवा (वर्त्तमान मेचका सिहावा) को अपने अधीन कर लिया और भ्रमरवद्र या भ्रमरकूट (वर्तमान बस्तर) के राजा को हरा काकरय (वर्तमान कांकेर) कांतार कुसुम-भोग और काँदाडोंगर को छीन लिया। काँदाडोंगर बिंद्रानवागढ़ जमींदारी के बिलकुल दक्षिण में है। इस प्रकार उसने रायपुर जिले

के पूर्व और दक्षिण का भाग हैहयों के राज्य में मिला दिया। इस वर्णन में यह बात खटकती है कि प्रथम जाजल्लदेव के समय में जब दूरस्थ किमिडो और बैरागढ़ के बीच के स्थान हैहय-आश्रय में आ गए तो क्या इनके बीच के रजवाड़े स्वतंत्र ही छोड़ दिए गए थे? यह तो निर्विवाद है कि हैहय राजा पराजित शत्रु को निकालते नहीं थे, केवल अपना आधिपत्य स्वीकार करा लेते थे। संभव है कि जाजल्लदेव के प्रताप को देखकर चाँदा और रतनपुर के मध्यस्थ राज-वृंद ने हैहयों का आधिपत्य मान लिया हो और उसके पोते के समय में अवसर पा वे फिर स्वतंत्र हो गए हों। जगपालदेव को हैहय-कोष बढ़ाने की चिंता थी इसलिये यह भी संभव है कि सिहावा आदि की ओर के मांडलिकों के विरोध न करने पर भी जगपाल ने कुछ बहाना बनाकर उनका राज्य छीन लिया हो।

ऊपर संकलित हैहयों के मांडलिकों की तालिका पूरी नहीं समझ लेनी चाहिए, और न यही मान लेना चाहिए कि जिनको हैहयों ने हरा दिया वे सदैव के लिये मांडलिक बने बैठे रहे।

कवर्धा के नागवंशी

बस्तर के नागवंशियों पर तो उनका आधिपत्य नाम मात्र का ही रहा। वे यथार्थ में स्वतंत्र ही बने रहे और अपने ही बल पर गोदावरी के उस पार के राजाओं से लड़ाई लेते रहे जिसका वर्णन आगे किया जायगा। यहाँ पर हैहयों के निकटस्थ उन मांडलिकों का कुछ ब्यौरा दे देना उचित जान पड़ता है जिनका नाम ऊपर की तालिका में नहीं आया। बिलासपुर जिले से लगी हुई कवर्धा रियासत के चौरा नामक ग्राम में एक मंदिर है जिसको अब मँड़वा महल कहते हैं। वहाँ एक शिलालेख है जिसमें नागवंशो २४ राजाओं की वंशावली दी गई है। यह लेख १३४९ ई० का है। इससे स्पष्ट है कि इस वंश का मूल-पुरुष दसवीं शताब्दी के लगभग राज्य करता रहा होगा। जिस राजा ने यह लेख खुदवाया है उसने हैहय-राजकुमारी अंबिकादेवी से विवाह किया था। जान पड़ता है कि इस वंश के राजा पहले ही से हैहयों के मांडलिक हो गए थे, इसलिये इनके

विजय करने या करद राज्यों में गणना करने की आवश्यकता नहीं समझी गई, क्योंकि इन लोगों में नातेदारी चलने लगी थी। इनके वंश की उत्पत्ति कुछ कुछ हैहयों की उत्पत्ति से मिलती जुलती है। हैहय अपनी उत्पत्ति अहि-हय अर्थात् नाग पिता और घोड़ी माता से बतलाते हैं। कवर्धा के नागवंशी अहि पिता और जातुकर्ण ऋषि की कन्या मिथिला माता से बताते हैं। इनका पुत्र अहिराज हुआ जो इस वंश का प्रथम राजा गिना गया है। उसका लड़का राजल्ल, उसका धरणीधर, उसका महिमदेव, उसका सर्ववंदन या शक्तिचंद्र, उसका गोपालदेव हुआ। चौरा के निकटवर्ती बोड़मदेव नामक मंदिर में एक लेख एक मूर्त्ति के तले लिखा मिला है जिसमें तत्कालीन राजा का नाम गोपालदेव और संवत् ८४० अंकित है। यदि इन दो गोपालदेवों को एक ही व्यक्ति मानें और संवत् को कलचुरि संवत् गिनें तो शिला-लेख के समय तक २६१ वर्षों का अंतर आता है जिसमें १५ पीढ़ियों और १८ राजाओं का समावेश करना पड़ता है। इस अवस्था में एक पीढ़ी की औसत आयु १७॥ साल और राजा के शासन-काल की औसत १४ साल होती है। यदि संवत् विक्रम माना जाय तो गोपाल-देव से लेकर अंतिम राजा रामचंद्र तक ५६६ वर्षों का काल होता है, जिसके अनुसार पीढ़ी की औसत आयु ३८ साल और शासन-काल की औसत अवधि ३१॥ साल पड़ेगी। ये दोनों बातें मेल नहीं खातीं। एक पीढ़ी की ३८ साल औसत आयु बहुत अधिक हो जाती है और १७॥ वर्ष बहुत ओछी पड़ जाती है। संवत् ८४० को शालिवाहन का मानने से पीढ़ी की औसत २९ साल और शासन-अवधि २६ साल पड़ जाती है परंतु यह भी प्रचलित लेखे के अनुसार समुचित नहीं है। इसके सिवाय कवर्धा की ओर शालिवाहन के संवत् का कभी प्रचार नहीं रहा। उस ओर के लेखों में तिथियाँ कलचुरिया विक्रम संवत् के अनुसार डाली जाती थीं। रामचंद्र के लेख में भी यद्यपि विक्रम के नाम का साफ-साफ संकेत नहीं है परंतु उसमें इतना लिखा है कि संवत् १४०६ में जय नाम संवत्सर चल रहा था तब वह लिखा गया। गणना करने

से स्पष्ट है कि जय नाम संवत्सर विक्रमीय १४०६ साल में पड़ा था। इन कारणों से यहाँ से नागवंशावली में शंका उत्पन्न हो जाती है जिसका निवारण आगे चलकर किया जायगा।

गोपालदेव का लड़का नलदेव और उसका भुवनपाल हुआ। इसके दो पुत्र—कीर्त्तिपाल और जयत्रपाल—हुए, जो एक के पीछे एक गद्दी पर बैठे। जयत्रपाल के मरने पर उसका लड़का महिपाल राजा हुआ, फिर उसका पुत्र विषमपाल, फिर उसका पुत्र जन्हुपाल, फिर उसका जनपाल या विजनपाल और फिर उसका पुत्र यशोराज राजा हुआ।

यशोराज यशस्वी राजा जान पड़ता है, क्योंकि इसके समय के लेख कंकाली और सहसपुर में पाए जाते हैं। एक लेख में उसकी तिथि स्पष्ट रूप से कलचुरि संवत ६३४ कार्तिक पूर्णिमा बुधवार लिखी है। कलचुरि संवत् के अनुसार हिसाब लगाने से यह ठीक सन् ११८२ ई० के १३ अक्टूबर बुधवार को पड़ती है। गोपालदेव और यशोराज के बीच ८ पीढ़ियाँ और ९४ वर्षों का अंतर पड़ता है जिससे औसत आयु १२ वर्ष ही रह जाती है। शासन-अवधि चाहे जितनी छोटी हो जाय परंतु पीढ़ी की आयु इतनी ओछी हो नहीं सकती। इससे सिद्धांत यही निकलता है कि वंशावली लंबी-चौड़ी करके नागवंश की प्राचीनता का महत्त्व स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है और कुछ कल्पित नाम घुसेड़ दिए गए हैं या नाता बताने में गलती हुई है।

यशोराज का पुत्र कन्हड़देव या वल्लभदेव था। उसका लक्ष्मवर्मा हुआ जिसके दो पुत्र थे—एक खड्गदेव और दूसरा चंदन। गद्दी खड्गदेव को मिली। उसके पश्चात् उसका लड़का भुवनैकमल्ल उत्तराधिकारी हुआ, फिर उसका लड़का अर्जुन, फिर उसका भीम और फिर उसका भोज क्रमशः गद्दी पर बैठे। भोज के निस्संतान होने के कारण गद्दी चंदन की शाखा को पहुँची और उसके लक्ष्मण नामक प्रपौत्र को मिली। इसी लक्ष्मण का लड़का रामचंद्र था जिसने शिलालेख लिखवाया।

गोपालदेव और यशोराज की तिथियों के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि कवर्धा के नागवंशियों का आरंभ दसवीं शताब्दी

में हुआ और कुल पीढ़ियाँ २१ के बदले १८ ही हुईं। जान पड़ता है कि गोपाल और यशोराज के मध्यस्थ राजाओं के रिश्ता बताने में कुछ भूल हुई है। संभव है, गोपालदेव और नलदेव पिता पुत्र न होकर भाई भाई रहे हों। इसी प्रकार महिपाल व विषमपाल और जन्हुपाल और जनपाल का नाता रहा हो, तब तो गोपाल और यशोपाल के बीच की तीन पीढ़ियाँ घट जाती हैं जिससे पीढ़ी की औसत आयु १२ से बढ़कर १९ वर्ष हो जाती है। पुन: सहसपुर के लेख में यशोराज की रानी का नाम लक्ष्मादेवी और राजपुत्रों का भोजदेव व राजदेव लिखा है, परंतु वंशावली में कन्हड़देव या वल्लभदेव बतलाया गया है और उसका पुत्र लक्ष्मवर्मा लिखा है। यद्यपि यह असंभव नहीं है कि यशोराज के तीसरा पुत्र हुआ हो जिसको गद्दी मिली हो तो भी यह झलक उठता है कि नामों में कुछ गड़बड़ हो गई है। यदि कन्हड़ और लक्ष्म भोज और राजदेव के दूसरे नाम रहे हों तो कन्हड़ और लक्ष्म को पिता पुत्र न मानकर भाई मानना पड़ेगा। ऐसा करने से यशोराज ११वीं और अंतिम राजा १७वीं पीढ़ी में पड़ेगा। इससे पीढ़ी की आयु का झगड़ा मिट जायगा। गोपालदेव अहिराज से छठी पीढ़ी में हुआ, जिससे जान पड़ता है कि इनके बीच प्राय: सौ वर्ष का अंतर रहा होगा, इसलिये कवर्धा के नागवंश का आरंभ दसवीं शताब्दी के अंत में मानना असंगत न होगा। एक शिलालेख में यशोराज की पदवी महाराणक लिखी है, इसलिये इस वंश के मांडलिक होने में संशय ही न रहा।

कवर्धा के राजवंशी रतनपुर के निकट होने के कारण अधिक दबे रहते थे। परंतु दूर के मांडलिक प्राय: स्वतंत्र से रहते थे। इनमें से एक काँकेर के राजा थे। काँकेर रायपुर से ८० मील है इसलिये वह रतनपुर से इसके दूने से अधिक बैठेगा। काँकेर पहले बड़ा राज्य था। उसमें पहले धमतरी तहसील और कुछ भाग बालोद तहसील का शामिल था। काँकेर में सोमवंशी राजा राज्य करते थे जिनके कई शिलालेख व ताम्रपत्र मिले हैं परंतु उनमें सबसे प्राचीन तिथि ११९२ ई०

काँकेर के सोमवंशी

की मिलती है, किंतु हैहय सेनापति जगपालदेव ने काँकेर को सन् ११४५ ईसवी के पूर्व ही जीत लिया था।

सन् ११९२ ईसवी में काँकेर का राजा कर्णराज था। उसके पिता का नाम बोपदेव, दादा का व्याघ्रराज और परदादा का सिंहराज था। पहले राजधानी सिहावा में थी। सिहावा का नाम सिंहराज ही के नाम पर धराया गया था। जगपालदेव ने कदाचित् कर्ण के पिता बोपदेव को हराया होगा, क्योंकि उसने अपनी विजय-सूची में सिहावा और काँकेर दोनों के नाम लिखे हैं। बोपदेव के तीन लड़के थे—कर्णराज, सोमराज और रणकेसरी। इनको अपने जीते-जी उसने सिहावा, काँकेर और पाड़ी का शासक बना रखा था। यदि ये भिन्न न समझे जाते तो जगपाल को सिहावा और काँकेर दोनों के लिखने की आवश्यकता न पड़ती। जगपाल गहरे संबंध की खोज में नहीं रहता था, वह तो अपने विजय की लंबी सूची बनाकर दिखाना चाहता था, इसलिये जिन इलाकों में कुछ भी भेद मिलता उनको अलग इलाका या मंडल करार देकर नाम दर्ज कर लेता था। वंशावली के आधार पर सिंहराज का समय १०६४ ईसवी के लगभग पड़ता है। कर्णराज के वंश में जैत्रराज, सोमचंद्र और भानुदेव हुए। भानुदेव के समय का एक लेख मिला है जिसकी तिथि १३२० ईसवी में पड़ती है। भानुदेव का पिता काँकेर ही जाकर जम गया था। सोमचंद्र का लड़का पंपराज पाड़ी में रहता था। उसके दो ताम्रशासन मिले हैं जिनकी तिथि सन् १२१६ ई० में पड़ती है। पाड़ी का पता नहीं लगता, परंतु पंपराज काँकेर में भी जाकर रहा करता था। उसने एक दान काँकेर-समावास और एक पाड़ी-समावास से किया था। इससे जान पड़ता है कि उसकी मूल घराने से मैत्री थी और काँकेर का राज्य इनके बीच विभक्त नहीं हुआ था। इसी लिये वह वंश समूचा और बलवान् बना रहा। काँकेर के सोमवंशी राजा हैहयों का आधिपत्य मानते रहे, परंतु जान पड़ता है वे कुछ स्वेच्छाचारी थे। उनके लेखों में किसी में शक संवत् और किसी में कलचुरि संवत् पाया जाता है। कर्णराज और भानुदेव के शिलालेखों में शक संवत् और पंपराज के ताम्रशासनों में कलचुरि संवत् का उपयोग किया गया है।

दशम अध्याय

नागवंशी

काँकेर के परे बस्तर का राज्य है। इसका प्राचीन नाम चक्रकूट या भ्रमरकूट था। यहाँ पर नागवंशी राजा राज्य करते थे। इनकी विरुदावली से इनके गौरव का कुछ पता लग जाता है। जिस सोमेश्वर से हैहयों की मुठभेड़ हुई उसका विरुद था "सहस्रफणामाणिनिकरावभासुर नागवंशोद्भव भोगावतीपुरवरेश्वर सवत्सव्याघ्रलाञ्छन काश्यपगोत्रप्रकटीकृत विजयघोषणालब्ध विश्वविश्वंभर परमेश्वर परमभट्टारक महेश्वरचरणकमलकिञ्जल्कपुञ्जपिञ्जरितभ्रमरायमाणसत्यहरिश्चन्द्रशरणागतवज्रपञ्जर प्रतिगण्डभैरव श्रीमद्रायभूषण महाराज सोमेश्वरदेवः।" कहीं कहीं पर 'विक्रमाक्रान्त सकलरिपुनृपतिकिरीटकोटिप्रभामयूखद्योतितामलचरणकमलचक्रकूटाधीश्वर' भी लिखा हुआ पाया जाता है। यद्यपि इन विरुदों में बहुत सी अत्युक्ति है तथापि इस प्रकार के अभिमान रखनेवाले राजा किसी के मांडलिक बनकर नहीं रह सकते थे, इतनी बात तो स्पष्ट झलक पड़ेगी। नागवंशियों के अधिकार में कई मांडलिक ही नहीं वरन् महामंडलेश्वर थे। उनमें एक अम्मगाम के महाराज चंद्रादित्य थे जो चोलराज करिकाल के वंशज थे।

बस्तर के नागवंशी

नागवंशी प्रतापी राजा थे। उनका एक घराना हैदराबाद के यलवरगा में राज्य करता था। इन लोगों की मूल राजधानी भोगावती में थी, परंतु उसका अभी तक पता नहीं लगा कि वह कहाँ थी। ये लोग छिंदक या सिंदवंशी भी कहलाते थे। इनकी कई शाखाएँ हो गई थीं; जिन्होंने अपने लांछन और ध्वज-पताका या केतन अलग अलग प्रकार के बना लिए थे। व्याघ्र सब घरानों के लांछनों में दिखलाया जाता था, क्योंकि उनकी उत्पत्ति की कथा में अहिराज द्वारा मूल पुरुष को बाघिनी का दूध पिलाकर जिलाए जाने का जिक्र है। बस्तर में इनकी दो शाखाएँ थीं। एक का लांछन सवत्स व्याघ्र और दूसरी का धनुर्व्याघ्र

था। पहली शाखा के ध्वज का तो विवरण नहीं मिलता, परंतु द्वितीय का कमल कदली था। बागलकोट की शाखा का लांछन केवल व्याघ्र था, परंतु केतन फणि था। इसी प्रकार हलचुर शाखा का लांछन व्याघ्र-मृग और केतन नीलध्वज था।

नागवंशी बस्तर में कब आकर जमे, इसका ठीक पता तो नहीं लगता परंतु इनके सबसे पुराने शिलालेख की तिथि सन् १०२३ ई० में पड़ती है जब कि नृपतिभूषण नामक राजा राज्य करता था। सन् १०६० के लगभग जगदेकभूषण धारावर्ष का राज्य हुआ। इसी का लड़का सोमेश्वर था जो सन् ११०८ में जीता था और सन् ११११ के पहले परलोकगामी हो गया था, क्योंकि पिछले संवत् का एक लेख उसके पुत्र कन्हरदेव के समय का मिला है जिसमें सोमेश्वर के स्वर्ग-गमन करने का उल्लेख है। जान पड़ता है कि नागवंश में सोमेश्वर ही बड़ा प्रतापी राजा हुआ, जिसने हैहयों से लड़ाई ले उनके बहुत से गाँव छीन लिए, वैरागढ़ और भाँदक के राजाओं को हराकर अपने वश कर लिया और गोदावरी तथा कृष्णा का मध्यस्थ देश, जिसका नाम वेंगी था, जला दिया। आग लगाकर नाश करने की उस समय बड़ी चाल थी। अब भी तो बंद नहीं हुई। लड़ाइयों में शत्रुओं के ग्राम आग द्वारा नष्ट कर ही दिए जाते हैं। बस्तर भी शत्रुओं की आग से बचा नहीं रहा। उसमें कई बार आग लगाई गई। पहले पहल चालुक्यों ने सन् ८८४ व ८८८ ई० के बीच धावा करके चक्रकूट को जला डाला। फिर चोल राजा प्रथम राजेंद्र ने सन् १०११ व १०१३ ई० के बीच उसे लूट डाला, फिर उसके वंशज वीर राजेंद्र ने आक्रमण किया, फिर कुलोत्तुंग ने सन १०७० के पूर्व ही उसे झकझोर डाला। पश्चात् बारहवीं सदी में मैसूर के राजा विष्णुवर्धन होयसल ने अपनी तृष्णा पूर्ण की। जान पड़ता है कि सोमेश्वर ही ने बस्तर की द्वितीय शाखा के नायक मधुरांतक को मारकर उसकी जड़ उखाड़ दी। कन्हरदेव के पश्चात् तीन-चार और नागवंशी राजाओं के नाम मिलते हैं परंतु उनका परस्पर संबंध कैसा था, यह मालूम नहीं पड़ता। सन् १२१८ ई० में जगदेक-भूषण

नरसिंहदेव का शासन पाया जाता है, सन् १२४२ में कन्हरदेव द्वितीय का और सन् १३४२ में हरिश्चंद्रदेव का। दंतवाड़ा के एक लेख में महाराज राजभूषण और उसकी बहिन मासकदेवी का जिक्र है। वह मासकदेवी की ओर से सर्वसाधारण को विज्ञापन है जिसमें लिखा है कि "चूँकि राजअधिकारी वसूली करने में किसानों को बहुत तंग करते हैं इसलिये पाँच महासभाओं के मुखियों ने सभा करके यह नियम बनाया है कि जिन गाँवों से राजअभिषेक के समय रुपया आदि वसूल किया जाता है वह ऐसे ही लोगों से वसूल किया जाय जो चिरकाल के निवासी हों। इसलिये सूचना दी जाती है कि जो कोई इस नियम का पालन न करेगा वह राजद्रोही और मासकदेवी का द्रोही समझा जायगा।"

नागवंशियों के लेखों में एक विचित्रता पाई जाती है। वह यह कि जितने लेख इंद्रावती नदी के उत्तर के हैं वे सब नागरी अक्षरों में, संस्कृत में, लिखे गए हैं। इंद्रावती के दक्षिण के समस्त लेख तिलंगी भाषा व अक्षरों में खोदे गए हैं। इंद्रावती, जो बस्तर के बीचोंबीच होकर बहती है, उस जमाने में नागरी और तिलंगी की सीमा थी। बस्तर के नागवंशियों का दौरदौरा तेरहवीं शताब्दी के अंत तक बना रहा। चौदहवीं के लगते ही उनका लोप हो चला और वारंगल के काकतीयों का अधिकार जम गया। यद्यपि बस्तर में लूट-मार बहुत मची रहती थी तथापि नागवंशियों का शासन बुरा नहीं था। प्रजा के स्वत्वों का विशेष विचार किया जाता था और उनके प्रतिनिधियों की सलाह से बहुत सा राज-काज किया जाता था। बस्तर राज्य ऐसी चोट की जगह पर था कि अन्य राजा जब चाहें तब आक्रमण कर बैठते थे, तिस पर भी नागवंशी अपने को सदैव सँभालते रहे और चार-पाँच सौ वर्ष तक किसी की दाल नहीं गलने दी, यद्यपि उनके शत्रु हैहय, चोल और होयसल सरीखे बड़े बड़े नृपति थे। शिलालेखों के पढ़ने से जान पड़ता है कि नागवंशी-काल में बस्तर में अच्छे विद्वान् पंडित रहते थे। वह निरा मुरिया-माड़िया-पूर्ण जंगल नहीं था, जैसा कि इन दिनों है।

वहाँ की प्राचीन शिल्पकारी भी प्रशंसनीय है। समय का फेर है जिससे उसने पुन: रामचंद्र के समय का रूप धारण कर लिया। वनवास का अधिकांश समय रामचंद्रजी ने बस्तर रजवाड़े ही में, पर्णशाला नामक ग्राम में, बिताया था। यह ग्राम अभी तक विद्यमान है। वहीं से सीता का हरण हुआ था। जान पड़ता है, तभी से उसके माथे पर "श्रीविहीन" शब्द लिखा गया। नागवंशी कितने ही वीरत्वपूर्ण रहे हों परंतु उनके श्रीपूर्ण होने का प्रमाण नहीं मिलता। उनके बनवाए हुए काम इस कोटि के नहीं हैं कि वे अतुलित संपत्ति के सूचक हों।

एकादश अध्याय

विविध राजवंश

परमार

नवीं शताब्दी से बारहवीं तक निमाड़ के उत्तरीय भाग में धार के परमारों का दौरदौरा रहा। असीरगढ़ के आसपास टाक राजपूतों के आधिपत्य की आख्यायिका है। असीर के टाकों का जिक्र केवल चंद वरदाई के पृथ्वीराजरासो में पाया जाता है, परंतु यह स्पष्ट नहीं है कि उस असीर से निमाड़ का असीरगढ़ समझना चाहिए। परमारों के कई शिलालेख व ताम्रपत्र मिले हैं जिनमें इस जिले के कई गाँवों के दान दिए जाने का उल्लेख है। सबसे पुराना भोजदेव के पुत्र जयसिंहदेव का है जिसकी तिथि १०५५ ई० में पड़ती है। मालवा के परमार वंश का राज्य ८२५ ई० के लगभग आरंभ होता है। जयसिंह उस वंश का दसवाँ राजा था। इस जिले में दो लेख देवपालदेव के समय के मिले हैं जिनकी तिथियाँ सन् १२१८ व १२२५ ई० की हैं। एक जयवर्मा का लेख है जिसकी तिथि १२६० ई० में पड़ती है। देवपालदेव परमार वंश का बीसवाँ

राजा था। उसका लड़का जयवर्मा था जो अपने भाई जैतुगिदेव के पश्चात् गद्दी पर बैठा। इस वंश के सातवें राजा मुंज ने गोदावरी तक अपना अधिकार जमा लिया था। उसका समय १०१० ई० में पड़ता है। मुंज बड़ा साहित्य-प्रेमी था और कवियों का आश्रयदाता था। इसी प्रकार उसका भतीजा भोज निकला जिसकी विद्याभिरुचि अभी तक विस्मृत नहीं हुई। भोज की रानी लीलावती भी बड़ी विदुषी थी। ये धारा नगरी (वर्तमान धार) में रहते थे।

बैरिसिंह परमार, रची धार असि-धार-बल।
बहा सरस्वति-धार, धरासार किय भोज ने॥
जो नहिं होतो भोज, कविन भोज देतो कवन।
कालिदास को ओज, को बढ़ावतो चतुर्दिग॥
कठिन गणित व्यवहार, लीला कौन बतावतो।
पति सम विदुषी नारि, जो न होति लीलावती॥
होते नहिं परमार, धार कीर्त्ति किमि फैलती।
धार बिना आधार, बढ़तो किमि परमार-यश॥
जहँ पवाँर तहँ धार, धार जहाँ परमार तहँ।
बिन पवाँर नहिं धार, धार बिना परमार नहिं॥

निमाड़ में परमारों का अधिकार तेरहवीं शताब्दी के आरंभ तक बना रहा, पश्चात् तोमरों और उसके पीछे चौहानों के हाथ चला गया। सन् ११६१ ई० में जब अलाउद्दीन खिलजी दक्खिन की चढ़ाई से लौटा तो उसने असीरगढ़ को चौहानों के हाथ में पाया। उसने एक लड़के को छोड़कर सबको कत्ल कर डाला। यह युवा, जिसका नाम रायसी था, चित्तौड़ को भाग गया। इसके वंशज हरौती के राजा हैं। कहते हैं, चौहान फिर एक बार लौटे। पिपलौद के राना उन्हीं के वंशज हैं। ये बासीगढ़ में आकर रहे। इस किले का अब पता भी नहीं है। चौदहवीं शताब्दी में खेरला के राजा ने इस पर चढ़ाई की। कई वर्षों तक लड़ाई लगी रही, अंत में चौहान हारकर साजनी या पिपलौद जा बसे।

मुसलमानी आक्रमण

मालवा में मुसलमानों का अधिकार सन् १३१० ई० में जमा। सन् १३८७ ई० में दिल्लीश के सूबेदार दिलावरखाँ गोरी ने स्वतंत्र होकर अपनी राजधानी मांडू (मांडोगढ़) में जमाई और अपना अधिकार निमाड़ जिले में फैला लिया। इसी वंश में सुलतान होशंगशाह हुआ जिसने और आगे बढ़कर खेरला को जीत लिया। उस समय निमाड़ में जंगली लोग रहते थे; परंतु उनकी संख्या बहुत न थी। इसी कारण बहुत सी जमीन खाली पड़ी थी। इसमें राजपुताना के बहुत से ठाकुर आकर जिले के उत्तरी भाग में बस गए।

पड़िहार

सन् ६४१ ई० में चीनी यात्री युवानच्वांग खजुराहो गया था। उसने लिखा है कि यहाँ का राजा ब्राह्मण है। इससे प्रकट होता है कि सातवीं शताब्दी में इस ओर ब्राह्मणों का राज्य था। उसी जमाने में पड़िहार भी बढ़े थे। ये कन्नौज के महाराजा हर्षवर्धन के मांडलिक थे। ब्राह्मणों का दौरदौरा हटा की ओर चाहे रहा हो, परंतु दमोह तहसील में—विशेषकर दक्षिण और पूर्व की ओर—पड़िहारों ने अपना सिलसिला जमाया था और ब्राह्मणराज के अस्त होने तथा चंदेलों के उदय होने पर भी वे सिंगोरगढ़ की ओर बहुत दिन तक राज्य करते रहे थे। सिंगोरगढ़ का किला गजसिंह नामक पड़िहार का बनवाया हुआ बताया जाता है। पड़िहार उचहरा के पास बहुत दिन से राज्य करते थे। उचहरा का पुराना नाम उच्चकल्प था। उच्चकल्प के महाराजा परिव्राजक महाराजाओं के समकालीन थे। उच्चकल्प के महाराजाओं ने अपने शासन में अपने वर्ण-गोत्रादिक का परिचय नहीं दिया। उच्चकल्प महाराजा कलचुरियों के मांडलिक थे। कलचुरियों की राजधानी त्रिपुरी (जिला जबलपुर के तेवर गाँव) में थी। उनके बल से पड़िहार बहुत दिनों तक रुके रहे। जब कलचुरिये कमजोर हो गए तब पड़िहारों ने चंदेलों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया और वे मुसलमानों के आगमकाल तक उनकी छाया में राज्य करते रहे। पड़िहारों का अंतिम राजा बाघदेव था। उसका राज्य सन् १३०९ ई० में समाप्त हो गया।

जान पड़ता है कि पड़िहार लोग पहिले कलचुरियों के मांडलिक थे और उन्होंने जबलपुर जिले की पश्चिमी सीमा पर सिंगोरगढ़ का किला बनवाया था। इस किले का प्राचीन नाम श्रीगौरिगढ़ बतलाते हैं। जब चंदेलों ने कलचुरियों पर आक्रमण किया तब पड़िहारों को उनके अधीन होना पड़ा। बहुतेरे सतीचौरे सन् ईसवी १३०० और १३०९ के बीच के मिले हैं। उनमें महाराजकुमार बाघदेव का राजत्वकाल लिखा है। दमोह जिले के बम्हनी ग्राम में एक पत्थर में लिखा है 'कालञ्जराधिपति श्रीमद् हम्मीर-वर्मदेव विजयराज्ये संवत् १३६५ समये महाराजपुत्र श्रीबाघदेव भुञ्ज-माने' जिससे स्पष्ट है कि बाघदेव हम्मीरवर्म के आधिपत्य में राज्य करता था। यह हम्मीर कालंजर का चंदेल राजा था। पाटन के सतीचौरे में लिखा है 'संवत् १३६१ समये प्रतिहार रा० श्री बाघदेव भुञ्जमाने' जिससे स्पष्ट है कि बाघदेव चंदेल अथवा पड़िहार था और उसका राज्य सिंगोरगढ़, सलैया और पाटन की ओर फैला हुआ था। पहले सिंगोरगढ़ जबलपुर जिले ही में था। पीछे से दमोह में लगा दिया गया। चंदेलों ने दमोह के नोहटा और जबलपुर की बिलहरी में अपने कामदार रख दिए थे। वहाँ से वे दमोह और जबलपुर जिला के अंतर्गत चंदेल इलाके का शासन करते थे।

चंदेल

चंदेलों को सन् १३०९ ई० में दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन ने राज्यच्युत कर दिया और अपना स्वामित्व जमा लिया। दमोह जिले के सलैया ग्राम के सतीचौरे में संवत् १३६७ पड़ा है और राजत्वकाल अला-उद्दीन का लिखा है। इस जिले में चंदेलों का इतना दौरदौरा रहा कि लोग किसी भी प्राचीन मंदिर को चंदेली राजा का कहते हैं। इसमें संदेह नहीं कि चंदेलों के समय में शिल्पकारी की अच्छी उन्नति हुई और उन्होंने बहुत से सुंदर स्थान बनवाए, जिनमें खजुराहो के मंदिरों की समता उत्तर भारत के बिरले ही मंदिर कर सकेंगे। उनकी कारीगरी देखते ही बन आती है। ग्रंथकर्ता को उनको देखते ही तुलसीदास की विनयपत्रिका के पद का स्मरण आया और उसी के क्रम में यह पद बन गया—

भाई कहि न जाइ का कहिए।
देखत ही रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए।
तल ते शिखर शिखर तें तल लों जहाँ जहाँ हम हेरे।
तिल भर ठौर दिखात कहूँ नहिं जहाँ न चित्र गढ़ेरे।
विश्वनिकाई मनहुँ दिखाई शिल्पकार उत्साहे।
चंदेलन की यशः-चंद्रिका छिटकाई खजुराहे।
विविध भाँति के चित्र भीति पर अनुपम ओज समेतू।
रुचिर सँवारि सुघर सदनन में थापे हरि वृषकेतू॥

कालगति से यह "चन्द्रात्रेयनरेन्द्राणां वंशश्चन्द्र इवोज्ज्वलः। खिलजीवंशशकेन्द्राणां अन्धेन तमसावृतः॥" होकर अंत में इस जिले की ओर का राज्य 'गोंड़वंशभूमीन्द्राणां शीघ्रमेव करतलगतः' हो गया।

द्वादश अध्याय

मुसलमानों का प्रवेश

कुम्हारी इलाके के वीरान मौजा बढ़ैयाखेड़े के संवत् १३६७ के सतीलेख से स्पष्ट है कि उस समय सुलतान अलाउद्दीन का अमल था। यह दिल्लीशाह खिलजी घराने के तृतीय बादशाह अलाउद्दीन मुहम्मदशाह से अन्य नहीं हो सकता। बढ़ैयाखेड़े से चार मील पर बम्हनी गाँव में एक दूसरा सतीचौरा है। उसमें "कालञ्जराधिपति श्रीमद् हम्मीरवर्मदेव विजयराज्ये संवत् १३६५ समये महाराजपुत्र श्रीबाघदेव भुञ्जमाने अस्मिन् काले" लिखा है। इससे स्पष्ट है कि अलाउद्दीन का आधिपत्य सन् १३०८ और १३०९ ई० के बीच में हुआ। अलाउद्दीन ने दक्षिण की दूसरी चढ़ाई १३०९ में की थी। इससे स्पष्ट है कि उसी साल दमोह जिला या उसका भाग मुसलमानों के हस्तगत हुआ। अलाउद्दीन के अन्य वंशधरों का नाम अभी कहीं नहीं मिला परंतु खिलजियों के बाद तुगलकशाही घराने के बाद-

शाहों के राजत्व का जिक्र कई लेखों में पाया जाता है। तुगलक घराने का प्रथम बादशाह गयासुद्दीन था। उसके जमाने का एक फारसी शिलालेख बटियागढ़ में मिला है जिसमें उसका राजत्वकाल[१] स्पष्ट रूप से दर्ज है और हिजरी सन् ७२५ अंकित है, जो सन् १३२४ ई० में पड़ता है।

गयासुद्दीन तुगलक ने सन् १३२० से १३२५ तक राज्य किया। इसने अपने लड़के मुहम्मदशाह को सन् १३२६ ई० में चंदेरी, बदाऊँ और मालवा की फौजों के साथ तिलंगाना जीतने को भेजा था। इसी अवसर में जान पड़ता है कि तुगलकों का पाया इस जिले में दृढ़तर जम गया। बटियागढ़ में एक संस्कृत में लेख मिला है जिसमें संवत् १३८५ (सन् १३२८) पड़ा है और लिखा है कि सुलतान महमूद के समय जीव-जंतुओं के आश्रय के लिये एक गोमठ, एक बावली और एक बगीचा बनवाया गया। उस लेख में महमूद का जिक्र यों है—

"कलियुग में पृथ्वी का मालिक शकेंद्र (मुसलमान राजा) है जो योगिनीपुर (दिल्ली) में रहकर तमाम पृथ्वी का भोग करता है और जिसने समुद्र पर्यंत सब राजाओं को अपने वश में कर लिया है। उस शूरवीर सुलतान महमूद का कल्याण हो[२]।"

दमोह जिले में तुगलकों का राज्य कब तक स्थायी रहा, इसका प्रमाण कुछ नहीं मिलता। परंतु मालूम पड़ता है कि जिस समय मालवा के राजा ने दिल्ली से स्वतंत्र होकर चंदेरी पर चढ़ाई की और उसे अपने वश में कर लिया, तभी से दिल्ली का आधिपत्य दमोह से उठ गया।

१—"ब अह्द शुद गयासुद्दीन व दुनिया बिनाई खैर मैमू गश्त मनसूब।"

२—"अस्तिकलियुगे राजा शकेंद्रो वसुधाधिपः।
योगिनीपुरमास्थाय यो भुंक्ते सकलां महीम्॥
सर्वसागरपर्यन्तं वशीचक्रे नराधिपान्।
महमूदसुरत्राणो नाम्ना शूरोभिनंदतु॥"

पंद्रहवीं शताब्दी के आदि में दिल्ली की ओर से दिलावरखाँ गोरी मालवे का गवर्नर था। यही सन् १४०१ में स्वतंत्र शाह बन बैठा। इसका लड़का होशंगशाह प्रतापी निकला। उसने कालपी तक धावा किया, परंतु चंदेरी में अपना सिलसिला जमाया या नहीं इसका उल्लेख नहीं मिलता। होशंगशाह के मरने के दो साल पश्चात् मालवे का राज्य सन् १४३६ ईसवी में खिलजियों के अधिकार में पहुँचा। ये खिलजी उसी कौम के थे जिन्होंने दिल्ली में तीस साल (सन् १२९०-१३२०) राज्य किया था और जिनके तीसरे बादशाह ने पहले पहल दमोह में मुसलमानी राज्य की जड़ जमाई थी। मालवे का पहला खिलजी राजा महमूदशाह हुआ। फिरिश्ता के इतिहास से ज्ञात होता है कि सन् १४२८ ई० में चंदेरी को अपने ताबे कर लिया। इसलिये उसी साल से समझना चाहिए कि दमोह का संबंध दिल्ली के शाही घराने से टूट गया और दमोह नगर की बढ़ती का आरंभ हुआ, क्योंकि दिल्लीशाही जमाने में नयाबत का सदर मुकाम बटियागढ़ रखा गया था परंतु खिलजियों ने उसके बदले दमोह को मुकर्रर किया।

खिलजी

इस जिले में महमूदशाह खिलजी के समय का कोई चिह्न अभी तक तो नहीं मिला परंतु उसके लड़के गयासशाह के जमाने का एक फारसी शिलालेख दमोह में मौजूद है। उसमें लिखा है कि शहनशाह गयासुद्दुनिया बादशाह के खास खवास मुखलिस मुल्क ने दमोह किले के पश्चिमी दरवाजे की दीवाल सन् ८८५ हिजरी अर्थात् सन् १४८० ई० में बनवाई। गयासशाह सन् १४७५ ई० में तख्त पर बैठा था और सन् १५०० तक उसने राज्य किया। उस जमाने के कई सतीचौरों में भी उसका नाम दर्ज है। यथा, नरसिंहगढ़ के निकटस्थ एक चौरे में लिखा है कि किसी धनसुख की स्त्री संवत् १५४३ (सन् १४८६ ई०) में 'महाराजाधिराज श्री सुल्तान गयासुद्दुनियाशाह विजयराज्ये माड़ोगढ़ विंध्यदुर्गे चंदेरी वर्तमाने' सती हुई थी। सतसूया के पास एक दूसरे चौरे में नासिरशाह का नाम लिखा है और संवत् १५६२ पड़ा है। नासिर-

शाह गयासशाह का लड़का था और सन् १५०० ई० में तख्त पर बैठा था। इसका लड़का महमूदशाह द्वितीय था जिसके जमाने का सन् १५१७ में दमोह खास में एक लेख मिला था। उसमें लिखा है "संवत् १५७० वर्ष माघ बदी १३ सोमदिने महाराजाधिराज राज श्री सुलतान महमूदशाह बिन नासिरशाह राज्ये अस्मै (इसी) दमौव (दमोह) नगरे...दाम बिजाई व मड़वा व दाई व दर्जी ये रकमें" जो गाँव को मुक्ता में ले वह छोड़ दे। यह एक प्रकार का इश्तिहार है। जब यह लिखा गया था उस समय महमूद को तीन ही साल राज्य करते हुए थे। फिरिश्ता लिखता है, सुलतान महमूद अन्य राजाओं की नीति के विपरीत अपनी तलवार के बल राज्य करना चाहता था। अंत में यह फल हुआ कि वह मारा गया और खिलजी घराने को राजत्व से हाथ धोना पड़ा। सन् १५३० ई० में गुजरात के राजा बहादुरशाह ने मालवे को अपने राज्य में मिला लिया।

त्रयोदश अध्याय

मुसलमानी जमाना—फारुकी, इमादशाही, बम्हनी

सन् १३७० ई० में फीरोज तुगलक ने अपने एक योद्धा मलिकखाँ फारुकी को करोंद और तालनेर के परगने बख्श दिए। उस समय वे दूसरों के अधिकार में थे। मलिकखाँ ने इनको जीत और लूटकर बादशाह को ऐसी अच्छी नजर भेजी जिससे उसने खुश होकर मलिकखाँ को खानदेश का सिपह-सालार बना दिया। इसने तालनेर के किले में अड्डा जमा लिया और कोई १२ हजार सवारों की सेना प्रस्तुत कर आसपास का मुल्क अपने अधीन कर लिया और मालवा के गोरियों के घराने में अपने लड़के का विवाह करके अपना पाया अधिक मजबूत बना लिया। सन् १३९९ में वह मर गया, तब उसका लड़का गजनीखाँ, नसीरखाँ नाम धारण कर, राजा बन बैठा। गुजरात के राजा ने उसे खान की पदवी से

फारुकी

विभूषित किया, इसी से उसके मुल्क का नाम खानदेश रखा गया। नसीरखाँ ने असीरगढ़ को जीत लिया और ताप्ती के दोनों ओर दो नगर बसाए। उसने एक का नाम अपने धर्मगुरु जैनुद्दीन के नाम पर जैनाबाद और दूसरे का औलिया शेख बुर्हानुद्दीन के नाम पर बुर्हानपुर रखा। नसीरखाँ ने अपनी लड़की दक्षिण के बहमनी राजा को ब्याह दी, जिससे उसका पाया दृढ़ हो गया यद्यपि पीछे से झगड़ा उत्पन्न हुआ और उसने बरार पर चढ़ाई कर दी परंतु हार गया। तब बहमनी राजा ने बुर्हानपुर पर धावा किया। रोहनखेड़ में लड़ाई हुई, तब नसीरखाँ तैलंग के किले को भाग गया। बुर्हानपुर लूट लिया गया और नसीरखाँ का महल तोड़-फोड़कर नष्ट कर दिया गया। लूट में ७० हाथी और कुछ तोपखाना हाथ लगा। ये उस समय बेशकीमती समझे जाते थे।

नसीरखाँ १४३७ ई० में मर गया तब उसका लड़का मीरन आदिलखाँ उर्फ मीरनशाह राजा हुआ। वह चार ही वर्ष जिया।

मीरन आदिलखाँ और उसकी संतान

उसके पश्चात् उसका लड़का मीरन मुबारकखाँ उर्फ मुबारकशाह चौखंडी गद्दी पर बैठा। उसने सन् १४५७ ई० तक राज्य किया, परंतु इन दोनों के जमाने में कुछ विशेष बात नहीं हुई। मीरनशाह के मरने पर उसका लड़का मीरन गनी उर्फ आदिलखाँ, जिसको आदिलशाह आयना या अहसानखाँ भी कहते थे, राजा हुआ। यह चैतन्य निकला और उसने गोंड़वाने के कई राजाओं को अपने अधीन कर लिया और भील लुटेरों को दबा दिया। उसने असीरगढ़ किले को भी बढ़ाया। सामने का भाग, जो मलईगढ़ कहलाता है, इसी का बनवाया है। बुर्हानपुर में इसने सुघर महल और मस्जिद बनवाई और अपनी पदवी शाह-इ-झारखंड रखी और गुजरात के राजा को कर देना बंद कर दिया। इस पर गुजरात के राजा ने चढ़ाई कर दी, तब उसने असीरगढ़ के किले का आश्रय लिया। गुजरात के राजा ने उसका वहाँ भी पीछा न छोड़ा। अंत में उसको गुजरात के राजा की शर्तें स्वीकार करनी पड़ीं। आदिल-

शाह सन् १५०३ ई० में निस्संतान मर गया तब उसका भाई दाऊदखाँ गद्दी पर बैठा। इसने अहमदनगर के राजा पर चढ़ाई कर दी परंतु असीरगढ़ को लौटना पड़ा और मालवा के राजा से मदद माँगनी पड़ी, जिसका नतीजा यह हुआ कि उसे मांडू के राजा का स्वामित्व स्वीकार करना पड़ा। दाऊदखाँ सन् १५१० ई० में मर गया। वह बुर्हानपुर ही में दफनाया गया। इसके पूर्व उसके सभी पुरखे तालनेर में दफन किए गए थे। उसका लड़का गजनीखाँ गद्दी पर दो ही दिन बैठ पाया कि उसको जहर दे दिया गया। इस प्रकार मीरनशाह की शाखा में अब कोई वारिस न रहा।

आदिलशाह आजिमेहुमायूँ और उसकी शाखा

तब मीरनशाह के भाई कैसरखाँ का पोता आदिलखाँ उर्फ आदिलशाह आजिमेहुमायूँ राजा हुआ। आलमखाँ नामक एक दूर के संबंधी ने झगड़ा उठाया, परंतु वह निष्फल हुआ। आदिलशाह ने १० वर्ष राज्य किया। पश्चात् उसका लड़का मीरन मुहम्मद तख्त पर बैठा। गुजरात का राजा बहादुरशाह इसका मामा था। अपने मामा की सहायता से उसने मालवा पर चढ़ाई करके मांडू छीन लिया और वहाँ से वह राज्य करने लगा। इतने में बहादुरशाह निस्संतान मर गया। इससे मीरन मुहम्मद का भाग्य एकदम चमक उठा। उसको गुजरात की गद्दी दी गई। वह गुजरात की राजधानी को रवाना हुआ, परंतु पहुँचने के पूर्व रास्ते ही में मर गया। तब उसका भाई मीरन मुबारक खानदेश का राजा हुआ। उसने शाह की पदवी धारण की, परंतु उसे गुजरात का राज्य नहीं मिला, क्योंकि वहाँ के अमीरों ने बहादुरशाह के भतीजे को अपना राजा बना लिया। मुबारकशाह ने १५६६ तक राज्य किया। सन् १५६१ ई० में मालवा के राजा बाजबहादुर ने मुगलों द्वारा राज्यच्युत होने पर बुर्हानपुर का आश्रय लिया, तब मुगलों ने बुर्हानपुर को आ घेरा और लूट लिया, परंतु जब मुगल-फौज घर को लौटी तब मालवा, खानदेश और बरार के राजाओं ने मिलकर उसे नर्मदा के किनारे घेरकर काट डाला। परंतु फारुकी वंश के

पतन का आरंभ यहीं से शुरू हो गया। मुबारकशाह के मरने पर उसका लड़का मीरन मुहम्मद खाँ गद्दी पर बैठा। इसने भी गुजरात का तख्त हासिल करने का प्रयत्न किया और व्यर्थ प्रयास में यह अपने सारे हाथी, तोपखाना व अन्य सामान खो बैठा। उल्टे खानदेश पर चढ़ाई हुई और सारा मुल्क लूट लिया गया। शीघ्र ही अहमदनगरवालों ने भी चढ़ाई कर दी और बुर्हानपुर को घेर लिया, तब मीरन मुहम्मद असीरगढ़ में जा छिपा। वह किला भी घेर लिया गया। अंत में चार लाख रुपया देने पड़े तब कहीं छुटकारा मिला। मीरन मुहम्मद सन् १५७६ में मर गया तब उसका भाई राजा अलीखाँ उर्फ आदिलशाह गद्दी पर बैठा। इसी ने बुर्हानपुर की जुम्मा मस्जिद बनवाई जिसमें अरबी और फारसी के लेखों के सिवा एक संस्कृत का लेख है। उसमें फारुकियों की वंशावली लिखी है और मस्जिद के पूरे होने की तिथि विक्रम, शक और हिजरी संवतों में दी है जो ५ जनवरी सन् १५९० ई० में पड़ती है। आदिलशाह ने मुगलों का स्वामित्व स्वीकार कर शाह की पदवी निकाल डाली और वह दक्खिन की चढ़ाइयों में उनकी मदद करने लगा। इन्हीं में उसकी मृत्यु सन् १५९६ ई० में हुई। तब उसका लड़का खिज्रखाँ उर्फ बहादुरशाह राजा हुआ। यह फारुकियों का अंतिम राजा था। उसकी मृत्यु सन् १६०० ई० में हुई। इस प्रकार मलिकखाँ के वंशधरों में एक दर्जन व्यक्तियों ने गद्दी पर बैठकर २०० वर्षों में अपनी राज्य-लीला समाप्त कर दी।

बहादुरशाह अपने बाप की नाईं दूरदर्शी न था। उसने अकबर से वैर कर लिया और अपने बचाव के लिये असीरगढ़ में ऐसा प्रबंध किया कि उसमें दस साल तक घिरे रहने पर भी बाहर से किसी वस्तु के लाने की आवश्यकता न पड़े।

यह सुनकर अकबर ने स्वयं चढ़ाई कर दी और असीरगढ़ को घेर लिया। परंतु घेरे रहने से होता क्या था। किला ऐसा अटूट था कि न उस पर धावा हो सकता था और न सुरंग लगाई जा सकती थी। घेरा डालकर भी किले को फतह न करने से अकबर की बड़ी

बदनामी होती। इससे उसको इसे लेने की बात लग गई परंतु कुछ उपाय नहीं चलता था। उसने किले के सब रास्ते बंद करवा दिए और बुर्हानपुर पर धावा करके राज-महलों में डेरा डाल दिया। फिर असीरगढ़ लौटकर रात-दिन तोपों की मार शुरू की। यह महीने भर तक होता रहा, तब बहादुरशाह को सुलह करने की कुछ सूझी। उसने अपनी माँ और लड़के को अकबर के पास इसी अभिप्राय से भेजा, परंतु अकबर ने कहा कि हम सुलह तब करेंगे जब बहादुरशाह पूर्ण रूप से हमारी शरण आवे। इसके लिये बहादुरशाह तैयार नहीं था। इधर अकबर ने अपनी तोपें बंद नहीं कीं—धूमधड़ाका जारी रखा। तीन महीने इसी तरह बीत गए। इतने में खबर मिली कि मुगलों ने अहमदनगर तोड़ लिया, इससे बहादुरशाह के दिल को धक्का लगा। उधर शाहजादा सलीम अपने बाप से बागी हो गया, इसलिये अब दोनों ओर से निपटारा करने की कुछ इच्छा उत्पन्न हुई।

अकबर और असीरगढ़

यहाँ पर यह बतला देना आवश्यक है कि खानदेश की रीति के अनुसार असीरगढ़ में राजकुल के नजदीकी संबंधियों के सात लड़के काम पड़ने पर गद्दी पर बैठने के लिये तैयार रखे जाते थे। उनको किले के बाहर जाने की आज्ञा नहीं थी। केवल वही बाहर जा सकता था जिसको राजगद्दी मिल जाती थी। बहादुरशाह को भी इस प्रकार इस किले में समय बिताना पड़ा था। अकबरी मोरचे के समय असीरगढ़ का किलेदार एक हब्शी जवान था। वह बड़ा नमकहलाल था, और अकबर की दो लाख फौज का सामना कर रहा था। उसके प्रबंध से मुगलों की तोपों और छापों का किले पर कुछ भी असर नहीं पड़ा। यह देख अकबर ने अब सिंह का वेष त्यागकर लोमड़ी का परिधान ग्रहण किया और छल से काम निकालना चाहा। उसने बहादुरशाह को किले के बाहर आकर मुलाकात करने का निमंत्रण दिया और सुरक्षित लौटा देने के लिये सिरेपादशाह की कसम खाई। बहादुरशाह ने विश्वास कर लिया। वह किले से बाहर निकलकर हाजिर हो गया। उसने गले में रूमाल डालकर नम्रतापूर्वक बादशाह को तीन बार सलाम किया,

परंतु एक मुगल-सरदार ने पीछे से पकड़कर उसे धरती पर दे मारा और कहा कि सिजदा अर्थात् साष्टांग दंडवत् करो। इस उद्दंडता पर अकबर ने कुछ ऐसी ही ऊपर से नाराजी दिखलाकर बहादुरशाह से कहा कि तुम किलेदारों को इसी वक्त हुक्म लिख दो कि किला हमको सौंप दें। बहादुरशाह ने इसे स्वीकार न किया और बिदा माँगी। परंतु वह जबरदस्ती रोक लिया गया। अकबर ने अपनी क़सम की कुछ परवा न की।

किलेदार ने जब यह सुना तब उसने अपने लड़के मुकर्रिबखाँ को, प्रणभंग का विरोध करने के लिये, भेजा। अकबर ने पूछा—क्या तुम्हारा बाप किला सौंपने को तैयार है? इस नवयुवक ने मुँहतोड़ जवाब दिया "बादशाह सलामत! सौंपने की बात तो दूर रही, मेरा बाप आपसे बात करने तक को राजी न होगा। अगर आप हमारे शाह को न छोड़ेंगे तो उनकी जगह के लिये सात शाहजादे तैयार हैं। कुछ भी हो, किला आपको कभी न सौंपा जायगा।" इस उत्तर से बादशाह को इतना गुस्सा आया कि उसने उस दूत को फौरन कत्ल करवा दिया। तब मुकर्रिबखाँ के बाप ने अंतिम संदेशा भिजवाया कि मैं यही प्रार्थना करता हूँ कि मुझे ऐसे बेईमान बादशाह का मुँह कभी देखना न पड़े। फिर रूमाल हाथ में लेकर वह किले के अफसरों और सिपाहियों से बोला "भाइयो! जाड़ा आ रहा है, मुगल फौज ठिठुर कर मर जाने के डर से जल्दी ही वापस चली जायगी। किसी इन्सान की ताकत नहीं कि वह इस किले को धावा या छापा मारकर ले ले। खुदा भले ही ले ले मगर जब तक इसकी हिफाजत करनेवाले धोखा न दें तब तक कोई नहीं ले सकता। ईमानदारी ही इज्जत की बात है, इसलिये आप लोग जोश के साथ किले को बचावें। मेरी जिंदगी अब हो चुकी, मैं उस बेईमान बादशाह का मुँह देखना नहीं चाहता।" इतना कहकर उसने अपने रूमाल को गाँठ लगाकर गले में डाल लिया और फंदा खींच कर प्राण दे दिए। वाह रे हब्शी! इतिहास तेरा नाम तक नहीं जानता, परंतु तू अमर है।

अब अकबर की आँखें खुलीं, क्योंकि छल से भी सफलता न हुई। हजार प्रयत्न करने पर भी किला टूटता ही नहीं था, उधर अपने ही शाहजादे के बिगड़ पड़ने से सल्तनत को भारी धक्का पहुँचने का अंदेशा था। तब उसने सोचा कि अब एक ही उपाय बचा है। वह यह कि रिश्वत से काम लिया जाय। उसने किले के बड़े बड़े सरदारों को सोने और चाँदी से पूर दिया। इन्होंने असीरगढ़ के सात शाहजादों में से किसी को भी गद्दी पर बैठने न दिया और अकबर को किला सौंप देने का प्रबंध किया। इस प्रकार कोई साढ़े दस महीने घिरे रहने के बाद १७ जनवरी सन् १६०१ ई० को असीरगढ़ अकबर के हवाले किया गया। जब दरवाजे खुले तब भीतर बहुत से लोग पाए गए और खाने-पीने का बहुत सा सामान जमा मिला। बहादुरशाह ग्वालियर के किले में और सातों शाहजादे अन्य किलों में कैद रखने के लिये भेज दिए गए। अकबर की बेईमानी छिपाने के लिये अबुलफजल और फरिश्ता सरीखे इतिहासकारों ने लिख मारा है कि असीरगढ़ के किले में जानवरों के मरने से रोग पैदा हुआ। बहादुरशाह ने इसे अकबर का जादू समझा और किले की रक्षा का प्रबंध न करके उसे बादशाह के हवाले कर दिया, परंतु अब सिद्ध हो चुका है कि यह बात बनावटी थी।

असीरगढ़ में अकबर ने अपने लड़के दानियाल को सूबेदार नियुक्त किया और उसके नाम पर खानदेश का नाम दानदेश कर दिया।

मुगल-शासन

दानियाल को शराब पीने की लत लग गई और वह सन् १६०५ ई० में बुर्हानपुर में मर गया। उस समय लुटेरों का बड़ा जोर था, परंतु मुगलों ने उनके दमन का अच्छा प्रबंध किया जिससे उत्तरी हिंदुस्तान, गुजरात और दक्खिन के बहुत लोग इस जिले में आकर बस गए। सन् १६१४ ई० में इँगलैंड का राजदूत सर टामस रो बुर्हानपुर में ठहरा था। उसने इस शहर का वर्णन लिखा है। वह जहाँगीर का जमाना था। बुर्हानपुर ही के निकट जहाँगीर और उसके लड़के शाहजहाँ का युद्ध हुआ था जिसमें शाहजहाँ पराजित हुआ। जहाँगीर की सेना का नायक रायसी

चौहान का वंशज हरौती का राव रतन था। जीत की खुशी में वह बुर्हानपुर का सूबेदार बना दिया गया। पीछे से वह एक लड़ाई में मारा गया। बुर्हानपुर में उसकी एक सुंदर छतरी बनी है। निमाड़ जिले की विशेष वृद्धि शाहजहाँ के समय में हुई। उस समय बुर्हानपुर का बना हुआ कलाबत्तू विलायत को जाने लगा था। उसी जमाने में पानी के नल लगाए गए थे जो अभी तक काम दे रहे हैं। सन् १६७० से मरहठों ने लूटना आरंभ किया और कई पटेलों से चौथ लेना शुरू किया। सन् १६८४ ई० में औरंगजेब ने बुर्हानपुर में मुकाम किया। उसके जाने के पश्चात् लुटेरों ने लूट मचाई। सन् १७०५ ई० में फिर लूट हुई, तब से वहाँ मुगल सेना रहने लगी।

चतुर्दश अध्याय

गोंड़

किंवदंती के अनुसार गोंड़ों का आदि राजा जादोराय था। वह गोदावरी से २० कोस उस पार सहल गाँव के पटैल का लड़का था। वह सिपाहगिरी करने को घर से निकला और चलता-चलता गढ़ा में आ पहुँचा। उस समय गढ़ा का राजा नागदेव था। उसके कोई पुत्र नहीं था। राजा ने राज्याधिकारियों से सलाह ली कि गद्दी का अधिकारी कौन बनाया जाय। उन्होंने कहा कि इस बात को ईश्वरेच्छा पर छोड़ दीजिए; नर्म्मदा के किनारे लोगों को जमा करके एक नीलकंठ छोड़ा जाय। वह जिसके सिर पर बैठ जाय उसे समझिए कि दैव राजा बनाना चाहता है। ऐसा ही किया गया। नीलकंठ जादोराय के सिर पर बैठ गया। राजा ने उसे अपना उत्तराधिकारी बना लिया और अपनी कन्या रत्नावली उसे ब्याह दी।

गोंड़-वंशोत्पत्ति

गढ़ा-राज्य के वंशज दमोह के सिलापरी गाँव के मालगुजार हैं। उनके कथनानुसार कटंगा-निवासी सकतू गोंड़ का पोता धारूसाह प्रथम

राजा हुआ। सकतू की कुमारी लड़की गवरी से एक नाग ने नर-देह धारण कर समागम किया, तब धारूसाह पैदा हुआ और नागराज के वर से उसको राजत्व प्राप्त हुआ। किंतु सिलापरी के वंशवृक्ष में आदि-पुरुष जादोराय ही बतलाया गया है और उसका निवास-स्थान महोड़खेड़ा लिखा है। जादोराय के बाप का नाम भोजसिंह और निवास-स्थान मोठाकट गाँव लिखा है परंतु ये ग्राम कहाँ हैं, इसका कुछ पता नहीं दिया गया। इन दोनों कथाओं से यही झलकता है कि गढ़ा का राजवंश किसी विदेशी आगंतुक की संतान है जिसने किसी स्थानीय दरिद्र गोंड़िनी से विवाह कर लिया और उसकी संतति को, कलचुरियों की क्षीणावस्था में, किसी प्रकार अधिकार प्राप्त हो गया। संभव है कि आंध्रविजय के समय कोई जादोराय नामी सरदार आया हो और गढ़ा के उचक्के प्रथम राजा ने, कुलीनता स्थापित करने के लिये, उसे अपना मूल पुरुष स्थिर कर लिया हो और उसके और अपने बीच का काल भरने के लिये यथावश्यक नाम बना या बनवा लिए हों। जाँच करने से तो नामावली नकली जान पड़ती है। परंतु राजा हिरदयशाह ने अपने को ५२वीं पीढ़ी में रखकर उसे श्लोकबद्ध कराया और पत्थर पर खुदा कर चिरस्थायी कर दिया है।

यथार्थ मूल

ऐतिहासिक दृष्टि से इस नामावली के प्रथम ३३ नाम प्रायः सभी कल्पित जान पड़ते हैं। ३४वीं पीढ़ी में मदनसिंह का नाम आता है और ४८वीं में संग्रामशाह का। संग्रामशाह वास्तव में ऐतिहासिक पुरुष है। इसने अपने नाम की सोने की पुतलियाँ चलाई थीं, जो कुछ दिन हुए गढ़े ही में एक दफीने में मिली थीं। उनमें संग्रामशाह का नाम और संवत् १५७० अर्थात् १५१३ ई० पड़ा है। इसी संवत् का दमोह जिले के ठर्रका ग्राम में एक शिलालेख है। उसमें उसका नाम खुदा है। ठर्रका के लेख में संग्रामशाह का नाम आमणदास देव लिखा है। उसका यही नाम मुसलमानी तवारीखों में पाया जाता है। मदन-सिंह और संग्रामशाह के बीच १४ पीढ़ियों का अंतर है। प्रति पीढ़ी के

लिये २० वर्ष की औसत लेने से २८० वर्ष का अंतर बैठता है। अन्य सिद्धांतों से संग्रामशाह का राजत्वकाल सन् १४८० ई० से १५३० तक ठहराया गया है। यदि १४८० ईसवी में से २८० वर्ष घटाए जायँ तो १२०० ई० का काल आता है जो कलचुरियों के अंत और गोंड़ों के उदय का समय है। इससे यही अनुमान होता है कि गोंड़वंश का मूलपुरुष मदनसिंह था जिसने अपने नाम पर अनगढ़ चट्टानों पर महल बनवाया जो आज तक मदन-महल कहलाता है और मध्य प्रदेश के प्रेक्षणीय स्थानों में गिना जाता है। महल बहुत बड़ा नहीं है, पर्वत-निवासियों के योग्य ही है और पूर्ण रूप से उनकी अभिरुचि का दर्शक है। कदाचित् ऐसा स्थान महलायत के लिये पार्वतीय लोगों के सिवा और किसी को सूझ भी न पड़ता। क्या जाने, मदनसिंह के उत्तराधिकारी इस महल में रहते थे या नहीं परंतु संग्रामशाह ने उसका जीर्णोद्धार कराया और उसमें जाकर वह रहा भी। मदन-संग्राम-मध्यस्थ केवल १३ राजाओं के नाम मात्र प्राप्त हैं। उनके शासन या कर्तव्य का कोई लेख या वार्ता प्राप्य नहीं है। मदनसिंह का पुत्र उग्रसेन था। उसका पुत्र रामसिंह और उसका ताराचन्द्र (किसी-किसी के अनुसार रामकृष्ण) हुआ। उसका उदयसिंह, उसका मानसिंह, उसका भवानीदास, उसका शिवसिंह, उसका हरनारायण, उसका सबलसिंह, उसका राजसिंह और उसका दादीराय हुआ। दादीराय का पुत्र गोरखदास, उसका अर्जुनदास और उसका आम्हणदास अथवा अमानदास हुआ। इसी अमानदास ने पीछे से संग्रामशाह की पदवी धारण की और मूल नाम का उपयोग ही करना छोड़ दिया। बैतूल जिले के बानूर ग्राम में एक ताम्रपत्र संवत् १४२७ का मिला था। उसमें लिखा था कि प्रौढ़प्रताप चक्रवर्ती महाराजाधिराज अचलदास ने दो कुओं का उद्यापन करके जनार्दन उपाध्याय को आमादह ग्राम दान में दिया। यह ग्राम बानूर से ४ मील पर अब भी विद्यमान है। मध्य प्रदेश के इतिहास में अचलदास राजा का कोई पता नहीं चलता। ताम्रपत्रों में बहुधा दान देनेवाले के वंश का वर्णन रहता है, परंतु इस ताम्रपत्र में मानो

वह जान बूझ कर नहीं लिखा गया। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि अचलदास किसी ऐसे वंश का था जिसके उल्लेख से महत्त्व के बदले हीनता देख पड़ती। अचलदास का समय राजसिंह या दादीराय के जमाने में पड़ता है। बैतूल जंगली जिला और आरंभ से गोंड़ों का निवास-स्थान रहा है। वहाँ गोंड़ों का राज्य होना असंगत नहीं है। इससे कल्पना हो सकती है कि अचलदास ही इन दोनों में से किसी का मूल नाम रहा हो। दादी या दादू लाड़ के शब्द हैं। दादीराय के लड़के, पोते, पड़पोते सभी के नामों के अंत में दास लगा है, इससे उसका नाम दासांतक होना संभव है। कदाचित् दादीराय और अचलदास एक ही व्यक्ति हो। यदि ऐसा ही हो तो अचलदास की विरुद से सिद्ध होगा कि गोंड़ निवासांचल में छोटे मोटे राजा उसके अधीन थे। उसकी बराबरी वाला दूसरा राजा नहीं था। इससे मानना पड़ेगा कि गोंड़ों ने १४वीं शताब्दी के चतुर्थ पाद में अपने राज्य की नींव अच्छी जमा ली थी। दादीराय के पुत्र गोरखदास ने जबलपुर के निकटस्थ गोरखपुर बसाया। उसके लड़के अर्जुनदास की कीर्ति का कोई चिह्न उपलब्ध नहीं है।

संग्रामशाह

बता चुके हैं कि संग्रामशाह अर्जुनदास का लड़का था। उसका असली नाम अमानदास या आम्हणदास था। बाल्यावस्था में वह बड़ा नटखट और क्रूर था। बाप ने कई बार उसे शिक्षा दी; बंद करके रखा और सौगंदें कराईं कि अब कभी कुचाल न चलेगा, परंतु इससे होता क्या था? संग्रामशाह ने अपनी चाल न छोड़ी। एक बार वह कुछ गड़बड़ करके डर के मारे बघेलखंड के राजा वीरसिंहदेव के पास भाग गया। इससे अर्जुनदास ने उसे युवराजत्व से च्युत कर दिया। जब उसको यह खबर मिली तब वह तुरंत वापिस आया और षड्यंत्र रचकर उसने अपने बाप ही को मार डाला और स्वयं गद्दी पर बैठ गया।[1] जब वीरसिंहदेव ने सुना कि अमान-

१—वीरसिंहदेव संवत् १६६२ में गद्दी पर बैठा था और संग्रामशाह का समय संवत् १५३७—१५६६ माना जाता है। यदि उक्त दोनों संवत् ठीक हैं तो यह

दास ने पितृ-हत्या की है, तब उसने गढ़े पर चढ़ाई कर दी; परंतु अमानदास सामना न करके दस-पाँच आदमियों के साथ वीरसिंहदेव के पास जा खड़ा हुआ और उसने रो-गाकर उसको मना लिया। अमानदास की बालचाल बाल्यकाल के साथ गई। जब उसने राज्य की बागडोर अपने हाथ में ली, तब उसने अपने राज्य की वह वृद्धि की, जो उसके पूर्वजों ने सोची तक न थी, और जिसको उसके पश्चात् उसकी संतति कभी लाँघ न सकी। उसके पोते के पोते हिरदयशाह की शिलांकित वंशप्रशस्ति में सगर्व उल्लेख किया गया है कि संग्रामशाह ने समग्र पृथ्वी जीत ली थी और ५२ गढ़ स्थापित किए थे*।

गोंड़ों में तो एक कहावत हो गई है कि 'आमन बुध बावन में'। बपौती में अमान को तीन-चार गढ़ मिले थे, शेष उसके निज

घटना निराधार हो जाती है। किंतु एक लेखक ने लिखा है कि बघेलखंड के प्रसिद्ध वीरसिंहदेव का समय १५५७ वि० से १५६७ वि० तक है। वास्तव में बांधवेश (बघेलखंड) वीरसिंहदेव और ओरछाधिप (बुंदेलखंड) वीरसिंहदेव दो विभिन्न नृपति हैं। अतः वर्णित घटना में समय की विषमता नहीं आती।—सं०

* बावनगढ़ ये थे—१ गढ़ा, २ मारूगढ़, ३ पचेलगढ़, ४ सिंगोरगढ़, ५ अमोदा, ६ कनोजा, ७ बगसरा, ८ टीपागढ़, ९ रामगढ़, १० परतापगढ़, ११ अमरगढ़, १२ देवगढ़, १३ पाटनगढ़, १४ फतहपुर, १५ निमुआगढ़, १६ भँवरगढ़, १७ बरगी, १८ घुनसौर, १९ चाँवड़ी (सिवनी), २० डोंगरताल, २१ कोरवा (करवा) गढ़, २२ झंझनगढ़, २३ लाफागढ़, २४ सौंटागढ़, २५ दियागढ़, २६ बांकागढ़, २७ पवईकरहिया, २८ शाहनगर, २९ धामोनी, ३० हटा, ३१ मड़ियादो, ३२ गढ़ाकोटा, ३३ शाहगढ़, ३४ गढ़पहरा, ३५ दमोह, ३६ (रहली) रानगिर, ३७ इटावा, ३८ खिमलासा (खुरई), ३९ गढ़गुन्नौर, ४० बारीगढ़, ४१ चौकीगढ़, ४२ राहतगढ़, ४३ मकड़ाई, ४४ कारौबाग (कारुबाघ), ४५ कुरवाई, ४६ रायसेन, ४७ भौंरासो, ४८ भोपाल, ४९ उपतगढ़, ५० पनागर, ५१ देवरी, ५२ गौरझामर। ये गढ़ सागर, दमोह, जबलपुर, सिवनी, मंडला, नरसिंहपुर, छिंदवाड़ा, नागपुर, होशंगाबाद और बिलासपुर तक फैले हुए थे। इनमें से अब कितने ही स्थान इस समय उजाड़ हैं।

भुजोपार्जित थे। उसने जो संग्रामशाह की पदवी धारण की उसका वह पूर्ण रूप से पात्र था। मुसलमान इतिहासकारों का कथन है कि यह नाम वीरसिंहदेव ने सन् १५२६ ई० में रखाया था, जब अमानदास ने गुजरात के बहादुरशाह की लड़ाई में वीरसिंहदेव को सहायता दी थी। यह ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि आमणदास के सन् १५२६ ई० के पूर्व के सिक्कों में संग्रामशाह नाम अंकित है। स्थानीय लेखों से ज्ञात होता है कि उसने संवत् १५४१ (सन् १४८४ ई०) में यह पदवी धारण की। जब उसकी सेना माडौगढ़ के सुलतान से हार गई और गढ़ा शत्रु के हाथ में चला गया तब उसने स्वयं जाकर केवल एक सहस्र सवारों की सहायता से शत्रुदल को तितर-बितर कर सुलतान के निशान इत्यादि छीन लिए। संग्रामशाह ने गढ़ा के आस-पास कई तालाब, मंदिर, मठ इत्यादि बनवाए और जीर्ण स्थानों की मरम्मत करवाई, नवीन ग्राम बसाए तथा अन्य प्रांत के लोगों को अपने ग्रामों में बसने के लिये उत्साहित किया। गढ़ा का संग्रामसागर तालाब उसी का बनवाया है। वहीं पर भैरव का एक बाजना मठ है। संग्रामशाह के इष्टदेव भैरव ही थे। एक तांत्रिक ने आकर उन्हीं भैरवजी को संग्राम-शाह की बलि देने का मंसूबा किया। परंतु राजा ऐन वक्त पर ताड़ गया और उसने तांत्रिक ही का बलिदान कर डाला। उसने मदनमहल और सिंगोरगढ़ की मरम्मत करवाई और एक गाँव, अपने नाम पर, पिछले गढ़ के पास बसा दिया। वह अब भी संग्रामपुर कहलाता है। चौरा-

स्लीमन के लेखानुसार हरएक बड़े गढ़ में ७५० गाँव थे। केवल अमोदा में ७६० थे; छोटों में ३५० या ३६० थे। ३५० वाले नंबर ४,१२,२४,२५,४६ और ३६० वाले नंबर १३,१६,१६,३१,३२,३४,३६,४१,४२,४८ हैं। ग्रामसंख्या का योग ३५६८० है। परंतु अबुलफजल ने ८०,००० लिखा है। यदि हरएक गढ़ में डेढ़ डेढ़ हजार गाँव रहे हों तो अवश्य आइने अकबरी की संख्या शुद्ध समझी जा सकती है। वर्तमान जबलपुर जिला संग्रामशाह के कई गढ़ों के विभागों से बना है; यथा—गढ़ा, पचेलगढ़, अमोदा, कनौजा, पाटनगढ़, दियागढ़ और बरगी।

गढ़ का किला भी इसी ने बनवाया और अपने नाम के सिक्के चलाए। इसके सुवर्ण-सिक्कों पर एक विशेषता पाई जाती है। वह यह कि उन पर न केवल हिंदी में ही नाम लिखा वरन तिलंगी में भी खोदवा दिया है। यह उसके मातृ-भूमि के स्नेह का सूचक है।

संग्रामशाह ने ५० वर्ष राज्य किया। उसके पश्चात् उसका लड़का दलपतिशाह राजा हुआ। उसने सिंगोरगढ़ में रहना पसंद किया।

दलपतिशाह का विवाह महोबे के चंदेल राजा की रूपवती कन्या दुर्गावती से हुआ था। दुर्गावती ने अपना सौभाग्य चार ही वर्ष भोग पाया था कि दलपतिशाह चल बसा।

दुर्गावती

रानी ने अपने नाबालिग पुत्र वीरनारायण की ओर से राज्य की बागडोर अपने हाथ में ली और १५ वर्ष तक बड़ी योग्यता के साथ शासन किया। उसने प्रजा के हितार्थ अनेक उपयोगी काम बनवाए और अपने राज्य में अमन-चैन फैलाया। इस वृद्धि को देखकर कड़ा-मानिकपुर के नवाब आसिफखाँ का जी ललचाया और उसने इस विधवा से राज्य छीन लेने का विचार किया। बहाना ढूँढ़ने को कुछ देर न लगी।

कहते हैं, दुर्गावती रानी को अकबर बादशाह की ओर से एक सोने का रहँटा (चरखा) इस अर्थ से नजर किया गया कि स्त्रियों का काम चरखा चलाना है, राज्य करना नहीं। इसके प्रत्युत्तर में रानी ने एक सोने का पींजन बनवाकर भिजवा दिया, मानों यह कहला भेजा कि यदि मेरा काम चरखा चलाना है तो तुम्हारा पींजन से रुई धुनकना है। इस पर बादशाह बहुत नाराज हो गया। कुछ लोग कहते हैं कि दुर्गावती के पास एक श्वेत हाथी था। वह अकबर बादशाह ने अपने लिये माँगा। रानी ने इनकार किया। इस बात पर वह नाराज हो गया और आसिफखाँ को चढ़ाई करने का हुक्म दे दिया। चरखा और पींजन का किस्सा तो किस्सा ही मालूम पड़ता है, परंतु चढ़ाई अवश्य की गई। उस जमाने में लड़ाई करने के लिये कोई कारण ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। बाहुबल ही उचित कारण समझा जाता

था। अंत में आसिफखाँ सन् १५६४ ई० में ६ हजार सवार और १२ हजार पैदल सिपाही लेकर सिंगौरगढ़ पर चढ़ आया। दुर्गावती ने तुरंत सामना किया, परंतु उसकी सेना तैयार नहीं थी, वह शिक्षित सिपाहियों के सामने नहीं ठहर सकी। किले में घिर जाने के बदले रानी ने गढ़ा जाकर लड़ाई करने का विचार किया, परंतु शत्रु उसके पीछे हो लिए और उसे गढ़ा में प्रबंध करने का मौका नहीं दिया। तब रानी ने मंडला की ओर कूच किया और १२ मील चलकर घाटियों के बीच एक सँकरी जगह पाकर वहाँ पर मोरचा जमाया और लड़ाई ली। शत्रुओं के आक्रमण करते ही गोंड़ों ने ऐसी मार मारी कि उनके पैर उखड़ गए। गोंड़ लोग केवल तीर-कमान और बरछी-तलवार ही से लड़ते थे। उनके पास तोपें नहीं थीं। आसिफखाँ के पास तोपखाना था। किंतु घाटी की लड़ाई में वह वक्त पर पहुँच नहीं पाया था, इसलिये पहले दिन उभय पक्ष के समान अस्त्र-शस्त्र द्वारा युद्ध हुआ। दूसरे दिन रानी हाथी पर सवार होकर, घाटी के मुख पर, लड़ने के लिये स्वयं उपस्थित हुई। उसकी सेना जी-तोड़कर लड़ने के लिये खड़ी थी और इसमें संदेह नहीं कि उस दिन वह शत्रुओं को मटियामेट कर डालती, परंतु आसिफखाँ के भाग्य से ऐन वक्त पर तोपखाना आ पहुँचा। फिर क्या था, एक ओर से तोपों की मार, और दूसरी ओर से तीरों की बौछार होने लगी। विषम शस्त्रों से बराबरी क्योंकर हो सकती। इतने पर भी रानी तनिक भी न डरी, वह अपने हाथी पर से बाण-वर्षा करती रही। इतने में एक तीर आकर उसकी आँख में लगा और जब उसने उसे खींचकर फेंक देना चाहा तो उसकी नोक टूटकर आँख के भीतर ही रह गई। इतना बड़ा कष्ट होने पर भी रानी ने पीछे हटने से इनकार किया। गोंड़ फौज के पीछे एक छोटी सी नदी थी। वह युद्धारंभ के पूर्व सूखी पड़ी थी; परंतु इस दिन के शुरू होते ही उसमें अकस्मात् इतनी बाढ़ आ गई कि उसको हाथी भी पार नहीं कर सकता था। दोनों ओर से फौज का मरण दिखता था। आगे से तोपें, पीछे से पानी का प्रवाह! फिर भी इस दृढ़-संकल्प नारी का मन बिलकुल न डिगा। उसके महावत ने प्रार्थना की कि हुक्म हो तो मैं किसी

तरह हाथी को नदी के पार ले चलूँ। परंतु वीर नारी दुर्गावती दुर्गा ही थी। उसने उत्तर दिया कि नहीं, मैं या तो शत्रु को मार हटाऊँगी या यहीं मर जाऊँगी। इतने में ही एक दूसरा बाण उसके गले पर गिरा। सेना में किसी ने यह खबर फैला दी कि कुमार वीरनारायण को वीरगति प्राप्त हो गई। तोपों की मार, पानी की बाढ़, कुमार की मृत्यु और रानी की घायल दशा देख गोंड़-सेना अधीर होकर तितर-बितर होने लगी। इसी समय शत्रुओं ने बढ़कर रानी को चारों ओर से घेरना चाहा। जब रानी ने देखा कि अब बचने की आशा नहीं है, तब उस धीरा वीरा ने अपने महावत के हाथ से कटार छीनकर वीर-गति का अवलंबन किया। बरेला के निकट जिस स्थान पर रानी हाथी से गिरी थी वहाँ पर एक चबूतरा बना दिया गया है। जो कोई वहाँ से निकलता है, श्वेत पत्थर उठा कर उस चबूतरे के निकट अर्घ्यरूप डाल देता है, मानो उस वीर नारी की धवल कीर्ति का स्मरण कराता है।

आसिफखाँ ने वहाँ से चलकर चौरागढ़ पर धावा किया और रानी का सब माल लूट लिया और आग लगाकर उसे विध्वंस कर डाला। अवसर पाकर आसिफखाँ ने स्वतंत्र राजा बन जाना चाहा, इसलिये गढ़े में कुछ दिन ठहरकर वह सिलसिला जमाता रहा, परंतु ठीक न जम पाया। अंत में उसने इस विद्रोह के लिये अकबर से क्षमा माँग ली और वह अपने पुराने स्थान को लौट गया।

अकबर ने गढ़ा का राज्य अपनी सल्तनत में शामिल कर लिया परंतु गोंड़ घराने को कायम रखा। वीरनारायण अपनी वीर माता के साथ वीरभूमि में वीरलीला दिखलाकर वीरलोक को गमन कर गया था, इसलिये अकबर ने दलपतिशाह के भाई चंद्रशाह से १० गढ़ नजर लेकर उसको गढ़े की गद्दी पर बिठा दिया। इस प्रकार गोंड़ों का अधिकार इस जिले में बना रहा परंतु उनकी स्वतंत्रता चली गई।

चंद्रशाह ने थोड़े ही दिन राज्य किया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके दूसरे लड़के मधुकरशाह ने अपने बड़े भाई को धोखा देकर मार डाला और वह आप गद्दी पर बैठ गया। पीछे से उसको अपनी करनी

पर इतना पश्चात्ताप हुआ कि उसने एक खोखले पीपल के पेड़ में बंद होकर आग लगवा ली और इस प्रकार अपने प्राण देकर प्रायश्चित्त कर डाला। तब उसका लड़का प्रेमनारायण गद्दी पर बैठा। मधुकरशाह की मृत्यु के समय प्रेमनारायण दिल्ली में था। चलते समय यह ओड़छे के राजा वीरसिंहदेव[१] से नहीं मिल पाया। इसको वीरसिंह ने इतना बड़ा अपमान समझा कि मरते समय अपने पुत्र जुझारसिंह से सौगंध करा ली कि इसका बदला पूरे तौर से लिया जाय।

गोंड़ लोग हल में गाय-बैल दोनों को जोतते हैं।[२] किंतु गाय का जोतना हिंदू लोग निंदनीय समझते हैं। कहते हैं, यही बहाना खड़ा कर जुझारसिंह ने प्रेमनारायण पर चढ़ाई कर दी और उसको मारकर अपने बाप का वैर भँजा लिया। कोई कोई कहते हैं कि जुझारसिंह स्वयं लड़ने नहीं गया, उसका भाई पहाड़सिंह गया था। जो हो, गाय की गुहार पहाड़सिंह के प्रति की गई जान पड़ती है। इसका एक कवित्त है, जिसका अंतिम चरण यों है 'बीरसिंहदेव के प्रबल पहाड़सिंह तेरी बाट जोहती हैं गाएँ गोंड़वाने की।'

हिरदयशाह

प्रेमनारायण के लड़के हिरदयशाह को अपने बाप के मारे जाने की खबर दिल्ली में मिली। वहाँ से वह तुरंत रवाना हुआ और बुंदेलों पर आक्रमण कर जुझारसिंह का सिर काट लाया। वह अपनी राजधानी को मंडला से हटाकर रामनगर ले गया और वहाँ उसने किला और महल बनवाए। यही एक गोंड़ राजा है जो एक शिलालेख छोड़ गया है। उसमें गोंड़ों की बड़ी भारी वंशावली दर्ज है। इस राजा ने ७० वर्ष राज्य किया।

हिरदयशाह के मरने के बाद इसका लड़का छत्रशाह केवल ७ वर्ष राज भोग कर मर गया। तब उसका लड़का केशरीसिंह गद्दी

१—वीरसिंहदेव का समय घटना को गड़बड़ में डालता है।—सं०

२—जो गाय गाभिन नहीं होती वह यदि जोती जाने लगती है तो उसमें प्रायः गर्भ धारण की क्षमता आ जाती है। आज कल इस मत का प्रचार है। कदाचित् गोंड़ों की भी यही धारणा रही हो।—सं०

पर बैठा परंतु शीघ्र ही घर में फूट उत्पन्न हुई। केशरीसिंह मारा गया और उसका चचा हरीसिंह गद्दी पर बैठा, परंतु लोगों ने हरीसिंह को मारकर केशरीसिंह के लड़के नरिंदशाह को राजा बनाया। तब हरीसिंह के लड़के पहाड़सिंह ने औरंगजेब की शरण ली और वह मुगल सेना चढ़ा लाया। नरिंदशाह हार गया परंतु पहाड़सिंह खेत रहा। तब उसके दोनों लड़के भाग गए और फिर दिल्ली जाकर मदद माँगी, परंतु उनका प्रयास निष्फल हुआ। अब उन्होंने एक नई युक्ति सोची। अपना धर्म्म बदल डाला—वे मुसलमान हो गए। इस तरकीब से उनको मदद मिल गई और नरिंद-शाह से एक बार फिर लड़ाई छिड़ी। अंत में वे दोनों भाई मारे गए। इसके बाद नरिंदशाह निश्चिंत तो हो गया परंतु इन झगड़ों में पड़ने से उसका राज्य क्षीण हो गया। उसको अनेक राजाओं से सहायता लेनी पड़ी और उसके बदले में कई गढ़ नजर करने पड़े। इसी प्रकार गद्दी पर कायम रखने के बदले में उसे मुगलों को ५ गढ़ नजर करने पड़े।

नरिंदशाह सन् १७३१ ई० में मर गया। तब उसका लड़का महाराजशाह गद्दी पर बैठा। संग्रामशाह के बावन गढ़ों में से केवल २९ उसके हाथ लगे। महाराजशाह को निर्बल देख पेशवा की लार टपकी। उसने मंडला पर चढ़ाई करके महाराजशाह को मार डाला और उसके लड़के शिवराजशाह को गद्दी पर बैठा ४ लाख रुपया सालाना चौथ मुकर्रर कर दी। नागपुर के भोंसले ने चौथ वसूल करने के बहाने गोंड़ों को दबाना शुरू किया और उसने छः गढ़ अपने लिये ले लिए। शिवराजशाह सन् १७४९ ई० में मर गया। तब उसका लड़का दुर्जनशाह गद्दी पर बैठा। यह बड़ा क्रूर और दुष्ट था। उसके चचा निजाम-शाह ने मौका पाकर उसे कत्ल करवा दिया और वह आप राजा बन गया।

निजामशाह होशियार आदमी था। उसने अपने राज्य की उन्नति करने की चेष्टा की। परंतु पुराना वैभव कैसे लौट सकता था। उसके मरने पर गद्दी के लिये फिर बखेड़ा उत्पन्न हुआ। आखिरकार उसके भतीजे नरहरशाह को गद्दी मिली, परंतु उससे और नागपुर के

मरहठों से झगड़ा उत्पन्न हो गया। नरहरशाह गद्दी से उतार दिया गया और निजामशाह का लड़का सुमेरशाह राजा बनाया गया। यह बात सागर के मरहठों को पसंद न हुई। इसलिये उन्होंने सुमेरशाह को निकालने की कोशिश की। सुमेरशाह ने अपना पाया उखड़ता देख कुछ शर्तों पर नरहरशाह को फिर गद्दी पर बैठाने की बातचीत चलाई। सागरवालों ने उसे शर्तें ठहराने के लिये बुला भेजा। विश्वास का बँधा वह बेचारा चला गया परंतु उसके साथ दगा की गई। मरहठों ने उसे पकड़कर सागर के क़िले में कैद कर दिया और नरहरशाह को गद्दी पर बैठा दिया। सागर के मरहठे नरहरशाह को कठपुतली सा नचाने लगे। जब उसको यह ज्ञात हुआ कि मैं नाम ही का राजा हूँ, तो उसने मरहठों को निकालने पर कमर कसी; इस पर मरहठों ने उसे पकड़कर खुरई (जिला सागर) के किले में कैद कर दिया। वहाँ पर उसने सन् १७८९ में मृत्यु पा गढ़ामंडला के गोंड़-राजघराने की लीला समाप्त कर दी।

गोंड़

गोंड़ जंगली जाति है, जंगलों में रहती आई है। इसलिये उसका सुख-संपत्ति से संपर्क सदैव ही कम रहा। अब भी उसकी दशा कुछ सुधरी नहीं है। सहस्रों गोंड़ों के पास आज भी लँगोटी के सिवा दूसरा शरीर-आच्छादन न मिलेगा। जैसा उनका सादा वेष है वैसा ही सादा खाना-पीना है। अपने आप उत्पन्न होनेवाले कंदमूल और जंगली फल-फूल, पत्ते—यथा महुआ, चार, तेंदू, भेलवाँ, केवलार आदि—उनका खाद्य रहा है और अब भी है। इसके सिवा ईश्वर के पैदा किए चूहों से लेकर बारहसिंगा तक अनेक जीव-जंतु भरे पड़े थे। अनगिनती पक्षी वृक्षों का आसरा लेते थे। ये मानों गोंड़ों ही के लिये बनाए गए थे। घरेलू जानवरों से भी उन्हें परहेज न था। बकरे, मेढ़े, गाय, भैंस, बैल सभी उनके काम आ सकते थे। शौक की वस्तु शराब थी। महुए के झाड़ों की कमी नहीं थी। आबकारी का महकमा था नहीं। इसी में गोंड़ों की चैन की वंशी बजती थी। इन सब कारणों से गोंड़ों के

लिये खेती-पाती करने की कुछ आवश्यकता नहीं थी। अपनी ही जाति का राजा पाकर ये अपने जंगलों में शेर के समान स्वतंत्र विचरते थे। वनज वस्तुओं पर इनका पूरा अधिकार था, फिर ये क्यों किसी प्रकार का परिश्रम करते ? इसी कारण गोंड़-राज्य का बहुत सा भाग जंगल बना रहा, यहाँ तक कि अकबर के समय में गढ़ा के जंगलों में जंगली हाथी पाए जाते थे, जो पकड़कर बहुधा कर में दिए जाते थे। इन कारणों से आल-ह्यदेव ने गोंड़ जाति पर अपना पूरा अधिकार जमा लिया था।

अब रही हिंदू प्रजा, उसको अपने पोषण के लिये उद्योग करना ही पड़ता था। जनसंख्या अधिक नहीं थी, उर्वरा भूमि की अधिकता थी, भूमि को अदल बदलकर जोतने से उपज अच्छी होती थी, इससे उनके लिये भी आराम था। कर-स्वरूप पैदावार के भाग लेने की जो प्रथा प्राचीन काल से चली आती थी, वही स्थिर रही। उस जमाने में आवश्यकताएँ कम थीं; खाने-पीने, ओढ़ने-बिछाने और धातुओं द्वारा शरीर को आभूषित करने के सिवा और कोई शौक न तो ज्ञात था, न उसकी चाह थी। इसलिये हिंदू भी सरलता से जीवन बिताते थे और प्रायः घर के एक मुखिया के परिश्रम से संपूर्ण कुटुंब का भरण-पोषण हो जाया करता था।

गोंड़-धर्म

गोंड़ आदिम अवस्था के लोग थे, इससे उनका धर्म भी आदिम अवस्था का था। वे बड़े देव को पूजते थे और उसे गाय-बैल चढ़ाते थे। राजा गोंड़ होने से यही राजधर्म बन जाता, यदि हिंदू इन राजाओं को अपने हाथ में न ले लेते। वे जानते थे कि मूर्ख जंगली गोंड़ों को हाथ में लाना कठिन नहीं है, इसलिये उन्होंने राजवंश को अलग करने की चेष्टा की और गोंड़ जाति के दो विभाग करा दिए—एक राजगोंड़ और दूसरे खर अर्थात् असल गोंड़। राजगोंड़ों में हिंदू प्रथाएँ चला दीं, उनका जनेऊ करवा दिया और उनके मन में भर दिया कि वे उच्च राजपूत-जातीय हैं और नीच खर गोंड़ों से भिन्न हैं। राजकुल की एक लंबी-चौड़ी वंशावली प्रस्तुत कर दी और यह कथा प्रचलित कर दी गई कि मूल पुरुष जादो-

राय क्षत्रिय था। उसने गोंड़ राजा की लड़की से विवाह किया था और वह गोंड़ों की गद्दी का अधिकारी बन गया था, इसलिये वह गोंड़ कहलाने लगा था। उसने गोंड़-कुमारी रत्नावली के हाथ का भोजन भी नहीं किया। गढ़ा में आने के पूर्व उसका विवाह क्षत्रिय-वंश में हो गया था और उसके पीछे जो राजा हुआ वह पहली स्त्री का लड़का था, न कि रत्नावली का। अहं किसको वश में नहीं कर लेता? गोंड़ राजा अपने वंश-पुराण से निस्संदेह बहुत प्रसन्न हो गए होंगे। उन्होंने जंगली गोंड़ों से जाति-व्यवहार छोड़ दिया और अपने संबंधियों की अलग पंक्ति बना ली और हिंदू-मतानुसार आचार-विचार इतना बढ़ाया कि उनके चौकों में जलाने की लकड़ियाँ तक धुलकर जाने लगीं। मंदिर, शाला, कथा-पुराण इत्यादि का प्रचार हो गया और राजगोंड़ बिलकुल हिंदू हो गए। राजवंशज अपने बल और वैभव से राजपूत कुमारियों के साथ विवाह-संबंध करने लगे। सबको विदित ही है कि राजा दलपति-शाह की रानी दुर्गावती चंदेलिन थी। अन्य राजाओं में से किसी की पड़िहारिन, किसी की बैस और किसी की बघेलिन रानियाँ थीं। यद्यपि अब राज्य चला गया है और इस कुल के प्रतिनिधि गरीब हो गए हैं फिर भी वे राजपूतों से विवाह-संबंध करते जाते हैं।

गोंड़-सभा में एक दीवान, एक पुरोहित और एक कवि रहता था। भीतरी प्रबंध के लिये दीवान जिम्मेदार रहता था। पुरोहित

गोंड़-शासन-पद्धति

केवल धर्माधिकारी ही नहीं रहता था, प्रत्युत वह बहुधा नायब दीवान का काम भी देता था। सेना का प्रबंध राजा के हाथ में रहता था। युद्ध में वह स्वयं जाया करता था। यहाँ तक कि राजा न रहने पर रानियाँ लड़ने जाया करती थीं। रानी दुर्गावती ने स्वयं रणक्षेत्र में जाकर आसिफखाँ से युद्ध किया था। बहुतेरे लोगों को इसलिये जागीरें दे दी गई थीं कि वे स्वयं, काम पड़ने पर, नियमित सेना लेकर उपस्थित हों। कवि अन्य राजदरबारों की देखादेखी पीछे से रखा गया था, विशेषकर उससे भाट का काम लिया जाता था ताकि वह अवकाश में राजा और अन्य संबंधियों का गुणानुवाद

करे। साहित्य के प्रयोजन की ओर गोंड़ों का ध्यान कभी नहीं गया। चापलूसों ने कभी उनका चंपू बना दिया तो कुछ पारितोषिक कभी किसी को मिल गया तो ठीक, नहीं तो साहित्य-प्रेमी के लिये जुहार ही बस था। गवैए नचैए जैसे गाना नाचना सीखते थे वैसे पढ़ैए-लिखैए पढ़ना-लिखना सीखते थे। ब्राह्मणों और कायस्थों का यही जातीय व्यवसाय समझा जाता था और उन्हीं के वंशजों को लिखने-पढ़ने का काम सौंपा जाता था। धर्म-संबंधी काम विशेषकर ब्राह्मणों को दिया जाता था और संसार-संबंधी जैसे माल-विभाग इत्यादि की लिखा-पढ़ी लालाजी के हाथ में रहती थी। और यदि कोई व्यक्ति कोई बड़ा भारी अपराध न कर बैठे तो एक ही वंश में वह काम पीढ़ी दर पीढ़ी चला जाता था। इसलिये राज्याधिकारियों और प्रजा की स्थिति स्थिर रहती थी। जो वंश जिस सम्मान को पहुँच गया था उसका भोग उसकी संतति को मिलता था। इससे चुनाव और असंतोष की झंझटें तो मिट जाती थीं परंतु किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होती थी, सदैव के समान गाड़ी लीक ही लीक से ढुलकती चली जाती थी। मामले-मुकदमे बहुधा जबानी तय कर लिए जाते थे। बाल की खाल निकालनेवालों का उस समय जन्म नहीं हुआ था। इसलिये न्याय करने में अधिक समय नहीं लगता था।

पंचदश अध्याय

बुंदेले

गोंड़ों ही के शासन-काल में बुंदेलों ने लूट-मार करना आरंभ कर दिया था। पहले बता चुके हैं कि वीरसिंह ने धामौनी का परगना ले ही लिया था। वीरसिंहदेव ओड़छा का राजा था। उसी वंश में छत्रसाल पैदा हुआ था, परंतु वह राजगद्दी का अधिकारी नहीं था। उसने अपने बाहुबल से लूट-मार करके नवीन राज्य की स्थापना की।

सागर जिले में उसने कई बार धावा किया और प्राय: सभी नगर लूट लिए। लाल कवि रचित छत्रप्रकाश में ब्यौरेवार वर्णन लिखा है कि उसने किन-किन गाँवों को लूटा। उसने धामौनी पर अनेक बार आक्रमण किए और क्रमश: प्राय: पूरा जिला अपने अधिकार में कर लिया। अंत में सन् १७२९ ई० में मुगलों के सूबेदार मुहम्मदखाँ बंगश ने अस्सी हजार अश्वारोही और हाथी लेकर छत्रसाल पर चढ़ाई कर दी, तब छत्रसाल संकट में पड़ गया। उस समय उसने बाजीराव पेशवा की सहायता चाही और उसे लिख भेजा :—

'जो गति भई गजेंद्र की, सो गति पहुँची आय।
बाजी जात बुँदेल की, राखो बाजीराय'॥

इस दोहे के पाते ही बाजीराव एक लाख सवार लेकर तुरंत चढ़ धाया और मुहम्मदखाँ बंगश को जैतपुर के किले में घेर लिया। बुंदेले और मरहठे छ: महीने तक मोरचा जमाए रहे और शाही फौज को भूखों मार डाला। कहते हैं कि उस समय आटा ८०) सेर बिकने लगा था। जीत के थोड़े ही दिन पश्चात् सन् १७३२ ई० में छत्रसाल की मृत्यु हुई। उसके दो लड़के थे, हिरदयशाह और जगतराज। पेशवा की सहायता के बदले, छत्रसाल ने बाजीराव को अपना तृतीय पुत्र मानकर राज्य के तीन हिस्से किए। उसके अनुसार जेठे पुत्र हिरदय-शाह को ३२ लाख की रियासत मिली अर्थात् पन्ना, कालंजर और शाहगढ़ के इलाके। दूसरे लड़के जगतराय को जैतपुर, अजयगढ़ और चरखारी के ३३ लाख के इलाके और पेशवा को ३९ लाख की सागर, कालपी, झाँसी और सिरोंज की जागीर मिली।

छत्रसाल वीर ही नहीं वरन् कविता-रसिक और स्वयं कवि भी था। बंगश-विपत्ति में फँसने पर भी उसने सहायता की प्रार्थना कविता ही में की और जब उसके घरानेवालों ने ही एक बार उसकी हँसी की और लिख भेजा :—

ओड़छे के राजा और दतिया के राई।
अपने मुँह छत्रसाल बने भना बाई॥

तब उसने इसका मुँहतोड़ उत्तर कविता ही में लिखभेज :—

सुदामा तन हेरे तब रंक हू ते राव कीन्हों,
बिदुर तन हेरे तब राजा कियो चेरे तें।
कुबरी तन हेरे तब सुंदर स्वरूप दीन्हों,
द्रौपदी तन हेरे तब चीर बढ्यो टेरे तें॥
कहत छत्रसाल प्रह्लाद की प्रतिज्ञा राखो,
हिरनाकुस मारो नेक नजर न फेरे तें।
ए रे गुरु ज्ञानी अभिमानी भए कहा होत,
नामी नर होत गरुड़गामी के हेरे तें॥

भूषण कवि जब छत्रपति शिवाजी से अनेक प्रकार का दान-मान पाकर छत्रसाल के यहाँ आया तब छत्रसाल ने उससे अधिक उपहार देने का सामर्थ्य न देखकर भूषण की पालकी अपने कंधे पर रख ली। जब भूषण पालकी से उतरा और उसे यह बात ज्ञात हुई तब वह फूला नहीं समाया। उसकी प्रतिष्ठा की हद हो गई। उसने तुरंत यह कवित्त बनाकर कहा :—

राजत अखंड तेज छाजत सुजस बड़ो,
गाजत गयंद दिग्गजन हिय साल को।
जाहि के प्रताप सों मलीन आफताब होत,
ताप तजि दुजन करत बहु ख्याल को।
साज सजि गज तुरी पैदरि कतारि दीन्हें,
भूषण भनत ऐसे दीन प्रतिपाल को।
और राव राजा एक मन में न ल्याऊँ अब,
साहू को सराहों कै सराहों छत्रसाल को॥

हिरदयशाह ने अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् पन्ना को अपनी राजधानी बनाया। गढ़ाकोटे का इलाका हिरदयशाह के हिस्से में पड़ा था। उसके जीते-जी कुछ गड़बड़ नहीं हुई। जब वह सन् १७३९ ई० में मर गया तब उसका जेठा पुत्र सुभागसिंह गद्दी पर बैठा। उसके कई भाई थे। उनमें से पृथ्वी-

हिरदयशाह बुंदेला

सिंह ने अपने मन के अनुसार जागीर न पाकर अपने भाई से विरोध किया और वह लड़ने को उद्यत हो गया। पृथ्वीसिंह ने मरहठों को लिख भेजा कि यदि तुम गढ़ाकोटा इलाका लेने में सहायता करो, तो मैं तुमको चौथ अर्थात् उस इलाके की आमदनी का चौथा हिस्सा दिया करूँगा। मरहठे छत्रसाल का यश तुरंत भूल गए और पृथ्वीसिंह की सहायता करने को तत्पर हो गए। सुभागसिंह हार गया और पृथ्वी-सिंह गढ़ाकोटा का राजा बन बैठा।

षोडश अध्याय

मराठे

ऊपर बता चुके हैं कि सन् १७३२ ई० में सागर का बहुत सा भाग पेशवाओं के अधिकार में आ गया था। बारह वर्ष के भीतर गढ़ाकोटे पर भी उनका स्वत्व हो गया। इन सब इलाकों के प्रबंध के लिये गोविंदराव पंडित नियुक्त किया गया और उसका निवास-स्थान रानगिर स्थिर किया गया। पीछे से उसने सागर में किला बनवाया और वहाँ जाकर वह रहने लगा। कहते हैं, गोविंद-राव पंडित पेशवा का रसोइया था। एक दिन बाजीराव उपासे थे, तब गोविंदराव ने राजा से कुछ बनाकर खा लेने के लिये आधी घड़ी की मुहलत माँगी। राजा ने आज्ञा दे दी, परंतु यह देखना चाहा कि यह आधी घड़ी में कैसे निपट लेगा। गोविंदराव नदी के किनारे गया और एक मुरदे को जलते देखा। वहाँ चिता की आग में उसने कुछ भूँज-भाँजकर अपना पेट भर लिया। पेशवा चकित हो गया और बोल उठा, 'जो मनुष्य इतना कर सकता है वह जो चाहे सो कर सकता है।' गोविंदराव के भाग्य खुल गए। पेशवा ने उसे बढ़ाना आरंभ कर दिया और अंत में उसे बुंदेलखंड में अपना प्रतिनिधि नियुक्त कर दिया। गोविंदराव पंडित ने आसपास के इलाके दमोह इत्यादि पर अपना अधि-

कार जमा लिया, परंतु सन् १७६९ ई० में वह पानीपत की लड़ाई में मारा गया। कहते हैं कि वह इतना मोटा था कि बिना दूसरे की सहायता के घोड़े पर सवार नहीं हो सकता था। इसी कारण वह पानीपत से भाग नहीं पाया।

गोविंदराव के पश्चात् उसका लड़का बालाजी और उसके पश्चात् रघुनाथराव आपा साहब उत्तराधिकारी हुआ। इसके जमाने में मंडला और जबलपुर जिले भी पेशवा के अधिकार में आ गए, परंतु सन् १७९८ में उन्हें पेशवा ने नागपुर के राजा रघुजी भोंसला को दे डाला। धामौनी भी शीघ्र ही भोंसला को मिल गई। रघुनाथराव सन् १८०२ ई० में मर गया। वह उदारचरित्र था और विद्वानों का बहुत सत्कार किया करता था। उसके समय में सागर में सुप्रसिद्ध हिंदी कवि पद्माकर रहता था। उसने रघुनाथराव की तलवार की यों प्रशंसा की थी :—

> दाहन तैं तेज तिगुनी त्रिसूलन पै,
> चिल्लिन तैं चौगनी चलाक चक्र चाली तैं।
> कहै पद्माकर महीप रघुनाथ राव,
> ऐसी समसेर सेर सत्रुन पै घाली तैं।
> पाँचगुनी पब्ब तैं पचीस गुनी पावक तैं,
> प्रकट पचास गुनी प्रलय प्रनाली तैं।
> साठ गुनी सेस तैं सहस्र गुनी स्रापन तैं,
> लाख गुनी लूक तैं करोर गुनी काली तैं॥

रघुनाथराव कोई संतान नहीं छोड़ गया, तब उसकी विधवा रानियों ने सूबेदार विनायकराव की सहायता से काम चलाया। सन् १८१४ ई० में सिंधिया ने सागर को लूटा और विनायकराव को कैद कर लिया, परंतु पौन लाख रुपया लेकर उसे छोड़ दिया। सन् १८१८ ई० में जब पेशवा ने सागर और दमोह के इलाके सरकार अँगरेज को दे दिए, तब रघुनाथराव की रानियों—राधाबाई और रुकमाबाई—और विनायक राव सूबेदार एवं अन्य मरहठा सरदारों को ढाई लाख रुपया सालाना

पेंशन की गई। रानियों ने बलवंतराव को गोद लिया था। उसको जबलपुर में रहने की आज्ञा दी गई। उसके भी कोई सन्तान न थी। उसने पंडित रघुनाथराव को गोद ले लिया। ये सागरवाले राजा कहलाते थे और जबलपुर में रहते थे। इनको भी ५०००) सालाना पेंशन मिलती थी।

नागपुर के भोंसले

पेशवा ने जबलपुर और मंडला द्वितीय रघुजी भोंसला को दे दिए थे। इनके समय में उस कुशासन का आरंभ हुआ जिससे उनके नाम की संज्ञा का अर्थ अराजकता हो गया। अभी तक जब कभी कोई कुछ गड़बड़ करता है तो ग्रामीण बहुधा कह उठते हैं 'कैसन घोंसली[1] मचाऊथे' अर्थात् तू कैसी गड़बड़ मचाता है। भोंसलों के हाथ में पड़ते ही जिले में अनेक प्रकार का अन्याय आरंभ हो गया। भोंसलों के प्रायः सभी कारबारी अन्यायी और लुटेरे थे। केवल रुपया लूटना वे अपना कर्तव्य समझते थे। इसलिये जैसे बने, सीधे या टेढ़े, प्रजा का धन निकालने में निशि-वासर तत्पर रहते थे। गाँव नीलाम करा दिए जाते थे परंतु यह भी भरोसा नहीं रहता था कि लेनेवाला साल के अंत तक निबह जायगा। कभी कभी ठेकेदार की खड़ी फसल कटने ही के पूर्व गाँव छीन लिया जाता था। ठेकेदार मुँह देखते रह जाता था। उसका परिश्रम और लागत धूल में मिल जाती थी। केवल अनेक प्रकार के कर ही नहीं लगाए जाते थे, बल्कि धनिकों के घर की स्त्रियों और पुरुषों को लंपटता का दोष लगाया जाता था। यदि घर के स्वामी ने अधिकारियों को रुपया भर दिया तब तो ठीक, नहीं तो वह काठ में डाल दिया जाता था। कुलटाएँ सरकार की ओर से नीलाम कर दी जाती थीं और रुपया खजाने में जमा हो जाता था। कोई उद्यम या व्यापार ऐसा नहीं था जिस पर कर न लगाया जाता रहा हो। यदि कोई बाजार में अपनी चीजें बेचने को बैठे और इधर-उधर देखने लगे तो उस पर भी कर

१—उत्तर के जिलों में जनता भोंसलों के राज्य को घोंसली राज्य कहा करती थी।

लगा दिया जाता था; क्योंकि उसकी असावधानी से चोरी की आशंका हो जाती थी, जिसकी रक्षा का बोझ अधिकारियों पर पड़ता था। यदि कोई पानी बरसने के लिये आराधना करे तो उस पर भी कर लग जाता। यदि ईश्वर उसकी सुन ले और पानी बरसने से कहीं अधिक पैदावार हो जाय तो फिर राजा उस भावी प्राप्ति का भागी क्यों न समझा जाय इसलिये आराधना के लिये कर क्यों न लगाया जाय। यह जानने के लिये कि अमुक व्यक्ति धनवान् है या नहीं, उसके यहाँ की जूठी पत्तलें या दोने इकट्ठे करके जाँच की जाती थी, कि वह घी खाता है या नहीं। यदि घी का चिह्न मिला तो समझा जाता था कि धनवान् है, उससे अधिकतर कर क्यों न वसूल किया जाय? विपत्तियों का अंत यहीं पर नहीं हो जाता था। यदि राजजाल से कोई बच गया तो पिंडारियों के दरेरों से बच जाना कठिन था। ये लोग टिड्डी-दल के समान अकस्मात् टूट पड़ते थे और रहा-सहा सब लूट पाटकर चंपत हो जाते थे। राजा के अधिकारी उनका बाल नहीं छू सकते थे। मतलब यह कि प्रजा की पीड़ा कुछ कुछ उस व्यक्ति के महान् संकट की सी थी जिसका अनुमान तुलसीदास ने किया है—अर्थात् "ग्रह-गृहीत पुनि बात-बस, तापर बीछी मार। ताहि पियाइय वारुणी, कहहु कवन उपचार॥" परंतु यह कुप्रबंध और अन्याय कब तक चल सकता था? शीघ्र ही वह दिन आया जब कि रैयत को इस 'मरहठी घिसघिस' से छुटकारा मिला।

ब्रिटिश राज्य

सन् १८१७ ई० में आपा साहब के बिगड़ खड़े होने पर लार्ड हेस्टिंग्ज ने जनरल हार्डीमैन को नागपुर की ओर चढ़ाई करने की आज्ञा दी। उक्त साहब मैहर से ७ सितंबर को एक अश्वारोही और एक गोरों की पैदल पल्टन लेकर रवाना हुआ। शेष सेना पीछे रह गई इसलिये वह बिलहरी में ठहर कर उसकी बाट देखता रहा। अंत में वह १९ सितंबर को जबलपुर के निकट आ पहुँचा परंतु वहाँ सामना करने के लिये तीन हजार योद्धाओं की सेना तैयार मिली। उनके पास ४ पीतल की तोपें भी थीं। जनरल

ने अपनी तोपें छिपाकर लगवा दीं। थोड़ी देर के पश्चात् दोनों ओर से दनादन तोपें दगने लगीं। सैनिक अपने दाँव-पेंच करने लगे। अंत में दूसरे दिन प्रातःकाल जबलपुर की गढ़ी और शहर छीन लिया गया। तभी से जबलपुर ब्रिटिश सेना का निवास-स्थान हो गया। शासन-प्रबंध के लिये तुरंत ही एक समिति बनाई गई जिसकी अध्यक्षता मेजर ओब्राइन को मिली। फिर सन् १८२० ई० में १२ जिलों की एक कमिश्नरी बनाई गई, जिसका नाम सागर व नर्म्मदा टेरीटरीज रखा गया। उसमें जबलपुर का जिला सम्मिलित किया गया और जबलपुर में गवर्नर-जनरल का एक एजंट रहने लगा। जब सन् १८३५ ई० में पश्चिमोत्तर देश (वर्त्तमान संयुक्त प्रदेश) का निर्म्माण हुआ तब उसमें सागर व नर्म्मदा टेरीटरीज शामिल कर दी गईं।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ४४-संवत् १९९६ [नवीन संस्करण] भाग २०-अंक २

प्राचीन हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की खोज का चौदहवाँ त्रैवार्षिक विवरण

[सन् १९२९-३१ ई०]

लेखक—डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, एम० ए०, एल-एल० बी०, डी० लिट्०

प्रस्तावना

इस रिपोर्ट को आरंभ करने के पहले मुझे खोज विभाग के भूतपूर्व यशस्वी निरीक्षक डा० हीरालाल के स्वर्गवास का उल्लेख बड़े खेद के साथ करना पड़ता है। डाक्टर साहब की मृत्यु से सभा के खोज विभाग की बड़ी क्षति हुई है। आप विगत १७ वर्षों से खोज के कठिन कार्य का निरीक्षण बड़े उत्साह और योग्यतापूर्वक करते आ रहे थे। वे बड़े उदार, सज्जन और कृपालु थे। क्या छोटे, क्या बड़े, सब उनका एकसा सम्मान करते थे। उनकी सेवाओं का आदर सरकार और जनता दोनों करती थीं। कई संस्थाओं को उनका सहयोग प्राप्त था और साहित्य की वे लगन से श्रीवृद्धि किया करते थे। वे एक अवकाश-प्राप्त जिलाधीश थे। यदि चाहते तो अपने जीवन का शेष काल सुख-पूर्वक बिता सकते थे, किंतु वे अंत तक कर्मण्य रहे। परमात्मा उनकी आत्मा को शांति दे।

सामान्यतया यह रिपोर्ट डाक्टर हीरालाल जी के ही द्वारा लिखी जाती किंतु दुर्दैव ने उन्हें बीच ही में उठा लिया। परिशिष्ट १ को उन्होंने यत्र-तत्र सरसरी दृष्टि से देखा था किंतु उसे भी वे अच्छी तरह नहीं देख पाए थे। रिपोर्ट का काम उन्हीं के समय में, समय से बहुत पिछड़ गया था।

सन् १९२६—२८ ई० की त्रैवार्षिक रिपोर्ट उन्होंने ता० १-१०-३१ को लिखकर समाप्त की थी। ता० ६-८-३४ को जब निरीक्षण का कार्य मुझे सौंपा गया तब १९२९—३१ ई० की रिपोर्ट अभी लिखी जाने को थी। सन् १९२६-२८ ई० की बृहत्काय रिपोर्ट गवर्मेंट प्रेस से लौट आई थी क्योंकि तब तक सन् १९२३-२५ की रिपोर्ट को गवर्मेंट प्रेस छाप नहीं सका था। इस रिपोर्ट को भी यथासाध्य छोटा करना आवश्यक समझा गया। इधर मेरे कार्यकाल का भी काम जमा होता गया। इसी से यह रिपोर्ट इतनी देरी में पूरी हो रही है। परंतु यह प्रकाशित भी हो सकेगी या नहीं, यह बात संदिग्ध है। इन रिपोर्टों को गवर्मेंट प्रेस छापता है। सन् १९२३-२५ ई० की रिपोर्ट का छपना सन् १९३० में आरंभ हो गया था और सन् १९३३ ई० में उसकी छपाई का काम समाप्तप्राय था; किंतु अब तक वह प्रेस ही में है। यह अवस्था बड़ी खेदजनक है। आशा है, गवर्मेंट इधर ध्यान देगी और रिपोर्टों को छापने की अच्छी व्यवस्था करने की कृपा करेगी।

इधर 'नागरीप्रचारिणी सभा' की प्रबंध समिति ने निश्चय किया कि रिपोर्ट का प्रधान अंश 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' में भी प्रकाशित हुआ करे। इससे काम और भी बढ़ गया; क्योंकि खोज की रिपोर्टें अँगरेजी में छपती हैं और पत्रिका के लिये उनको हिंदी रूप देना आवश्यक है। परंतु इससे एक लाभ अवश्य है। इस रूप में उनका कुछ अंश तो प्रकाश में आ जायगा। गवर्मेंट प्रेस से तो वे न जाने कब निकलें।

केवल हिंदी जाननेवालों को भी इससे लाभ होगा।

साधु कवि रतिभान के संबंध में उनके ग्रंथ से बाहर की सूचनाएँ मुझे कालपी के श्रीयुक्त "रसिकेन्द्र" से प्राप्त हुई हैं। इसलिये वे मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

विवरण

इस रिपोर्ट की कार्यावधि में खोज का कार्य लखनऊ, लखीमपुर, आगरा, हरदोई, उन्नाव, एटा और अलीगढ़ जिलों में हुआ। पं० बाबूराम बित्थरिया तथा पं० छोटेलाल त्रिवेदी ने पहले अन्वेषण का कार्य किया। परंतु बीच में ही बित्थरियाजी दिल्ली प्रांत में शोध का कार्य करने के लिये भेज दिए गए और उनके स्थान पर श्री सुखदेव शास्त्री की नियुक्ति हुई। उनके चले जाने के पश्चात् पं० लक्ष्मीप्रसाद त्रिवेदी उस स्थान पर नियुक्त किए गए।

इस अवधि में १५२१ हस्तलिखित ग्रंथों के विवरण प्राप्त हुए। इनमें से ४६ ग्रंथ सन् १८८० ई० के पश्चात् के रचे होने के कारण नियमानुसार अस्वीकृत कर दिए गए, और ५ ग्रंथ अन्य भाषाओं के होने के कारण रिपोर्ट में सम्मिलित नहीं किए गए। इन्हीं विवरणों की संख्या में आगरा नागरी-प्रचारिणी सभा के एजंटों—श्री श्रीनिवास तथा श्री अवधविहारीलाल और जिला रायबरेली के श्री त्रिभुवनराय—के भेजे क्रम से ५० व ३९ समस्त ८९ ग्रंथों के विवरण भी सम्मिलित हैं। अस्वीकृत कार्य को छोड़कर शेष कार्य तीन वर्षों में इस प्रकार विभक्त है—

सन् ईसवी	विवरण लिए हुए ह० लि० ग्रंथों की संख्या
१९२९ ,,	३८३
१९३० ,,	५८८
१९३१ ,,	५११

४९९ ग्रंथकारों के बनाए हुए ८८४ ग्रंथों की १२०३ प्रतियों के विवरण लिए गए हैं, जिनके अतिरिक्त २६७ ग्रंथों के रचयिता अज्ञात हैं। २७४ ग्रंथकारों के रचे हुए ४०८ ग्रंथ खोज में बिलकुल नवीन हैं।

इनमें ६३ ऐसे नवीन ग्रंथ सम्मिलित हैं जिनके रचयिता तो ज्ञात थे किंतु उनके इन ग्रंथों का पता नहीं था।

नीचे दी हुई सारिणी द्वारा ग्रंथों और उनके रचयिताओं का शताब्दि-क्रम दिखाया जाता है—

शताब्दि	१४वीं	१५वीं	१६वीं	१७वीं	१८वीं	१९वीं	अज्ञात एवं संदिग्ध	योग
ग्रंथकार	...	४	३१	७६	८२	१७२	१३४	४९९
ग्रंथ	...	१६	१५३	२०२	२४८	४०८	४४३	१४७०

ग्रंथों का विषयानुसार विभाग नीचे दिया जाता है।

१—साधारण काव्य और संग्रह	९३
२—प्रेम और शृंगार	१०४
३—संगीतशास्त्र और गीत-काव्य	३५
४—कथा कहानी	१४२
५—नाटक	४
६—रीति और पिंगल	२५
७—भक्ति और स्तोत्र	९६
८—पौराणिक	२२९
९—धार्मिक तथा सांप्रदायिक	२६४
१०—नीति	५
११—उपदेश	५४
१२—ज्योतिष और रमल	८९
१३—जंत्र मंत्र और स्वरोदय	३०
१४—वैद्यक	१४०
१५—कोक	१५
१६—विविध	१४५

अन्य भाषा के जिन ग्रंथों के नोटिस लिए गए और जो रिपोर्ट में सम्मिलित नहीं हैं उनकी तालिका यहाँ दी जाती है—

क्र० सं०	रचयिता	ग्रंथ	विषय	रचना-काल	लिपि-काल	गद्य या पद्य	भाषा
१	चिंतामणि	दोषावली	ज्योतिष	×	१८५१	गद्य	
२	नरोत्तमदास	वैष्णव वंदना	स्तुति	१८६४	१८६४	पद्य	बँगला
३	,,	,, ,,	,,	,,	,,	,,	,,
४	,,	स्मरण मंगल	गौड़ीय संप्रदाय के वैष्णवों का मंगलगान	१८५४	१८५४	,,	,,
५	स्कुल	उदीच्यप्रकाश	उदीच्य ब्राह्मणों के गोत्रादि का वर्णन	...	...	गद्य	गुजराती

इस खोज में निम्नलिखित १४ मुसलमान ग्रंथकारों की कृतियाँ भी उपलब्ध हुई हैं, जिनकी सूची नीचे दी जाती है। इनमें से तारकांकित ग्रंथकार और ग्रंथ, खोज में नवीन मिले हैं।

क्र० सं०	ग्रंथकार	ग्रंथ	रचना-काल	लिपि-काल
१	अब्दुल मजीद	क्लेशभंजनी	×	×
२	आलम	माधवानल-कामकंदला	×	१७६४ ई०
३	असगरहुसेन	यूनानीसार	१८७५ ई०	१८८७ ”
४	भुल्लन शेख	महाराज भरतपुर और लाट साहब का मिलाप	१८७६ ,,	×
५	फरासीसी हकीम	१—इजुल पुरान	×	१८४० ,,
		२—वैद्यक फरासीसी*	×	१७६० ,,
६	हैदर	कासिदनामा	×	१८४३ ,,
७	करमअली*	निज उपाय*	१७९० ,,	×
८	मलिक मोहम्मद जायसी	पद्मावत	१५४० ,,	१८०१ ,,
९	नजीर	१—कन्हैयाजन्म*	×	×
		२—वंशी*	×	×
		३—बंजारानामा*	×	×
		४—हंसनामा	×	१८५३ ,,
१०	कुदरतुल्ला*	१—रागमाला*	×	१८८० ,,
		२—खेल बंगाला*	×	१८५२ ,,
११	ताहिर	गुणसार कथा	१८२१ ,,	×
१२	मीरमाधो*	सुदामाचरित्र*	×	१७७५ ,,
१३	वहाव	बारहमासा	×	१८५१ ,,
१४	वजहनशाह	अलिफनामा	×	×

इसी प्रकार नीचे लिखे हुए १० जैन ग्रंथकारों की रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। उनमें से भी तारकांकित ग्रंथकारों और ग्रंथों का पता पहले ही पहल चला है।

क्र० सं०	ग्रंथकार	ग्रंथ	रचनाकाल	लिपिकाल
१	भागचंद*	श्रावकाचार*	१८५५ ई०	×
२	भूधरदास	१—भूधरविलास*	×	१८७७ ई०
		२—चर्चासमाधान*	×	१८४७ ,,
		३—पार्श्वपुराण*	१७३२ ,,	×
३	बुधजनदास	देवानुरागशतक*	×	१८४० ,,
४	गोकुल गोलापूरब*	सुकुमालचरित्र*	१८१४ ,,	१८६१ ,,
५	झुनकलाल*	नेमिनाथ के छंद*	१७८६ ,,	१८५६ ,,
६	मुनींद्र*	रविव्रतकथा*	१६८६ ,,	१७६८ ,,
७	परमलदेव (आगरा)	श्रीपालचरित्र	१५९४ ,,	×
८	रग्घू कवि*	दशलाक्षणिक धर्मपूजा*	×	×
९	सदासुख कासिलीवाल*	रत्नकांड श्रावकाचार की भाषामय वचनिका*	१८६३ ,,	१९०१ ,,
१०	सुरति सिद्धि*	जैनबारहखड़ी*	×	×

इस त्रिवर्षी में कुछ नवीन लेखकों का पता लगा है, कुछ ज्ञात लेखकों के नए ग्रंथ मिले हैं और कुछ के समय और स्थान के विषय में नवीन प्रकाश पड़ा है, जिनका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है।

नवीन लेखकों में से जवाहरदास, रतिभान, रामप्रसाद (निरंजनी), रूपराम सनाढ्य और हरीराम मुख्य हैं।

जवाहरदास के "महापद" नामक एक सुंदर ग्रंथ का पता चला है। यह ग्रंथ अब तक अज्ञात ही था। ग्रंथकार फीरोजाबाद (आगरा) के निवासी और किन्हीं बाबा रामरत्न के शिष्य थे और जाति के शूद्र थे।

> "हरिदास के जे दास हैं तिनको **जवाहिरदास**।
> बासी फिरोजाबाद को लघुवरन **सूद्र** उदास॥"

शायद "उदास" शब्द इस बात का द्योतक हो कि जवाहरदास विरक्त हो गए थे। उनका निवासस्थान किसी विरहवन टीले पर था। वहीं बैठकर ग्रंथकार ने अपने ही हाथ से मिति ज्येष्ठ बदी ७ मंगलवार संवत् १८८९ वि० (१८३२ ई०) को ग्रंथ लिखकर समाप्त किया था। फीरोजाबाद में 'टीला' नामक एक मोहल्ला अब तक है। ग्रंथ का रचनाकाल—

> "अट्ठासिया दस अष्ट संमत पुनीत।
> पूस मास अरु तिथि अमावस बास (र?) चंद्र विनीत॥
> निज जीव के समझायबे कों कियो पूरन गिरंथ।
> आसक्ति जाकी छोड़ि कैं यह चलै हरि के पंथ॥"

मिति पौष कृष्णा ३० चंद्रवासरे संवत् १८८८ वि० (१८३१ ई०) कहा गया है। यह बड़े विनीत भाव के साधु थे। इन्होंने अपने आपको बिना पढ़ा लिखा, पापी, अति पतित, अधम, कुटिल और कामी कहा है। केवल पतितपावन के नाते हरि से तरने की आशा की है। वे इतना सुंदर ग्रंथ लिखकर भी अपने में उपदेश की शक्ति नहीं समझते थे। अतएव उन्होंने ग्रंथ-निर्माण का उद्देश एकमात्र अपने जीव को समझाना ही लिखा है।

"निज जीव के समझायबे को कियो पूरन ग्रंथ ॥"

फिर यदि चाहें तो अन्य जीव भी समझ लें—

"सो कहत निजु जीव सों सब जीव यामें समझियौ" ॥

यद्यपि वह अपने को काव्य, कोष तथा व्याकरण के ज्ञान से रहित, अपठित कहते हैं, तथापि उनकी प्रौढ़ विषय-प्रतिपादन-शैली, भाव-गांभीर्य, सरल शब्दयोजना आदि गुणों को देखते हुए यह बात केवल उनके विनीत भाव को ही प्रदर्शित करती है।

रतिभान और उनका 'जैमिनिपुराण' भी खोज में बिल्कुल नवीन हैं। 'विनोद' में भी इनका उल्लेख नहीं है। यह ग्रंथ संवत् १६८८ वि० (१६३१ ई०) में बना था, जैसा कि नीचे के दोहे से प्रकट है—

"संवत सोरह सौ अट्ठासी अति पवित्र वैसाष ॥
सुक्ला सोम त्रयोदसी भई पूरन कथाऽभिलाष ॥"

कवि ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

"देस **नौरठौ** उत्तम ठाँऊँ। बस्यो जहाँ **इटौरा** गाँऊँ ॥
कालपक्षेत्र **कालपी** पासा। सिद्धिसाध पंडित सुषबासा ॥
कलि गंगा बैतवै इत बहै। न्हाए जहाँ पाप नहीं रहै ॥
मध्य सुदेस इटौरा गाँऊँ। तहाँ **सत्य गुरु रोपन** तिहि नाऊँ ॥
प्रगट प्रनाम पंथ है जाकौ। निर्गुन मंत्र जपै जग ताकौ ॥
कीरति विदित कहै सबु कोई। हमरे कहे बड़े नहिं होई ॥
मैं आय बड़ाई काज वषानौं। जाते नाउ हमारौ जानौं ॥
तासु पुत्र कुल मंडन दास। भगति भागवत प्रेम हुलास ॥
जानराय जगनाम कहायो। छोटे बड़े सबनि मन भायो ॥
ऐसो प्रगट जगत जसु जाको। **श्रीपरशुराम** पुत्र है ताको ॥

× × × ×

श्रीपरशुराम गुरु पिता हमारे। वाकी स्तुति करत पुकारे ॥
ताके भए पुत्र पुनि चारि। ....
जेठे तीनि सबहि विधि लायक। संत साधु सबहि सुषदायक ॥

× × × ×

अपनी बात कहौं परवान। सब कोउ कहै नाम **रतिभान**॥"

इससे प्रकट होता है कि ग्रंथकार (कलियुग की गंगा) बेतवा नदी के किनारे पर बसे इटौरा गाँव का निवासी, प्रणाम पंथानुयायी किसी परशुराम का शिष्य था। इटौरा गाँव कालपी से चार-पाँच कोस पर है। वहाँ रोपन गुरु का मंदिर प्रसिद्ध है। प्रतिवर्ष कार्तिकी पूर्णिमा से १५ दिन तक वहाँ मेला लगता है। यह स्थान 'निवट्ठा' मंडल में है। बेतवा नदी के उस पार राठ तहसील है। इटौरा भी राठ का ही एक अंग माना जाता है। संभवतः 'निवट्ठा' ही रतिभान का 'नौरठा' है और दोनों एक ही शब्द 'नवराष्ट्र' के अपभ्रंश रूप हैं, जो इस मंडल का प्राचीन नाम जान पड़ता है। प्रणाम पंथ, जिसे अब लोग परनाम पंथ कहते हैं, कबीर पंथ की तरह, निर्गुण सिद्धांत को ही माननेवाला जान पड़ता है, जैसा कवि के लिखे—"प्रगट प्रनाम पंथु है जाकौ। निर्गुण मंत्र जपै जगु ताकौ॥" इस पद्यांश से प्रकट होता है।

इस पंथ के आदि-संस्थापक गुरु रोपन थे। रोपन गुरु का मंदिर कालपी में अब तक विद्यमान है। अब भी वहाँ के महंत प्रणाम पंथ की दीक्षा देते हैं। पंथ में जाति का भेदभाव विशेष नहीं है। सूत्र की कंठी दी जाती है। अधिकतर वैश्य ही शिष्य हैं।

रतिभान इन्हीं गुरु रोपन की शिष्यपरंपरा में हुए हैं और इटौरा में उनकी गद्दी के अधिकारी थे। रोपन गुरु के मंदिर में एक श्लोक का पता लगा है जिसमें रतिभान का उल्लेख है।

ऊपर के उद्धरण में रतिभान ने अपनी गुरु-परंपरा यह बताई है—

सतगुरु रोपन
|
जानराय
|
परशुराम
|
रतिभान (ग्रंथकार)

"तासु पुत्र कुल मंडनदास" में कुल मंडनदास जानराय के विशेषण के रूप में आया हुआ जान पड़ता है, पृथक् नाम नहीं। यदि यह नाम हो तो एक पीढ़ी और बढ़ जायगी।

रामप्रसाद "निरंजनी" अब तक अज्ञात लेखक ही नहीं, उनका यह महत्त्व भी है कि वे खड़ी बोली के काफी पुराने गद्य-लेखक हैं। उनके रचे योगवासिष्ठ (पूर्वार्द्ध) की चार प्रतियों के विवरण इस खोज रिपोर्ट में आए हैं। ग्रंथ का रचना-काल संवत् १७९८ वि० (१७४१ ई०) और लिपि-काल पहली प्रति का संवत् १८८० वि० (१८२३ ई०); दूसरी का १८७५ वि० (१८१८ ई०); तीसरी का १८५६ वि० (१७९९ ई०) और चौथी का संवत् १९१२ वि० (१८५५ ई०) है। रचयिता पटियाले के रहनेवाले थे। खोज एजेंट का कहना है कि वह तत्कालीन महारानी पटियाला को कथा बाँचकर सुनाया करते थे। एजेंट के अनुसार यह बात उनकी जीवनी में लिखी है। किंतु विवरण से विदित नहीं होता कि उन्हें यह जीवनी कहाँ देखने को मिली। यह पृथक् ग्रंथरूप में उन्होंने देखी अथवा इसी ग्रंथ का कोई अंश है ? इसी प्रकार रचना-काल के विषय में एजेंट ने एक विवरण लिखा है—"तीसरे प्रकरण के अंत में इस प्रकार लिखा है कि साधु रामप्रसाद ने पटियाला में संवत् १७९८ वि० कार्तिक पौर्णिमा को ग्रंथ संपूर्ण किया।" इससे जान पड़ता है कि उनका लिखा यह उद्धरण उक्त ग्रंथ से ही उद्धृत किया गया है। दो अन्य विवरणों में भी यह संकेत किया गया है कि तृतीय प्रकरण उत्पत्ति के अंत में रचनाकाल सं० १७९८ दिया है। और शेष एक विवरण में इस संबंध में लिखा है—"निर्माणकाल १७९८ वि० इनके जीवनचरित्र में लिखा है। जब तीन प्रतियों में निर्माणकाल का संवत् एक ही दिया हुआ है और ग्रंथकार की जीवनी भी इसी बात को पुष्ट करती है तो ग्रंथ का निर्माणकाल यही मानने में कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती। अब तक गद्य के जो चार आचार्य सर्वप्रथम गद्य-लेखक माने गए हैं उनमें सबसे पुराने दिल्लीनिवासी मुंशी सदासुखलाल "नियाज" हैं। उनका जन्म-संवत् १८०३ वि० माना गया है।

प्रस्तुत शोध में मिला यह ग्रंथ उक्त मुंशीजी के जन्मकाल से पाँच वर्ष पूर्व की रचना है। इससे यह ज्ञात होता है कि गद्य का जो प्रारंभकाल अब तक कल्पित किया जाता है उससे बहुत पूर्व ही हिंदी गद्य विकसित होकर अपना परिमार्जित रूप ग्रहण कर चुका था। नीचे रामप्रसादजी के गद्य के नमूने उद्धृत किए जाते हैं।

"प्रथम परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है जिससे सब भासते हैं और जिसमें सब लीन और स्थित होते हैं जिससे ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय द्रष्टा दर्शन और कर्त्ता कारण और क्रिया सिद्धि होते हैं जिस आनंद के समुद्र के कण से संपूर्ण विश्व आनंदमयी है जिस आनंद से सब जीव जीते हैं॥ अगस्तजी के शिष्य सुतीक्षण के मन में एक संदेह पैदा हुआ तब वह उसके दूर करने के कारण अगस्त मुनि के आश्रम को जा विधि सहित प्रणाम करके बैठे और विनती कर प्रश्न किया कि हे भगवन आप सब तत्त्वों और सब शास्त्रों के जाननेहारे हो मेरे एक संदेह को दूर करो॥ मोक्ष का कारण कर्म है कि ज्ञान है अथवा दोनों हैं समझाय के कहो इतना सुन अगस्त मुनि बोले कि हे ब्रह्मण्य कि केवल कर्म से मोक्ष नहीं होता और न केवल ज्ञान से मोक्ष होता है मोक्ष दोनों से प्राप्त होता है॥ कर्म से अंतःकरण शुद्ध होता है मोक्ष नहीं होती और अंतःकरण की शुद्धि बिना केवल ज्ञान से मुक्ति नहीं होती इस कारण दोनों से मुक्ति प्राप्त होती है कर्म से प्रथम अंतःकरण शुद्ध होता है फिर ज्ञान उपजता है ज्ञान के उपजने के बाद मोक्षसिद्धि है जैसे दोनों पंखों से पक्षी उड़कर आकाश में पहुँच जाता है इसी प्रकार कर्म और ज्ञान दोनों प्राप्त होने पर मोक्ष सिद्धि है।"

'हे रामजी जो पुरुष अभिमानी नहीं है और जिसके रूप में स्थिति है वह शरीर के इष्ट अनिष्ट में रागद्वेष नहीं करता क्योंकि उसकी शुद्ध वासना है और वह जो कर्ता है सो बंधन का कारण नहीं होता जैसे भुना बीज नहीं जमता तैसे ही ज्ञानवान की वासना जन्म मरण का कारण नहीं होती और जिसकी वृत्ति संसार के पदार्थों में स्थित है और राग द्वेष से ग्रहण त्याग करता है ऐसी मलीन वासना जन्मों का

कारण है ऐसी वासना को छोड़कर जब तुम स्थित होगे तब तुम कर्ता हुए भी निर्लेप रहोगे ॥ और हर्ष शोक आदि विकारों से जब तुम अलग रहोगे तब वीतराग भय क्रोध से रहित होगे हे रामजी जिसका मन असंग हुआ है वह जीवनमुक्त हुआ है इससे तुम भी वीतराग होकर आत्मतत्त्व में स्थित हो जीवनमुक्त पुरुष इंद्रियों के ग्राम को निग्रह करके स्थित होता है और मान मद वैर को त्याग करके संतापरहित स्थित होता है ॥ वह सब आत्मा जानकर कर्म करता है परंतु•व्यौहार बुद्धि से रहित असंग होकर कर्म करता है वह कर्ता भी अकरता है उसको आपदा व संपदा प्राप्त हो अपने स्वभाव को नहीं त्यागता जैसे चीर-समुद्र मंदराचल पहाड़ को पाकर मुक्ता को नहीं त्यागता तैसे ही जीवन-मुक्त अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता हे रामजो आदर प्राप्त हो अथवा चक्रवर्ती राज्य मिले सर्प अथवा इंद्र का शरीर प्राप्त हो इन सब में समभाव स्थित होता है हर्ष शोक को नहीं प्राप्त होता वह सब आरंभों को त्यागकर नानात्व भाव से रहित स्थित होता है विचार करके जिसने आत्मतत्त्व पाया है वह जैसे स्थित हो तैसे ही तुम भी स्थित हो इसी दृष्टि को पाकर आत्मतत्त्व को देखो तब विगत-ज्वर होगे और आत्मपद को पाकर फिर जन्म मरण के बंधन में न आवोगे ॥"

उपर्युक्त नमूनों के देखने से पता चलता है कि उनका गद्य व्यवस्थित, परिमार्जित और सुंदर है। इंशाअल्ला के गद्य की भाँति उसमें फारसीपन नहीं है। "समझाय के कहौ," "जाननेहारे हौ," "तैसे ही," "वह जो करता है सो बंधन का कारण नहीं होता" आदि पुराने प्रयोगों से उनकी भाषा मुंशी सदासुखजी की भाषा से समता रखती है। उन्हीं की भाँति शुद्ध तत्सम संस्कृत शब्दों का इन्होंने भी स्थल स्थल पर प्रयोग किया है। इनकी रचना में "बाद" आदि कुछ ही विदेशी शब्द मिलते हैं जो घुल-मिलकर हिंदी की निजी संपत्ति हो गए हैं। इस गद्य का महत्त्व यह है कि यह मुंशी सदासुखलाल के गद्य से कम से कम आधी शताब्दी पहले का तो अवश्य है। मुंशीजी के

"भागवत" के अनुवाद का तो समय नहीं ज्ञात है किंतु उनके बनाए "मुंतखबुत्तवारीख" का रचनाकाल सं० १८७५ वि० विदित है। और रामप्रसाद 'निरंजनी' का "योगवासिष्ठ" भाषा इससे सत्तर वर्ष पहले का है। इंशाअल्ला की "रानी केतकी की कहानी" और लल्लूजीलाल के "प्रेमसागर" (लगभग १८६० वि०) से वह लगभग ६२ वर्ष पहले का है।

रूपराम सनाढ्य और उनका ग्रंथ "कवित्तसंग्रह" खोज में पहले पहल प्रकाश में आ रहे हैं। यह आगरा जिले की तहसील बाह में कचौराघाट के निवासी थे, जहाँ जमुना आगरे से इटावा के जिले को अलग करती है। ग्रंथ में रचनाकाल तथा लिपिकाल नहीं हैं; परंतु अनुसंधान से पता चलता है कि उनको हुए ५०–६० वर्ष से अधिक नहीं हुए। कहते हैं कि उन्हें साहित्य और संगीत दोनों का पर्याप्त ज्ञान था। वे अच्छे वक्ता तथा कथावाचक थे। उनकी कविता के कुछ नमूने यहाँ दिए जाते हैं—

"लोने लोने लोचन ललित ललाई लसै,
　　लालन की पीक लोक लेखि सुख सरसै।
गोलमोल लोलन अमोलन पै अलबेली,
　　अलक अवलि वैसी..........परसै॥
अति कमनीय कंठ किंकनी वलित कटि,
　　कसैं अटपट पीतपट नीको दरसै।
'रूपराम' सुकवि विलोको रामचंद्रजू के,
　　मुख अरविंद पै अनंद वृंद वरसै॥"
"चकित सी चितवति चहूँदिसि चित्तचोरि,
　　आई पूजि गौरि ओढ़ि ओढ़नी धनक की।
दमकति दामिनि है कीधौं चंद चाँदनी है,
　　करिवरगामिनी है कली है कनक की॥
भये हैं अधीर धीर काहू न धरी है धीर,
　　कहौ कैसे वीर वाकी सुषमा वनक की।

'रूपराम' काम की है कामिनी ललाम छाम,
रामजू की बाम कीधौं नन्दिनी जनक की ॥"
"पंचबान बान में न देवन विमान में न,
भासै भासमान में न प्रानन प्रयान में ।
गंग के प्रवाह में न सिंध से अगाह में न,
पच्छिन के नाह में न पौन अप्रमान में ॥
एरापति में न अस्वपति में न मेघन में,
तारापति में न तैसो कहौं कहा जहान में ।
'रूपराम' सुकवि विलोक्यो ऐसो काहू में न,
जैसो बे प्रमान वेग देख्यो हनूमान में ॥"

'**हरीराम**' का "मृगयाविहार" नामक ग्रंथ इस खोज में प्राप्त हुआ है। पिछली रिपोर्टों एवं मिश्रबंधुविनोद में कई हरीरामों के नाम आए हैं, उन सबसे यह 'हरीराम' भिन्न हैं। इस ग्रंथ में महेंद्रसिंहजी महाराज-भदावर की मृगया का वर्णन है। ग्रंथ संवत् १९१५ वि० तदनुसार १८५८ ई० का बना और उसी सन का लिखा हुआ है। ग्रंथकार का कथन है—

"सुनि सुनि जस रसदान प्रति जोजन प्रगट पचीस ।
चलि ग्रहते हरिराम जू आए जहाँ नृप ईस ॥
नवगाये में नवल नृप श्रीमहेन्द्र हरि नाम ।
दरसि परम आनँद भयो मदनरूप अभिराम ॥"

नवगाये (नौगवाँ) आगरा जिला की वाह तहसील में अवस्थित है और भदावर राज्य की वर्तमान राजधानी है। उस समय वहाँ महेंद्रसिंह गद्दी पर थे। उनके दान की कवि ने काफी प्रशंसा की है—

"दोहा सुनि कै एक, वहै पुरानो हो रच्यौ ।
चही तासु की टेक, बलि बोई कीरतिलता ॥
जाके कवि पंडित गुणी विमुख न एकौ जात ।
बालापन ते हरिकथा सुनत प्रफुल्लित गात ॥"

ग्रंथ का रचनाकाल इस प्रकार है—

"पांडुपुत्र[५] प्रति चंद्रमा[१] भूमिखंड[६] पुनि एक[१] ।
संवत् में मृगया रची **हरीराम** करि टेक ॥"

अर्थात् ग्रंथ संवत् १६१५ वि० (१८५८ ई०) में बना। ग्रंथकार ने केवल संवत् का ही उल्लेख किया है तिथि, मास, पक्ष और वार का नहीं किया।

ज्ञात लेखकों में से कबीर, चरणदास, छत्रकवि, देवदत्त (देव), नजीर (अकबराबादी), नंददास, पद्माकर, रामचरण, रैदास और वाजिद आदि के कुछ नए ग्रंथ प्रकाश में आए हैं। उनमें से जो महत्त्वपूर्ण हैं उनका उल्लेख यहाँ किया जाता है।

कबीर के रचे कहे जानेवाले १६ ग्रन्थों की २२ प्रतियाँ इस शोध में प्राप्त हुई हैं। इनमें सात ग्रंथ ऐसे हैं जिनके विवरण पिछली रिपोर्टों में नहीं लिए गए हैं, और न विनोदकारों ने ही उनका उल्लेख किया। 'झूलना' का उनकी दी हुई कबीर के ग्रंथों की सूची में उल्लेख तो है, परंतु उसका नाम किसी भी पूर्व रिपोर्ट में नहीं मिलता। सन् १९२९–३१ ई० की खोज में इनके जिन ग्रंथों के विवरण लिए गए हैं, उनकी सूची नीचे दी जाती है।

क०सं०	नाम ग्रंथ	लिपि-काल	विषय
१—	अखरावत	१८१७ ई०	गुरुमाहात्म्य, शब्दमाहात्म्य, नाममाहात्म्य, तथा ज्ञान का वर्णन।
२—	क-कबीर बीजक	१८२८ ,,	ब्रह्मविद्या, माया, एवं जीव विषयक भजन।
	ख-बीजक रमेनी	१८५० ,,	साखी आदि द्वारा ईश्वर, माया, एवं ब्रह्म का वर्णन।
३—	दत्तात्रय गोष्टी	×	दत्तात्रेय के जप, तप तथा साधनादि क्रियाओं का खंडन।
४—	ज्ञानस्थित ग्रंथ	पहला १८७० ,, दूसरा १८१३ ,,	नाममाहात्म्य, तत्त्वनिरूपण, अजपाजाप तथा मंत्र।

क्र०सं०	नाम ग्रंथ	लिपि-काल	विषय
५—	झूलना	×	कंठी-माला छाप-तिलकादि का खंडन और निज मत मंडन।
६—	कबीर गोरख गोष्टी	×	कबीर-गोरख का आध्यात्मिक विषय पर वाद-विवाद।
७—	कबीरजी के पद और साखियाँ	१६५३ई०	मायादि की निस्सारता और ब्रह्मज्ञान-संबंधी पद।
८—	कबीरजी के वचन	×	ईश्वर की सत्ता, भक्ति तथा आत्मोपदेश।
९—	कबीर-सुरतियोग	×	कृष्ण तथा युधिष्ठिर के संवाद के मिस भक्त का यथार्थ रूप प्रकाशन।
१०—	कुरम्हावली	×	सृष्टि की उत्पत्ति, कूर्मावतार और उसका विस्तार तथा प्रलयादि के साथ उद्धार का वर्णन।
११—	रमैनी	×	कबीर मत-संबंधी उपदेश।
१२—	रेखता	×	कबीरपंथ संबंधी उपदेश।
१३—	साधु-माहात्म्य	×	साधु-माहात्म्य, पारखी, गुरुसिफारिश, गुरु-माहात्म्य आदि १३ अंगों का वर्णन।
१४—	सुरति-शब्द-संवाद	×	भेष बनाने का खंडन, ब्रह्मज्ञान एवं आत्मनिरूपण।
१५—	स्वाँस गुंजार	×	श्वासों का वर्णन और साधु-उपदेश।
१६—	वशिष्ट गोष्टी	×	जीव, माया, ब्रह्म तथा शब्दादि के संबंध में वशिष्ठ की अनभिज्ञता दिखाकर निज मत की महत्ता प्रदर्शित करना।

इनमें से संख्या ३,४,५,८,९,१३ तथा १६ के सात ग्रंथ खोज में नवीन हैं।

संख्या २ (क-बीजक, ख-बीजक रमैनी), ११ (रमैनी) और ७ (पद) को छोड़कर अन्य ग्रंथों में कुछ भी कबीर की रचना है, इसमें संदेह है। कबीर के नाम पर उनके अनुयायियों ने खूब ग्रंथों की रचना की है। दत्तात्रेय पौराणिक व्यक्ति हैं, उनका कबीर के साथ शास्त्रार्थ (दत्तात्रेय गोष्ठी) गढ़ंत ही है। वैसे ही गोरखगोष्ठी भी। क्योंकि गोरख और कबीर के समय में शताब्दियों का अंतर है। बहुधा इस शाखा के रचयिता लोग अपने समय तक के महंतों की 'दया' ग्रंथ के आदि में पुकारते हैं। संख्या ५ "झूलना" में आदि से लेकर हक नाम साहब (लगभग ई० सन् १८१६—१८४४ तक) के महंतों की दया पुकारी गई है। संख्या १० कुरम्हावली में धर्मदासी शाखा के महंत अमोलनाम सुरतसनेही साहब की (लगभग ई० सन् १७६५ से १८१६ तक) दया पुकारी गई है। संभवतः यह उन्हीं के समय की रचना होगी। ये ग्रंथ १८वीं शताब्दी से पहले के नहीं जान पड़ते। संख्या ७ 'कबीरजी के पद और साखियाँ' बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इसकी प्रतिलिपि किसी कैसोदास ने संवत् १७१० वि० अषाढ़ पूनों को की है। परंतु नोट में अन्वेषक ने लिपि-काल न जाने किस आधार पर संवत् १६९६ वि० बताया है। संभवतः ग्रंथ के किसी अंश में यह तिथि भी दी गई हो या ग्रंथ आरंभ किया गया हो संवत् १६९६ वि० में और समाप्त हुआ हो संवत् १७१० वि० में।

इसका जितना अंश विवरण-पत्र में आया है उससे पता चलता है कि वह कबीर-ग्रंथावली की पदावली और साखी से मेल खाता है। कबीर-ग्रंथावली के प्रधान आधार 'क' प्रति की सत्यता पर संदेह करने के लिये स्थान है। उसकी पुष्पिका में लिपि-काल संवत् १५६१ वि० दिया गया है। परंतु पुष्पिका की लिपि शेष ग्रंथ की लिपि से भिन्न जान पड़ती है। डाक्टर जूलसब्लॉश ने इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है (बुलेटिन ऑव दी स्कूल ऑव ओरियंटल स्टडीज लंडन इंस्टीट्यूशन, भाग ५-६ पृष्ठ ७४९—'सम प्रॉब्लेम्स ऑव इंडियन फिलॉलॉजी')। मैंने स्वयं इस हस्तलेख की जाँच की जिसका परिणाम मैंने

अपने अँगरेजी ग्रंथ 'निर्गुण स्कूल ऑव हिंदी पोयट्री'(Nirguṇa school of Hindi poetry) के पृ० २७६-७७ पर दिया है। यद्यपि मुझे उसका १५६१ का लिखा होना असंभव नहीं मालूम होता, फिर भी मेरी जाँच से भी जो तथ्य प्रकाश में आए हैं वे कम संदेहोत्पादक नहीं हैं। क्योंकि पुष्पिका, जिसमें संवत् दिया गया है, गोड़ी हुई है। मैंने इस 'क' हस्तलेख को जाँच के लिये प्रयाग के डॉकुमेंट इक्सपर्ट श्री चार्ल्स ई० हार्डलेस के पास भेजा था। उनके अनुसार भी पुष्पिका और शेष ग्रंथ अलग अलग व्यक्तियों के लिखे हुए हैं। प्रस्तुत हस्तलेख कबीर-ग्रंथावली के ढंग का कबीर-ग्रंथावली के अतिरिक्त सबसे पुराना हस्तलेख है और उसका बहुत कुछ समर्थन करता है।

चरणदास के बाललीला, व्रजचरित्र, धर्मजिहाज, और योग नामक ग्रंथ नए मिले हैं। इनके विवरण पहले नहीं लिए गए थे।

बाललीला में कृष्ण के बाल-चरित्र का वर्णन है; व्रजचरित्र कृष्ण की प्रेमलीला का गान है; धर्मजिहाज में गुरु-शिष्य-संवाद के रूप में सांसारिक दुख-सुख तथा ऊँच-नीच आदि विभिन्नताओं के कारणों का विवेचन किया गया है और जैसा नाम से प्रकट है 'योग' योग का ग्रंथ है। इस अंतिम ग्रंथ से चरणदास के एक शिष्य (नंदराम) के नाम का पता चलता है, जिसकी जिज्ञासा की पूर्ति के लिये उन्होंने इसका निर्माण किया था।

"नंदराम विनती करै सुनो ईश गुरुदेव।
तुमही दाता भगति कै जोग जुगति कहि देव ॥"

उनके और कई ग्रंथ गुरु-शिष्य-संवाद रूप में लिखे गए हैं, परंतु किसी में भी शिष्य का नाम नहीं आया है।

एक और बात है—गुरु-शिष्य-संवाद रूप में लिखे गए ग्रंथ कभी कभी गुरुओं के स्थान पर शिष्यों के बनाए होते हैं। परंतु इस ग्रंथ के आदि के अंश में बार बार इस बात का उल्लेख हुआ है कि इसका लेखक चरणदास ही है। जैसे—"अथ श्री सुखदेवजी का दास चरणदास कृत जोग लिख्यते" ॥ "गुरु जनक को शिष्य तासु को दास

कहाऊँ।" "चरणदास को हरिभक्ति कृपा करि दीजै।" "चरणदास यह जानि के सतसंगति हरि को भजो। सुखदेव-चरण चित लाय कें सो झूँठ कान दुविधा तजो।"

"षट्कर्म हठयोग" नामक एक और ग्रंथ प्रकाश में आया है जिसका नाम तो नया है किंतु संदेह होता है कि वह दूसरे नाम से उनका ग्रंथ अष्टांगयोग (दे० खो० रि० सन् १९०५ नं० १७) ही या उसका एक अंश तो नहीं है। प्रस्तुत ग्रंथ का आरंभ यों होता है—

"श्रीगणेशाय नमः॥ अथ षट् कर्म हठयोग लिख्यते"

शिष्यवचन

"दो० अष्टांगजोग वर्णन कियो मोको भई पहिचान।
छहो कर्म हठयोग के बरणौ कृपानिधान॥"

और उल्लिखित अष्टांगयोग का इस प्रकार—

"श्रीगणेशाय नमः अथ गुरुचेले का संवाद अष्टांग योग लिख्यते।"

सिष्यवचन

"दो० व्यासपुत्र धन धन तुही धन धन यह स्थान।
मम आसा पूरी भई धन धन वह भगवान॥"

दोनों के अंत में थोड़ा सा पाठ-भेद के साथ निम्नांकित छप्पय आया है।

छप्पय

"गुरु ब्रह्मा गुरु विष्णु गुरु देवन के देवा।
सर्व सिद्धि फलदेन गुरु तुमही भक्ति करेवा॥
गुरु केवट तुम होय करि करौ भवसागर पारी।
जीव ब्रह्म करि देत हरौ तुम व्याधा सारी॥
श्रीशुकदेव दयाल गुरु चरणदास के शीश पर।
किरपा करि अपनो किया सबही विधिसौं हाथ धर॥"

पुरानी रिपोर्ट में इस छप्पय के अतिरिक्त और कोई उद्धरण नहीं है जिससे अधिक मिलान किया जा सके। परंतु प्रस्तुत त्रिवर्षी में भी एक अष्टांग योग का विवरण लिया गया है जिसमें यह छप्पय नहीं है।

शेष बातों में वह उपर्युक्त अष्टांगयोग से मेल खाता है। हो सकता है, इस छप्पय का अष्टांगयोग ग्रंथ से कोई संबंध न हो और किसी लिपिकार ने चरणदास के ही इस छप्पय को ग्रंथांत में लिख दिया हो। ऐसी दशा में षट्कर्म और अष्टांग योग एक ही ग्रंथ के दो रूप नहीं माने जा सकते पर एक ही ग्रंथ के अंश होने की संभावना फिर भी बनी ही रहती है।

उनके ग्रंथों से कुछ कविता के उदाहरण दिए जाते हैं।

"गोपकुमार सहंस येक लिये संगी डोलै।
ब्रज बन जमुन जल थल लीला बहु षेलै॥
कबहुँ कै होय महीनटा पटु हाथ बजावै।
कबहुँ कै बेन सुर धरै संगीत सुनावै॥"

—बाललीला

"सदाशिव ब्रज में रहै कर गोपो को रूप।
मूरति तौ परगट भई आप रहत है गूप॥
वंशीवट ढिग रहत हैं करत रहत हैं ध्यान।
वकता वेद पुरान के परम पुरातन ज्ञान॥"

—ब्रजचरित्र

"एक दुखी एक अति सुखी एक भूप एक रंक।
एकन को विद्या बड़ी एक पढ़ै नहीं अंक॥
एकन को मेवा मिले एकन चनै भी नाहिं।
कारण कौन दिखाइये करि चरणन की छाँहि॥
यही मोहि समझाइये मन का धोका जाइ।
ह्वै करि निसंदेह मैं चरण रहौं लपटाइ॥"

—धर्मजिहाज

छत्र कवि का "सुधासार" ग्रंथ इस खोज में नवीन मिला है। 'विनोद' में भी इसका उल्लेख नहीं है। इसमें उन्होंने भागवत दशम स्कंध का अनुवाद किया है। इसकी रचना इनके सुप्रसिद्ध और प्रकाशित ग्रंथ "विजयमुक्तावली" से १६ वर्ष पश्चात् सन् १७१६ ई० में हुई है।

"संवतु सत्रह से' वरष, और छिहत्तरि तत्र।
चैत्रमास सित अष्टमी, ग्रंथ कियो कवि छत्र॥"

इस दोहे में ग्रंथ का रचनाकाल मि० चैत्रशुक्ला अष्टमी सं० १७७६ वि० (१७१९ ई०) है। वार दोहे में नहीं दिया गया है। विजयमुक्तावली की भाँति इसमें भी छत्रकवि ने अपना और अपने आश्रयदाता का संक्षिप्त परिचय दिया है—

"श्रीवास्तव कायथ कुल, छत्रसिंह इहि नाम।
गाइ विप्र के दास नित, पुर अटेर सुखधाम॥"
"सोहति **सिंह गुपाल** की, कीर्ति दिसा विदिसानि।
भूतल षलभल अरिन के, गहतु षर्ग जब पानि॥
भूपति भानु भदोरिश्रा, किरनि क्रांति जुग छाइ।
सुहृद सकल नृप के सुखद, तम अरि गए बिलाइ॥
ताको सुखद **अटेर पुर**, मुलुक भदावर माँहि।
चारि वर्ण युत धर्म तहँ, रहत भूप की छाँह॥"

उपर्युक्त अवतरण प्रकट करते हैं कि वह तत्कालीन भदावर-नरेश "गोपालसिंहजी के आश्रित थे, किंतु इससे १९ वर्ष पहले रचे जानेवाले "विजयमुक्तावली" ग्रंथ में इन्होंने भदावरनरेश "कल्याणसिंह" को अपना आश्रयदाता बतलाया है। यहाँ इस ग्रंथ की वर्तमान शोध में मिली हुई प्रति से कुछ अवतरण देते हैं जिनमें भदावर की स्थिति का भी कुछ वर्णन है—

मथुरामंडल में बसै, देस **भदावर** ग्राम।
डगलतत (?) प्रसिद्ध महि, छेत्र **वटेश्वर** नाम॥
सुजस सुवास सुनिकट ही, पुरी अटेर हि नाम।
जग्य जाप होमादि वृत, रचत धाम प्रति धाम॥
नगर आदि अमरावती, वासी विबुध समान।
आखंडल सैा लसत तहँ, भूपतिसिंह कल्यान॥"

इसी भदावर-राज्यांतर्गत **अटेर नगर** था। यह नगर अब रियासत ग्वालियर में है। विस्तृत भदावर राज्य अत्यंत संकुचित

रह गया है और अब महाराज भदावर के पास रियासत का अंशमात्र है। अटेर भिंड से हटकर उनकी राजधानी आगरा जिले की बाह तहसील के नौगवाँ नामक गाँव में आ गई है। विवरण के पृष्ठ ४६ में तथा खोज रिपोर्ट सन् १९०६-८ संख्या २३ और खो० रि० स० १९०९-११ ई० सं० ४८ पर कल्याणसिंह संभवत: विजय-मुक्तावली के उपर्युक्त आधार पर ही **अमरावती** के राजा कहे गए हैं जो स्पष्ट अशुद्ध है। नगर का नाम "अटेर" तो इससे ऊपरवाले दोहे में ही दिया गया है जिस पर अमरावती का आरोप किया गया है।

देव के अन्य ग्रंथों के अतिरिक्त, नायिका-भेद-संबंधी; "शृंगार-विलासिनी" नाम का उनका एक और ग्रंथ प्राप्त हुआ है। यह संस्कृत में लिखा गया है। ग्रंथांत में उनका निवासस्थान इष्टिकापुरी (इटावा) दिया है। यथा--

दोहा

"देवदत्त कवि **रिष्टिका**, पुरवासी स चकार।
ग्रंथ मिमं वंशीधर **द्विजकुल** धुरं बभार॥

इससे आगे के छप्पय में ग्रंथ निर्माण-काल इस प्रकार दिया है—

"स्वर[७] भूत[५] स्वर[७] भूमि[१] मिते वत्सरे यदाऽयं।
दिल्लीपति **नरंगसाहि** रजयत्सदुपायं॥
दच्छिण दिशि च तदेव **कुंकुण** नाम विदेशे।
कृष्णावेणीनाम नदी संगम प्रदेशे॥
श्रावणे बहुल नवमी तिथौ रेवानो रेवती धृतियुते।
कवि देवदत्त उदिते रवावगमपय दहनिस्तुते॥"

इससे प्रकट है कि उक्त ग्रंथ देव ने भारत के दच्छिण कोंकण देश में, जिसे वह विदेश कहते हैं और जो कृष्णावेणी नामक नदी-संगम पर स्थित है, संवत् १७५७ वि० (१७०० ई०) के श्रावण की बहुला नवमी को सूर्योदय के समय पूर्ण किया था। वार और पत्त स्पष्ट ज्ञात नहीं होते। उस

दिन रेवती नक्षत्र और धृति योग था। ना० प्र० सभा में नायिका-भेद-संबंधी देवकृत एक संस्कृत ग्रंथ रखा बताया जाता है (दे० मिश्र बं० वि०, द्वि० सं० पृ० ५१६)। उसका रचना-काल संवत् १७५१ वि० (१६९४ ई०) कहा गया है। किंतु प्रस्तुत ग्रंथ का रचना-काल संवत् १७५७ वि० (१७०० ई०) है। इसकी विशेषता यह है कि संस्कृत में होने पर भी यह ग्रंथ छप्पय, सवैया और दोहा आदि छंदों में लिखा गया है जो हिंदी के खास अपने छंद हैं। हिंदी पिंगल के नियमों के अनुसार उनमें तुक भी मिलाई गई है। इन्हीं विशेषताओं के कारण इस ग्रंथ का विवरण रिपोर्ट में सम्मिलित किया गया है। सामान्यतया संस्कृत ग्रंथों के विवरण स्वीकार नहीं किए जाते। विवरण-पत्र में दो सवैये, एक दोहा और एक छप्पय आया है।

ग्रंथकार उस समय दिल्ली की गद्दी पर मुगल सम्राट औरंगजेब का आधिपत्य बतलाता है। औरंगजेब की मृत्यु ग्रंथरचना-काल के सात वर्ष पश्चात् सन् १७०७ ई० में हुई थी। पिछली रिपोर्टों और मिश्रबंधु-विनोद में देवरचित ग्रंथों की नामावली में इस ग्रंथ का नाम नहीं आया है। खेद है कि यह ग्रंथ खंडित अवस्था में मिला है, और लिखा भी अस्पष्ट अक्षरों में है। *

इसमें से कुछ कविताओं के नमूने दिए जाते हैं।

सवैया

"वरवर्णिनि रूपमिदं कथयामि कथं तव सर्व शुचेः सचनं।
रसरासविलास रसा स विहास विचित्रचरित्ररुचेरचनं ॥"
"मदनज्वर आलि विलोकयतस्तु तथापि करोति मनः पचनं।
यदपांदुमुखच्युतमिंदुमुखि शृणु ते ससुधामधुरं वचनं ॥"

॥ इति प्रौढा ॥

* यह ग्रंथ अब एन० एल० शर्मा ऐंड को० भरतपुर (स्टेट) द्वारा प्रकाशित हो गया है।—पी० द० ब०।

अथ मुग्धा

सवैया

"वदतीति नवोढवधू दयिते गुणयौवनशीलयुते।
भयमत्र मतं न विधेहि रतं वितनोमि मनोभिमतं तनुते॥
बहुवाद वृता भयकोपभृता च सकंटक कंप तनुं तनुते।
विमुखं परिरंभसुखं पुनरेव मनागपि रंतुमनामनुते॥"

नजीर की कविता खड़ी बोली में बड़ी लालित्यपूर्ण है। इस खोज में उनके रचे हुए चार छोटे छोटे ग्रंथ ' कन्हैया-जन्म", "वंशी", "बंजारा-नामा" तथा "हंसनामा" मिले हैं। पहले तीन हमारी खोज में नवीन हैं। रचनाकाल किसी में नहीं दिया है। अंतिम ग्रंथ का लिपिकाल संवत् १९१० वि० (१८५३ ई०) है। उनका हंसनामा खोज रिपोर्ट सन् १९२६-२८ ई० के नं० ३३३ पर (रिपोर्ट अप्रकाशित है) नोटिस में आ चुका है। डा० ग्रियर्सन ने अपने माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ हिंदुस्तान में इनका रचनाकाल सन् १६०० ई० से पूर्व माना है। कविताकौमुदी के भाग ४ में पं० रामनरेश त्रिपाठी इनका जन्म १७४० ई० में और मरण १८२० ई० के लगभग लिखते हैं। आगरे के बाबू रामप्रसाद गर्ग ने "रूहेनजीर" के नाम से इनकी कविताओं का एक संग्रह भी प्रकाशित किया है। उनका बंजारानामा वर्नाक्युलर स्कूलों की लोअर प्राइमरी कक्षा एक में पढ़ाया जाता था, जो मौलवी मोहम्मद इस्माइल द्वारा संपादित "उर्दू" की दूसरी किताब में संगृहीत है। इसमें संदेह नहीं कि कविता सरस एवं प्रसाद-गुण-संयुक्त है। यही एक मुसलमान कवि है जिसने दिल खोलकर हिंदुओं के देवी-देवताओं और मेलों तथा त्यौहारों पर सहृदयतापूर्वक कविता की है। इसका कारण यह है कि उनका संपर्क मुसलमानों की अपेक्षा हिंदुओं से अधिक रहा। वह आगरे में पेशवा के लड़कों को पढ़ाते थे और वहाँ माईथान मुहल्ले में सेठों और महाजनों के लड़कों को भी पढ़ाने जाया करते थे। उपर्युक्त पुरानी रिपोर्ट में हंसनामा का रचनाकाल संवत्

१९१८ वि० (१८६१ ई०) दिया गया है। जान पड़ता है कि उसमें लिपिकाल के स्थान पर रचना-काल लिखा गया है।

नजीर के कुछ पद्यांश उद्धृत किए जाते हैं जिससे यह बात ज्ञात होगी कि हिंदू-अवतारों पर उनकी कितनी श्रद्धा है।

"यों नेक नछत्तर बनते हैं इस दुनिया में संसार जनम।
पर उनके और ही लच्छन हैं जब लेते हैं औतार जनम॥
सुभ साइत से यों दुनिया में 'औतार' गर्भ में आते हैं।
जो नारदमुनि हैं ध्यान भली सब इसका भेद बताते हैं॥
वह नेक महूरत में जिस दम इस सृष्टि में जन्मे जाते हैं।
जो लीला रचनी होती है वह रूप यह जाद कहाते हैं॥
यों देखने में और कहने में वह रूप तो वाले होते हैं।
पर बाले ही पन में उनके उपकार निराले होते हैं॥"
"जी बहलाते मन परचाते और खूब खिलौना मँगवाते।
हर आन झुलाते पलने में इधर और उधर टहलाते॥
कर याद नजीर अब हर साइत उस पालने और उस झूले की।
आनंद से बैठी चैन करो जै बोलो कान्ह झन्डोले की॥"

—कृष्णजन्म

"जब मुरलीधर ने मुरली अपनी अधर धरी।
क्या क्या प्रेमगीत की इसमें धुन भरी॥
लै इसमें राधे राधे की हरदम भरी खरी।
लहराई धुन जो उसकी इधर द्वारे उधर जरी॥
सब सुननेवाले कह उठे जै जै हरी हरी।
ऐसी बजाई कृष्ण कन्हैया ने बाँसुरी॥"

× × × ×

"मोहन की बाँसुरी के मैं क्या क्या कहूँ जतन।
लै इसकी मन की मोहनी धुन उसकी चित हरन॥
इस बाँसुरी का आने का जिस जा हुआ वचन।
क्या चल पवन "नजीर" पखेरू वा क्या हिरन॥

सब सुननेवाले कह उठे जै जै हरी हरी।
ऐसी बजाई कृष्ण कन्हैया ने बाँसुरी ॥"—बाँसुरी

नंददास-रचित ८ ग्रंथों की १४ प्रतियाँ प्रस्तुत खोज में मिली हैं। इनमें से "फूल मंजरी" तथा "रानी माँगौ" नवीन हैं। उनके नाम मिश्रबंधुओं की दी हुई इनके रचित ग्रंथों की सूची में भी नहीं आए हैं। पहले ग्रंथ में केवल ३१ दोहे हैं। उनमें नई दुलहिन के रूप-सौंदर्य के वर्णन के साथ साथ प्रत्येक दोहे में एक फूल का नाम आया है। जैसे—

सीस मुकुट कुंडल झलक सँग सोहे ब्रजबाल।
पहरै माल **गुलाब** की आवत है नँदलाल॥ १ ॥
चंपक बरन सरीर सब नैन चपल है मीन।
नव दुलहनि कौ रूप लषि लाल भए आधीन॥ २ ॥

"रानीमाँगौ" भी छोटा सा ही ग्रंथ है। इसके आदि में—"मैं जुवती जाँचन व्रत लीन्हों" की प्रतिज्ञा से ग्रंथ का उठान हुआ है और दान माँगने के रूप में कृष्ण-राधिका के प्रेम का वर्णन किया गया है। कूबरी को ध्यान में रखते हुए कवि ने राधिका के द्वारा कृष्ण पर बड़े मनोहर उपालंभ कराए हैं। दोनों ग्रंथों के रचना-काल और लिपिकाल अज्ञात हैं।

पद्माकर—इस खोज में 'जगद्विनोद' और 'गंगालहरी' के अतिरिक्त एक नवीन, किंतु छोटी सी केवल ८ सवैयों की "लिलहारी लीला" नामक रचना और प्रकाश में आई है जो पद्माकर की बताई गई है। इसके पूर्व की रिपोर्टों में इसका उल्लेख नहीं है। 'विनोद' में भी इस ग्रंथ का नाम नहीं आया है। इसका कथानक यह है—श्रीकृष्ण लिलहारी का भेष बनाकर राधा के यहाँ पहुँचकर, "कोई लीला गुदवा लो" की आवाज लगाते हैं। राधा अपनी सखी द्वारा लिलहारी को बुलवाती है। लिलहारी के भीतर पहुँचने पर राधा नख से शिख तक सारे अंग में कृष्ण के अनेक नाम गोद देने की उससे प्रार्थना करती है। लिलहारी उसके प्रस्ताव को स्वीकार कर पारिश्रमिक ठहराती है। राधा ऐसा इच्छित कार्य कर देने के बदले मूल्यवान् आभूषण दुलरी तिलरी आदि देना स्वीकार करती है। लिलहारी इस पर सहमत होकर राधा का

हाथ अपने हाथ में लेती है किंतु उसी समय राधा श्रीकृष्ण के छद्म वेश को पहचान लेती है—

"हाथ पै हाथ धरयौ जबही तब चौंकि उठी वृषभानु-दुलारी।
श्याम सिखे छल छंद बड़े तुम काहे को भेष बनावत नारी॥"

बात खुल जाती है। और राधिका—"हम हैं हरि की पग धोवन-हारी।" कहकर लीला समाप्त कर देती है। इस ग्रंथ में रचनाकाल नहीं है। उसकी प्रतिलिपि चैत्र बदी अष्टमी संवत् १९१४ वि० (१८५७ ई०) में किन्हीं बालदीन पांडे ने की है। रचना रोचक होने के साथ साथ छोटी है इसलिये वह अविकल रूप से यहाँ उद्धृत की जाती है।

कवित्त

(१)

"मनमोहनी रूप धरो...बरसाने चली बनि कै लिलहारी।
वृषभान के द्वारे अवाज दई तुम लीला गुदावो सबै ब्रजनारी।
राधे अवाज सुनीं श्रीकृष्ण की लीनी बुलाय पिन्हावन हारी (?)।
लै आवो बुलाय हमारे घरै एक आई है आजु नई लिलहारी॥

(२)

उन्ह जाय जवाब दियो श्रीकृष्ण को तुम्हैं बोलावत राधिका प्यारी।
अपने कर सों कर साथ लियो जहँ बैठी हुती वृषभानदुलारी॥
सिर पै जो डला सो उतारि धरो अरु जाय खड़ी प्रिय पास अगारी।
तबही हँसि राधे जवाब दियो तुमहीं लिलहारी की गोदनहारी॥

(३)

लिखि दे भुजदंड पै बालगोविंद भुजै भगवान गरे गिरधारी।
ठोढ़ी पै मूरति ठाकुर की अरु ओठन पै लिखु कृष्ण मुरारी॥
नासिका पै नाम नरायन को अरु भौंहन पर लिखु कृष्ण मुरारी।
हुइ कै अधीन सबै लिखिदे सुनिये लिलहारी की गोदनहारी॥

(४)

दे लिखि बाँहन में ब्रजचंद सो गाल कपोलन कुंज बिहारी।
सो (?) पदुमा लिखिहैं। विधि लिखु गोसे गोविंद गरे गिरधारी॥

याही तरह नख सें सिख लौं लिखु नाम अनंत इकंत होइ प्यारी।
स्यामर के रँग सों गोदि दे अंग में सुनिए लिलहारी की गोदनहारी॥
(५)
दंत पै नाम दमोदर को मेरे कंठ में लिखि दे कृष्ण मुरारी।
दाहिनी ओर लिखो सजनी कर चारि भुजा के बाँके मुरारी॥
हाथ पै नाम लिखो हरि को दोनों जोबन बीच लिखो बनवारी।
हृदय बीच नाम लिखौ मनमोहन सुनिए लिलहारी की गोदनहारी॥
(६)
काम हमारो यही सजनी हम हैं परदेसी सहित रुजगारी।
तुम जोई कहौ हम सोई लिखैं तेरे अंगहि अंग में वेधों मुरारी॥
वृषभान लली बरसाने घरा बड़े राजन की तुम राजदुलारी।
देहौ कहा सो कहौ सजनी हम हैं लिलहारी की गोदनहारी॥
(७)
देहौं मैं हार हजारन कौ दुलरी तिलरी हँसुली बड़ि भारी।
देहौं छला दोनों हाथन के अरु[१] पैंधन को अपने तन सारी॥
और अभूषन तोहि दिहौं अरु[१] पैंधन को अपने तन सारी।
मोतिन माल अमोल दिहौं सुनिए लिलहारी की गोदनहारी॥
(८)
हाथ पै हाथ धरौ जबहीं तब चौंकि उठो वृषभान-दुलारी।
श्याम सिखे छल छंद बड़े तुम काहेक भेष बनावत नारी॥
देखन को तोहि प्रेम बढ़ो तबही हम रूप कियो लिलहारी।
पदमाकर यों वृषभान (कुमारि) कहै हम हैं हरि को पग धोवनहारी॥"

यह रचना पद्माकर की है या नहीं, निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इसकी भाषा उतनी मँजी हुई नहीं जितनी पद्माकर की अन्य रचनाओं की है। पद्य ढीले ढाले हैं। केवल अंतिम सवैये के अंतिम चरण में पद्माकर का नाम आया है। वह भी छंद में बाहर

१ एक ही पंक्ति दोनों स्थानों पर नकल हुई है
प्रस्तुत ग्रंथ अशुद्ध नकल हुआ जान पड़ता है।

से जोड़ा हुआ जान पड़ता है। यदि यह पद्माकर की ही रचना है, तो संभवतः आरंभिक रचना होगी।

रामचरण रामसनेही पंथ के संस्थापक और नवलराम महाजन मेहरी के गुरु थे, जिसका नवलसागर नाम का ग्रंथ १९०१ ई० की खोज रिपोर्ट के नं० ६४ पर नोटिस में आ चुका है। नवलदास ने स्वयं कहा है—

"अनंतकोटि जन सिरन पै, रामचरण उर माँहि।
आन भरोसो आन बल, नवलराम के नाँहि॥"

प्रस्तुत रिपोर्ट में उनके रचे ९ ग्रंथों के विवरण लिए गए हैं—१—जिज्ञासबोध (नि० का० १८४७ वि०) २—विश्रामबोध (नि० का० १८५१ वि०) ३—समतानिवासग्रंथ (नि० का० १८५२ वि०) ४—विश्वासबोध ग्रंथ (नि० का० १८४९ वि०) ५—अमृत उपदेश (नि० का० १८४४ वि०) ६—रामचरण के शब्द ७—अणभै विलास (नि० का० १८४५ वि०) ८—रामरसायनि और ९ सुखविलास (नि० का० १८४६ वि०)। इनमें से अब तक कोई भी ग्रंथ खोज में नहीं मिला था। हाँ, 'विनोद' के नं० १०७५ पर इनके रचे ५ ग्रंथों का उल्लेख मात्र हुआ है, जो इस रिपोर्ट की सं० १, २, ४, ६ तथा ७ पर आए हैं। प्राप्त ग्रंथों के नं० ६ का नाम 'रामचरण के शब्द' है और 'विनोद' की सूची में एक ग्रंथ का नाम "वाणी" लिखा है। सामान्यतया 'वाणी' किसी संत की समस्त रचनाओं के संग्रह को और "शब्द" उसके एक अंश अर्थात् पदावली के संग्रह को कहते हैं। ऐसी अवस्था में 'शब्द' एक स्वतंत्र ग्रंथ न होकर "वाणी" का अंग भी हो सकता है। परंतु किसी निश्चय पर पहुँचने के लिये यहाँ पर्याप्त उपकरण प्रस्तुत नहीं है। विनोद में इनके एक और ग्रंथ "रसमालिका" का भी उल्लेख है; परंतु खोज में यह ग्रंथ अयोध्या के महंत रामचरण की रचनाओं में सम्मिलित किया गया है जो ठीक भी जान पड़ता है (दे० खो० रि० १९०३ नं० ४४)। ग्रंथ नं० ६ तथा ८ के अतिरिक्त शेष सभी ग्रंथों में रचनाकाल दिए गए हैं, जो उनके नामों के साथ कोष्ठकों में लिखे हैं।

इनके सभी ग्रंथों में आरंभ का स्तुति-संबंधी दोहा एक ही है जो यहाँ दिया जाता है—

"रामतीत (राम) गुरु देवजी (पुनि) तिहूँकाल के संत।
जिनकूँ रामचरण की वंदन वार अनंत॥"

यह राजपूताने के शाहपुरा नामक स्थान के निवासी थे। इनके गुरु का नाम कृपाराम या कृपालराम था, जैसा उन्होंने अपने अमृत उपदेश नामक ग्रंथ में बताया है—

"सिर ऊपर सतगुरु तपै **कृपारामजी** संत।
रामचरण ता सरणि में ऐसो पायो तंत॥"

इसी प्रकार "शब्द" में लिखा है—

"सतगुरु संत कृपालजी रामचरण सिष तासु के।
कारिज करि कारण मिले तुम गुरु रामजन दास के॥"

कहीं कहीं इन ग्रंथों के एक ही व्यक्ति के रचे होने के विषय में कुछ संदेह हो जाता है। 'रामरसायनि' में लिखा है—

"सवद एक **महराज** का नग मोताहल जोइ।
ग्रंथ जोड़कर **रामजन** षानाजाद जु होइ॥" ॥ १ ॥
ए वाहक उधार करिणकूं रामचरण जी भाषै।
राम रसाइनि रस का भरिया आप सबन कूँ दाषै॥ २ ॥
ताकी जोड़ ग्रंथ या परगट राम जन बणवायो।
ज्ञान भगति वैराग जुगति मुकतो पंथ बतायो॥ ३ ॥

पहले में ग्रंथ का जोड़नेवाला रामजन है, दूसरे में रस का भरनेवाला 'रामरसाइनि' "ए वाहक उधार करण कूँ" रामचरणजी ने 'भाषा' है और तीसरे दोहे में "ताकी जोड़"—उसी टकर का या (यह) ग्रंथ रामजन ने "बणवायो" है। किंतु ग्रंथ के अंत में—"इति श्री रामरसाइनि ग्रंथ रामचरणकृत संपूर्ण समाप्त:" ही लिखा है।

ग्रंथकार ने अपना मृत्यु-काल कैसे लिख दिया होगा? यह संदिग्ध है। अनुमान होता है कि किसी शिष्य तथा प्रतिलिपिकर्त्ता

ने पीछे से इस या इसी प्रकार की अन्य प्रतियों में इसे अपनी ओर से जोड़ दिया होगा।

'अनुभवविलास' में भी—"ग्रंथ जोड़ कही रामजन" इसी प्रकार का पद आया है। रामचरण के शिष्य उनको 'राम' कहा करते थे, जैसा इनके शिष्य नवलदास ने अपने नवल-सागर में कहा है—

"रामगुरु उर में बसे अनंत कोटि जन सीस।
नवलौ अनुचर रावरौ मानूँ बिसवा बीस॥"

अनुभवविलास में रामचरण के गुरु कृपाराम की मृत्युतिथि—"बत्तीसै **कृपाल** छठि भाद्रपद सुदि सुकर। छोड़े आप सरीर परम पद पहुँचे मुकर॥" और इससे पूर्व रामचरण का जन्मकाल—"अठारै सै षट वर्ष मास फागुन बदि सातैं।संत पधारै धाम सनीचर वार विख्यातैं॥" इस प्रकार दिया है।

'रामरसाइनि' के अंत में रामचरण की मृत्यु का इस प्रकार उल्लेख है—

"ये वाहक पुर माह पधारे धाम कूँ।
ररंकार में लीन उचारे राम कूँ॥
अठारह सै पचपन बुधि पाँचै परी।
परिहा वैसाष मास गुरुवार देह त्यागन करी॥"

इनसे पता चलता है कि वि० १८०६ में रामचरण का जन्म हुआ, वि० १८३२ में उसके गुरु कृपाराम का निधन हुआ और १८५५ वि० में स्वयं रामचरण का। उनके 'शब्द' ग्रंथ में भी 'जन्म संवत्' वि० १८०६ (१७४६ ई०) दिया है।

इनकी भाषा में राजस्थानी शब्दों के अतिरिक्त फारसी, अरबी के शब्द भी बहुत आए हैं जैसे—"मुरसदकूँ सजदा करै", "आलम औरत जुलुम रहैं", "तू सिर गजब चलि आई जुरा की फौज", "गाफिल होइ मति भाई" आदि। इनकी रचना का सार गुरु-महिमागान, संसार से

विरक्तता और केवल राम से नाता रखना है। कविता साधारणतया अच्छी है। उदाहरण के लिये शब्दमहिमा एवं नाम की उत्तमता के विषय में उनका यह पद्य लीजिए—

"याको है सवाद मीठो दीठो हम चाखि एह,
फीकौ लगै काम रामजी सौं रागी है।
उत्तिम सबद सत निज जाकी सोभ भारी,
उचारी है गिरा ज्ञान अगता ज्यों त्यागी है॥
भगति भजन मन जीतिवे गति कही,
गही जो विचारवान वोही बड़भागी है।
अणभैविलास महासुख को निवास जानो,
विद्वान् जो काहा (?) एहु परम विरागी है॥"

रैदास के नाम से दो ग्रंथ "प्रह्लादलीला" और 'रैदास के पद" इस खोज में प्राप्त हुए हैं। दूसरा ग्रंथ तो निस्संदेह प्रसिद्ध रैदास का ही है। असंभव नहीं कि पहला भी उन्हीं का हो पर यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता। दूसरे ग्रंथ का लिपिकाल संवत् १६९६ वि० (१६३९ ई०) है। खोज रिपोर्ट सन् १९०२ ई० के नं० ९७ पर नोटिस में भी आ चुका है, किंतु यह प्रति उससे १० वर्ष पुरानी है। प्रह्लाद-लीला में निर्माणकाल तथा लिपिकाल नहीं दिया गया है। ग्रंथ छोटा ही है। इसमें नरसिंह-अवतारांतर्गत भक्त प्रह्लाद की अनन्य भक्ति का दिग्दर्शन कराया गया है। ग्रंथ की प्रतिलिपि अशुद्ध हुई जान पड़ती है। इस ग्रंथ में प्रह्लाद का जन्मस्थान मुलतान (पंजाब) बताया गया है—

"सहर बड़ो मुलतान जहाँ एक कुलवँत राजा।
यहँ जनमे प्रह्लाद सर सुर सुवि (? भुवि) के काजा॥
पूछौ विप्र बुलाय कै जन्म्यौ राजकुमार।
या लच्छण तो कोई नहीं असुर संहारणहार॥"

यहाँ 'सर' शब्द संभवत: सरे के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रह्लाद के जन्म लेते ही उनके लच्छण पूछे गए हैं। जोर देकर यह भी पूछा गया है कि उसका कोई लच्छण "असुर संहारणहार" तो नहीं है?

इससे आगे कथाक्रम भंग हो गया है। पूछी बात का कोई उत्तर नहीं दिया जाता, उसकी पढ़ाई लिखाई आरंभ हो जाती है। "सुण धौरौं प्रह्लाद कौ रणगुण तैं पढ़ैये। मैं पढैऐ राम को नामा और जान ही जानौं ॥" "राम मैं छोड़ि तीसरो अंक न आनौं ॥" ज्ञात होता है, यहाँ 'धौरौं' शब्द पास के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'सुण धौरौं' पास जाकर सुन। पंडित से कहा गया है, "रणगुण तैं पढ़ैए" तू इसे रण-विद्या की शिक्षा देना। पास आकर कही हुई बात को भी प्रह्लाद सुन लेता है और उत्तर देता है—

"कहा पढावै बावरै और सकल जंजार।
भौसागर जमलोक ते मुहि कौन उतारे पार ॥"

इस प्रकार राम नाम को ही सार कहकर प्रह्लाद ने पढ़ा। इससे आगे भक्त की दृढ़ प्रतिज्ञा की परीक्षाओं का वर्णन समाप्त होकर, अंत में—

"अस्त भयो तब भानु उदै रजनी जब कीन्हा।
खंभा में ते निकरि जाँघ पर जोधा लीन्हा ॥
नष सौं निष्कप बिडारिया तिलक दिया महराज।
सप्तलोक नव षंड में तीनि लोक भई राज ॥"—

इस पद्य से विषय समाप्त हो जाता है। और ग्रंथकार भगवान् की वत्सलता का वर्णन करके ग्रंथ को समाप्त कर देता है—

"जहाँ भक्त को भीर तहाँ सब कारज सारे।
हमसे अधम उधारि किए नरकन से न्यारे ॥
सुर नर मुनि मंडन कहैं पूरण ब्रह्म निवास।
मनसा वाचा कर्मणा गावै **जन रैदास** ॥"

वाजिद का राजकीर्तन नामक ग्रंथ पहले नोटिस में आ चुका है। (दे० स० रि० १९०२ ई० संख्या ७९)। इनका रचना-काल १६०० ई० माना गया है। इस खोज में बिना सन् संवत् के दो ग्रंथ "अरिल्ल" और "साखी" नाम से मिले हैं। दोनों ग्रंथ प्राय: संत संप्रदाय से संबंध रखते हैं। "अरिल्ल" की लिखावट अस्पष्ट और अशुद्ध है, अतएव पढ़ने में कठिनता से आती है।

इसमें विरह, सुमिरण, काल, उपदेश, कृपण, चाणक, विश्वास, साध तथा पतिव्रता इन नौ अंगों पर रचना की गई है। ग्रंथ के आरंभ में "संतसाहिब सत सुकृत कबीर" लिखा हुआ है जिससे पता चलता है कि या तो लेखक या प्रतिलिपिकर्त्ता कबीरपंथी था। परंतु अब तक परंपरा से जो कुछ ज्ञात है, उससे वाजिद या बाजिंदा दादू के चेले प्रसिद्ध हैं। अरिल्ल की रचना का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

"अपनो ही सब षोट दोस कहा राम को।
हरिहा नीच उँच सौं बाँधैा कहैा किहि काम कौ॥"

× × × ×

दरगह बड़ी दिवान न आवै ठेहजी।
जो सिर करवत देइ तो कीजै नेहजी॥
दर ते दूरि न होइ दरद को हेरिके।
हरिहाँ जाण राइ जगदीस निवाजो फेरिके॥"

'साखी' बड़ा उपदेश-पूर्ण ग्रंथ है—किंतु अपूर्ण मिला है। इसमें भी सुमिरणादि विषयों के अनुक्रम से रचना की गई है। साखी के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं—

"हाथी साथी कैान कौ काकौ गढ औ गाँव।
वाकी विरियाँ आइ है जब आड़ो हरिनाम॥"
"तिल पल पहर घरी गुन गोविंद के गाइ।
काल जाल ते निकसि है सुमिरन सेरी पाइ॥"
"भवसागर डूबे नहीं तुरत लगाए तीर।
वाजिद राम को नाम यह जग जहाज है वीर॥"
"वाजिद राम के नाम को बिसरि जाइ जिन सूर।
छाया हाषै हस्त की पाय ताय है दूर॥"
"देह गेह गुन बीसरी नेह लात के लागि।
लोहू पानी ह्वै गया जरत विरह की आगि॥"
"विधना मेरी बुधि हरी धरी सीसतर बाँहि।
नारि गँवारिन समझई भये कौन के नाह॥"

"काहे न बरसि बुझावइ मही तपति है देह।
बरखा चूक न चाहिए इक बालम इक मेह ॥"
"देहु मौज दीदार की लेहु न याको अंत।
चाल को लै चहुँ दिसा निसा अँधेरी कंत ॥"
"कृपा करी वाजीद सौं धरहु सीस पर पाउँ।
पलक पाट दोउ खोलिकै नैनों भीतर आउ ॥"

इनके अतिरिक्त दो हस्तलिखित ग्रंथ और हैं जिनका उल्लेख करना आवश्यक है। एक तो प्रपन्नगणेशानंद का "भक्तिभावती" ग्रंथ और दूसरा "रामरक्षा" ग्रंथ।

'भक्तिभावती' पिछली एक रिपोर्ट में भी आ चुकी है (दे० खो० रि० सन् १९०१ नं० १३६)। उसमें इसका रचनाकाल नीचे लिखी हुई चौपाई के अनुसार संवत् १६११ वि० ठहरता है—

"संवत् सोले से भवसालै। मथुरापुरी केसवा आलै ॥
असुन पेहल ग्यारसि रिविवारी। तह षट पहलीहि विसतारी ॥"

परंतु प्रस्तुत खोज में इसकी जो प्रति प्राप्त हुई है उसमें रचनाकाल संवत् १६०९ वि० (१५५२ ई०) और लिपिकाल संवत् १८१० वि० (१७५३ ई०) दिया हुआ है। रचनाकाल की चौपाई इस प्रकार है—

"संवत् सोलह सै नवसालै। मथुरापुरी केसव आलै ॥
आश्वनि पहल ग्यारसि रविवारी। तहँ षट् पहर माहिं बिसतारी ॥"

कवि ने संवत् को आधा संख्या में और आधा संकेत में न लिखा होगा जैसा पुरानी रिपोर्टवाली प्रति में है। वह असंभव तो नहीं पर अस्वाभाविक सा अवश्य लगता है। पुरानी रिपोर्टवाली प्रति में संभवत: लिपिकार ने 'नव' के स्थान में गलती से 'भव' (रुद्र=ग्यारह) लिख दिया है। ग्रंथ-रचना-काल १६०९ वि० ही माना जाना चाहिए जैसा वर्तमान प्रति में है।

'रामरक्षा' इस बार के विवरण में रामानुजाचार्य के नाम से आई है। हस्तलेख के अंत में लिखा है—"इति श्री**रामानुजाचार्य**-

कृत श्रीरामरक्षा स्तोत्र संपूर्णम् ॥" इसके अतिरिक्त ग्रंथ के उद्धरणों में रामानुज का नाम कहीं नहीं है जिससे यह प्रकट हो सके कि इसके रचयिता वही हैं। रिपोर्टों में अब तक यह रामरक्षा कई बार आ चुकी है (दे० खो० रि० सन् १९०० ई० नं० ७६; खो० रि० सन् १९०९—११ ई० नं० २५० ए और दिल्ली रिपोर्ट सन् १९३१ के पृष्ठ ८)। कभी यह सुप्रसिद्ध स्वामी रामानंद की मानी गई है और कभी रामानंददास की। किंतु रामरक्षा थोड़े से हेर फेर के साथ प्रत्येक दशा में मूलतः एक ही ग्रंथ है। उसके रचयिता अलग अलग नहीं समझे जाने चाहिएँ। स्वयं रामानंद इसके रचियता हों या न हों, किंतु प्रस्तुत प्रति को छोड़कर अन्य प्रतियों में लिखनेवालों का अभिप्राय प्रसिद्ध रामानंद से ही जान पड़ता है। उनके शिष्य कबीर के नाम से भी एक रामरक्षा मिलती है (दे० खो० रि० सन् १९०६—८ नं० १७७ एस) जिससे इस बात की पुष्टि होती है। प्रस्तुत रामरक्षा भी रामानंद के नाम से मिलनेवाली रामरक्षा ही है। उसमें रामानंद का नाम तक आया है। तुलना के लिये हम सन् १९०३ ई० की रिपोर्ट-वाली तथा प्रस्तुत रामरक्षा के कुछ अंशों को नीचे उद्धृत करते हैं—

(अ) खोज रिपोर्ट सन् १९०३ ई० से—

ओं संध्या तारणी, सर्व **दोष** निवारणी।

संध्या करे विघ्न टरें **पिंड** प्राण की रक्षा नाथ निरंजन करें॥

ज्ञान **धन** मन **पहुँचे** पंचहुताशनं। क्षमा जाय समाधि पूजा नमो देव निरंजनं ॥ १ ॥

गर्जत गवन वाजंत **वेयण शंखसवद ले** त्रिकुटी सारं। **दास** रामानंद **निजु तत्त्व विचारं। निजु तत्त्व तें होते ब्रह्मज्ञानी**। श्रीरामरक्षादीय उधरे प्राणी। राजद्वारे पथे घोरे संग्रामे **शत्रुसंकटे**। जायलागा धीरं। **श्रीरामचंद्र** उचरंते लक्ष्मणजी सुनते **जानकी सुनते**। हनुमान सुनते **पापं न लिपंते**। पुन्य ना हरंते। संध्याकाले प्रातःकाले जे नरा पठते सुनते मोक्ष मुक्तफल पावते। इति श्री रामरक्षा रामानंद को ॥

(ब) प्रस्तुत रिपोर्ट के नोटिस से—

ओं संध्या तारणी सर्व **दुःख** निवारनि।

संध्या **उचरे** विघ्न टरे। **पिंड** प्राण की रक्षा श्रीनाथ निरंजन करे ॥ १ ॥

ज्ञान **धूप** मन **पहुप** इंद्रिय पंचहुतासन। छिमाजाप समाधि पूजा नमोदेव निरंजनं ॥ २ ॥

गाजंत गगन वाजंत **वेनु संख धुनि सब्द** त्रिकुटी सारं। **गुरु** रामानंद **ब्रह्मकों चिन्हंते सो ज्ञानि** एते रामरक्षा **वादिये** उद्धरंत प्राणी ॥ राजद्वारे पथे घोरे संग्रामे शत्रु**संकटे**। **श्रीरामरक्षास्तोत्र-मंत्र** राजारामचंद्र उचरंते लक्ष्मण**कुमार** सुनत **धर्म्मनिहारं ततयो पुण्य लभ्यते। सीता सुनंत** हनुमान सुनंत। बीज त्रिकाल जपंते सो प्राणी परांगता ॥ इति श्रीरामानुजाचार्यकृत श्रीरामरक्षा स्तोत्र सम्पूर्ण ॥

दोनों प्रतियों के पाठभेद मोटे अक्षरों द्वारा दिखाए गए हैं। पिछली रिपोर्टवाली प्रति में जहाँ दोष, करे, पिंभ, धन, पहुपै, गजंत, गवन आए हैं वहाँ प्रस्तुत प्रति में क्रमशः दुःख, उचरे, पिंड, धूप, पहुप, गाजंत, गगन आदि शब्द हैं। 'पिंभ' तो जान पड़ता है 'पिंड' ही है जिसे लिपि की प्राचीनता के कारण विवरण लेनेवाले ने गलती से ऐसा पढ़ा है। कहीं साधारण मात्रादि का ही भेद है, कहीं शब्दों का भी भेद हो गया है और कहीं-कहीं कुछ अंश घट-बढ़ भी गया है। परंतु इतना होने पर भी दोनों ग्रंथ एक दूसरे से अभिन्न ही हैं। रामानंद-संप्रदाय रामानुज के श्री संप्रदाय की एक शाखा है। इसलिये रामानंदियों में भी रामानुजाचार्य का बड़ा मान है। कभी कभी उनके ग्रंथ 'श्रीमते रामानुजाचार्याय नम' से आरंभ होते हैं। संभवतः किसी प्रतिलिपिकर्त्ता ने इसी कारण गलती से रामानुज को ग्रंथकार समझ लिया हो।

यह रिपोर्ट का केवल पूर्वांश है। नीचे रिपोर्ट के साथ दिए गए परिशिष्टों की सूची दी जाती है। वे रिपोर्ट के आवश्यक और महत्त्व-

पूर्ण अंग हैं पर स्थानाभाव से पत्रिका में नहीं दिए जा सकते। इसी लिये पत्रिका के पाठकों के लाभार्थ ऊपर ग्रंथों से कुछ अधिक उद्धरण दे दिए गए हैं जो मूल रिपोर्ट में नहीं हैं। संपूर्ण रिपोर्ट यू० पी० गवर्मेंट प्रेस से प्रकाशित होती है।

परिशिष्टों की सूची

परिशिष्ट १ में ग्रंथकारों पर टिप्पणियाँ।

परिशिष्ट २ में ग्रंथों के विवरणों से उद्धरण।

परिशिष्ट ३ में उन ग्रंथों की सूची जिनके लेखक अज्ञात हैं।

परिशिष्ट ४ (अ) में उन लेखकों की सूची जिनके ग्रंथ सन् १८८० ई० के बाद के लिखे प्राप्त हुए हैं।

(ब) में आश्रयदाता और आश्रित ग्रंथकारों की सूची।
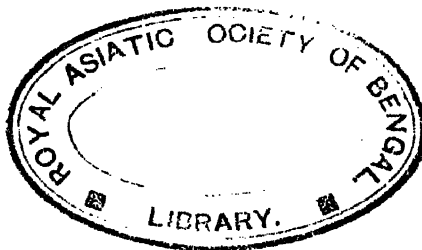
सिकंदर का भारत पर आक्रमण

[लेखक—श्री शालिग्राम श्रीवास्तव]

योरप की जातियों में से जिन्होंने सबसे पहले भारत में घुसकर आक्रमण करने का साहस किया था, वे यूनानी या यवनानी थे।

प्राक्कथन

मकदूनिया-नरेश सिकंदर उनका नेता था। पाश्चात्य-इतिहासकार इस घटना का वर्णन यह दिखलाने के लिये बड़े समारोह के साथ करते हैं कि यूनानियों की यह चढ़ाई, जो ३२६ ई० पू० में हुई थी, एशिया पर योरप की पहली विजय थी। पर ऐसा समझना बड़ी भूल है।

इतिहास के विद्यार्थियों से छिपा न होगा कि सिकंदर से बहुत पहले जेरेक्सस और डायरेस प्रथम[१] ईरान के आर्य नरेशों ने क्रमशः ४८० और ४८६ ई० पू० में यूनान पर चढ़ाई करके एथेंस में घुसकर रक्त की नदियाँ बहा दी थीं[२]। इतना ही नहीं, योरप के सब से बड़े शक्तिशाली रोम-साम्राज्य को शापूर तथा नरसी इत्यादि ईरानी राजाओं ने परास्त करके रोम के कई सूबे छीन लिए थे।

हमारे स्कूलों में विद्यार्थियों को भारत पर सिकंदर के हमले का जो वृत्तांत पढ़ाया जाता है, वह प्रायः इतना ही रहता है कि 'सिकंदर के आने पर तक्षिला के राजा आंभी ने तुरंत उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी, जो पंजाब के राजा पोरस का शत्रु था, तथा कुछ अन्य छोटे छोटे राजाओं ने भी ऐसा ही किया था; और फिर सिकंदर और पोरस से युद्ध हुआ, जिसमें पोरस की हार हो गई। पर पोरस की

१—ईरान के अंतर्गत 'नक़्श-रुस्तम' और 'तख्तेजमशेद' से प्राप्त शिला-लेखों में इस राजा का नाम داریوش (दारयूश) लिखा है। हमने हेरोडोटस के लेखानुसार ऊपर यूनानी ढंग का नाम लिखा है।

२—Herodotus, Books VI and VII.

वीरता से प्रभावित होकर सिकंदर ने उसका आदर किया और फिर अपने देश को लौट गया क्योंकि उसकी सेना थक गई थी। अतः उसने भारत में आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया था।'

स्मिथ ने यह वृत्तांत कुछ अधिक विस्तार के साथ लिखा है, पर ऐसे ढंग से जिससे भारत की हर प्रकार से हीनता और दुर्बलता ही प्रकट होती है।

खेद के साथ कहना पड़ता है कि हमारे पास इस महान् ऐतिहासिक घटना की कोई अपनी सामग्री नहीं है; क्योंकि भारतीय पंडितों ने इसका कोई वृत्तांत लेखबद्ध नहीं किया। सिकंदर की बात तो बहुत पुरानी है, महमूद गजनवी तक के हमलों का वर्णन किसी भारतीय लेखक ने नहीं लिखा। लिखते कैसे? वे या तो ब्रह्म-चिंतन में डूबे रहते थे अथवा अन्य प्रकार की आध्यात्मिक विवेचनाओं में या काव्य तथा नाटकों की रचना में लगे रहते थे। फिर ऐसी बातों को कौन लिखता? अतः विवश होकर हमको विदेशियों के वचन पर अवलंबन करना पड़ता है, जो कभी पक्षपात-रहित होकर नहीं लिख सकते थे। और फिर उन्हें विजेता होने का अभिमान था।

यहाँ हमको शेख सादी की एक कहानी याद आई, जिसका उल्लेख असंगत न होगा। वह इस प्रकार है कि एक मनुष्य ने रात को स्वप्न में शैतान को देखा कि उसका रूप बहुत ही सुंदर है। उसने चकित होकर शैतान से पूछा कि यार! हम तो दुनिया में तुमको बहुत ही कुरूप सुनते आते थे। यह क्या बात है? उसने हँसकर उत्तर दिया 'भाई, हम तो वास्तव में ऐसे ही हैं जैसा इस समय तुम देख रहे हो, पर कलम दुशमनों के हाथ में है,[१] वे जैसा चाहते हैं हमारा चित्र खींचकर दिखा देते हैं'।

ठीक यही दशा विदेशी इतिहासकारों की है, जिन्होंने हमारे विषय में जैसा चाहा लिख मारा है; और वही हमारे लिये आज प्रमाण बना हुआ है।

१—ولیکن قلم در کف دشمن است (بوستان)

उस दिन प्रोफेसर हुमायूँ कबीर ने बंगाल कौंसिल में, कलकत्ता की 'कालकोठरी' का हत्याकांड कल्पित सिद्ध करते हुए कहा था कि जातीयता और साम्राज्य-वाद के हेतु किस प्रकार से इतिहास गढ़ा जाता है[१]

एक बात और विचारणीय है कि दो दलों के संघर्ष में केवल एक की विजय और दूसरे के पराजय से उनके बलाबल का ठीक अनुमान नहीं हो सकता। विजेता की वीरता और विजित की कायरता का भी वास्तविक परिचय नहीं मिलता जब तक गहराई में पैठकर यह न देखा जाय कि उसकी तह में उस समय कौन सी अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थितियाँ काम कर रही थीं।

यों तो ऊपरी दृष्टि से देखने में वाटरलू की लड़ाई में नेपोलियन की हार हो गई थी; योरप के महायुद्ध में जर्मन परास्त हो गए थे। पर क्या कोई निष्पक्ष इतिहासकार हृदय पर हाथ रखकर कह सकता है कि इन युद्धों में हार का कारण नेपोलियन और जर्मनों की कायरता और निर्बलता थी ?

अब यह देखना है कि सिकंदर के आक्रमण की कौन सी मूल सामग्री उपलब्ध है, जिसके आधार पर पिछले इतिहासकारों ने उसका वृत्तांत लिखा है। कहा जाता है कि

सिकंदर के इतिहास का स्रोत

सिकंदर के कतिपय साथियों और कुछ अन्य समकालीन अथवा निकटवर्ती लेखकों ने उसकी विस्तृत जीवनियाँ लिखी थीं जिनकी संख्या १९ के लगभग बतलाई जाती है, पर इनमें से अब संसार में किसी का पता नहीं है[२]। संभवत: मुद्रण-कला न होने अथवा अरबों के आक्रमण के समय सिकंदरिया के विशाल पुस्तकागार के भस्म हो जाने से ये सब पुस्तकें भी अग्नि की भेंट हो गई हों।

१—"How history is manufactured for national and imperialist purposes." (Leader Feb. 7, 1938 p 19.)

२—देखिए The Invasion of India by Alexander, Translated from Greek writings by W. J. Merindle p. 8.

कुछ भी हो, सिकंदर के सैकड़ों वर्ष पीछे चार मुख्य इतिहासकारों ने सिकंदर का इतिहास लिखा है, जिनका कहना है कि उन्होंने सिकंदर के समय की या उसके कुछ पीछे की लिखी हुई, उन उन्नीस पुस्तकों में से, जिनकी चर्चा ऊपर आई है, कुछ को देखकर अपने इतिहास की रचना की है।

इन पिछले इतिहासकारों की सूची इस प्रकार है :—

नाम	जीवन-काल
(१) डियोडोरस ((Diodoros)	अनुमान से पहली शताब्दी ई०
(२) कुइंट करटियस (Quint Curtius)	४१—५१ ई०
(३) प्लूटार्क (Plutarch)	५०—१२५ ,,
(४) अर्रियान[१] (Arrian)	१३०—१८० ,,

पाश्चात्य इतिहासकारों ने इनमें एक और जस्टिन (Justin) को भी जोड़ लिया है। पर हमारी राय में वह इस योग्य नहीं है। कारण यह है कि पहले तो वह इन सबसे कई शताब्दी पीछे का मालूम होता है और इसलिये उसको उस प्राचीन सामग्री के देखने का अवसर नहीं मिला था, जिसको उक्त चारों ने अपनी पुस्तकों का आधार बतलाया है। दूसरे, इसकी रचना बहुत ही संक्षिप्त है और उसमें कुछ ऐसी बातों का समावेश है जिसकी पुष्टि और कहीं से नहीं होती। इसके विषय में एक प्रसिद्ध इतिहासज्ञ प्रोफेसर फ्रीमैन ने ठीक ही लिखा है कि जस्टिन एक शिथिल और प्रमादी लेखक था[२]।

अत: हमने इस निबंध के लिये उसकी रचना को अप्रामाणिक समझकर छोड़ दिया है। शेष चारों इतिहासकारों के विषय में उक्त प्रोफेसर की राय है कि "इनमें केवल अर्रियान एक विचारशील समालोचक था और प्राचीन इतिहासकारों के वर्णन पर,

---

१—इसका उच्चारण हिंदी-लेखक प्रायः 'एरियन' करते हैं, पर हमने फ्रेंच अनुवाद में देखकर 'अर्रियान' लिखा है।

२—Historical Essays by Prof. Freeman, 2nd series, third edition p. 183, 184.

जो उसे मिले थे, बुद्धिपूर्वक विवेचना करने की योग्यता रखता था। डियोडोरस पूर्णतया विश्वासपात्र था, पर साथ ही वह पक्का मूढ़ ('Impenetrably stupid') था। प्लूटार्क ने, जैसा कि वह कहता है, कोई इतिहास नहीं लिखा, बल्कि उसने (यूनान और रोम के कुछ प्रसिद्ध पुरुषों की तुलनात्मक) जीवनियाँ लिखी हैं, जिनमें उसका उद्देश्य राजनीतिक और सैनिक घटनाओं की अपेक्षा अधिकांश कहानियों के रूप में चरित्रों का चित्रण था। करटियस एक कल्पित कहानी-लेखक से कुछ अच्छा था और वही इन सब में ऐसा था जिसके विषय में हम यह संदेह नहीं करते कि उसने जान-बूझकर सत्य की हत्या की हो[१]।"

इन सब की सचाई और ईमानदारी का नमूना यथास्थान हम आगे दिखलाएँगे।

उपर्युक्त चारों इतिहासकारों में सं० २ रोमन था, जिसने अपनी पुस्तक लैटिन में लिखी है। शेष तीनों यूनानी थे, इसलिये उनकी पुस्तकें उन्हीं की भाषा में हैं। पर यह याद रखना चाहिए कि इनमें से केवल सं० ३ की पूरी पुस्तक इस समय मौजूद है। शेष तीनों की पुस्तकों के कुछ अंश ही मिलते हैं अथवा उनके कुछ अवतरण अन्य पुस्तकों में पाए जाते हैं। फिर जो कुछ भी है उनमें कुछ घटनाओं के वर्णन में एक दूसरे से बहुत कुछ मतभेद पाया जाता है।

यह है परोक्ष-सूचना पर अवलंबित सामग्री, जिसकी जड़ का पता नहीं है। इसी के आधार पर आधुनिक लेखक सिकंदर का इतिहास लिखकर हमारे सामने उपस्थित करते हैं। और फिर यह कि इन ऊपर के चारों इतिहासकारों में से किसी ने भारत में आकर कुछ जाँच-पड़ताल करने का कष्ट नहीं उठाया। घर बैठे बैठे उलटी-सीधी पुस्तकें लिख डालीं। इसके अतिरिक्त इनकी पुस्तकें कहीं कहीं विचित्र और निर्मूल कथा-कहानियों से भी सनी हुई हैं। स्वयं अरियान ने इसको अपनी पुस्तक ५, अध्याय ४ में स्वीकार किया है।

१—Abid

इन लोगों ने कहाँ तक ईमानदारी से अपना इतिहास लिखा है, यह इसी से अनुमान कर लेना चाहिए कि इन्होंने भारतीयों को प्राय: असभ्य, जंगली और बर्बर भी लिखा है।

अस्तु, हम इन्हीं की पुस्तकों के आधार पर, जिनका मेक्रिंडल ने अविकल अनुवाद किया है, भारत पर सिकंदर के आक्रमण का आलोचनात्मक वृत्तांत लिखते हैं।

सिकंदर ने अपने देश से दल-बादल सेना लेकर निकटवर्ती देशों को हस्तगत करते हुए ईरान को ओर से छोर तक विजय कर लिया था। इसमें उसको अधिक कठिनाई नहीं हुई थी। इससे उसका हौसला बहुत बढ़ा हुआ था।

विषय-प्रवेश

इधर पंजाब और सिंध प्रदेश की उस समय राजनीतिक स्थिति यह थी कि वे छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त थे। फिर उनमें आपस में संगठन न था, बल्कि उलटा एक दूसरे से लड़ते-भिड़ते रहते थे।

देश-द्रोहियों में प्राय: कन्नौज के जयचंद्र का नाम लिया जाता है, पर यदि इतिहास के पन्ने उलटे जायँ तो दुर्भाग्य से भारत में अनेक जयचंद्र मिलेंगे, जिनमें से ऐतिहासिक युग में तक्षशिला का राजा आंभी शायद सबसे पहला था। उससे और अभिसार-नरेश से तथा पंजाब के राजा पुरु से घोर शत्रुता थी[१]। इनमें पुरु अधिक बलवान् था।

सिकंदर और आंभी

आंभी ने इन राजाओं का दमन करने के लिये सिकंदर को भारत पर आक्रमण करने के लिये निमंत्रित किया था। इतना ही नहीं, उसने सिकंदर को इस काम के लिये जन-बल से पूरी सहायता भी दी थी।

इसका वृत्तांत अरियान ने तो अपनी चौथी पुस्तक के बारहवें अध्याय में इतना ही लिखा है कि सिकंदर ने निकैया (Nikaia) में पहुँचकर आंभी और उस ओर के कुछ अन्य भारतीय सरदारों के पास एक दूत द्वारा कहला भेजा कि वे लोग उसको सिंधु नदी के किनारे उस स्थान पर मिलें जहाँ उसका पहुँचना सुगम हो। तदनु-

१—करटियस, पु० ८ अ० १२।

मार आंभी इत्यादि सिकंदर से मिले और उसके लिये ऐसी भेंट लाए जो भारत में बहुत ही आदरणीय थीं तथा उन्होंने २५ हाथी भी दिए थे।

करटियस (पु० ८ अ० १२) इस प्रकार लिखता है कि (भारत की सीमा के) इस ओर का राजा आंभी था। उसने अपने पिता से आग्रह किया था कि वह अपना राज्य सिकंदर को सौंप दे। उसके मरने पर आंभी ने दूत भेजकर सिकंदर से पूछा कि वह उसके आने तक राज्य करे अथवा उससे पृथक् हो जाय ? इस पर सिकंदर ने उसको राज्य करने की आज्ञा दे दी। उसने सिकंदर के सिपाहियों के लिये अन्न भेजा। उसके पश्चात् सिकंदर से और उससे भेंट हुई और उसने ५६ हाथी, बहुत से भेड़ और ३ हजार उत्तम वंश के बैल सिकंदर को दिए।

डियोडोरस (पु० १७ अ० ८६) लिखता है कि सिकंदर जब सोगदियाना (Sogdiana) में था तो आंभी ने उसको कहला भेजा था कि वह उसकी ओर से न केवल उन भारतीयों से युद्ध करेगा जो उसके विरुद्ध शस्त्र उठायेंगे, बल्कि वह अपना राज्य भी उसके भेंट करता है।

प्लूटार्क ने (अ० ५९) लच्छेदार कहानी के साथ इसका वर्णन यों किया है कि जब सिकंदर से आंभी की भेंट हुई तब आंभी ने उससे कहा कि यदि तुम हमारा अन्न-जल छीनने के लिये नहीं आए, जिसके लिये लोग प्रायः लड़ा-भिड़ा करते हैं, तो हम-तुम एक दूसरे से क्यों लड़ें ? यदि तुम धन के लिये आए हो और यह समझते हो कि मैं तुमसे अधिक धनी हूँ तो जो कुछ मेरे पास है वह हाजिर है; और यदि तुम मुझसे अधिक धनाढ्य हो तो तुमसे माँगने में मुझे लज्जा न होगी। यह सुनकर सिकंदर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने कहा कि मैं तुमसे दान-दक्षिणा में पीछे न हटूँगा। फिर उसको बहुत कुछ दिया। आंभी ने जो कुछ सिकंदर को भेंट किया था वह उसने, और मिलाकर, लौटा दिया।

इन चारों इतिहासकारों के वर्णन में जो अंतर है वह पाठक स्वयं देख सकते हैं। इनमें से केवल करटियस ने यह लिखा है कि

आंभी ने सिकंदर को ३ हजार बैल भी भेंट किए थे। स्मिथ ने इसको लेकर अपनी ओर से इतना और नमक-मिर्च लगाया है कि आंभी ने ये बैल सिकंदर की सेना को मांस खाने के लिये दिए थे, जैसा कि वैदिक काल के ऋषि अपने अतिथियों का सत्कार किया करते थे[१]।

यह है आजकल के विदेशी इतिहास-लेखकों की ईमानदारी का नमूना, जो हमारे बच्चों के पढ़ने के लिये इतिहास लिखते हैं। स्मिथ की यह कल्पना सर्वथा मिथ्या है, जिसका कोई आधार नहीं है, क्योंकि करटियस के वर्णन में मांस खाने को बैल देने का कोई उल्लेख नहीं है।

पहले तो सिवा एक करटियस के और किसी इतिहासकार ने बैलों के देने की चर्चा नहीं की, दूसरे यदि यह सत्य भी मान लिया जाय तो बैल उस समय लड़ाई के सामान ढोने तथा रथों के खींचने के काम में आते थे।

इन इतिहासकारों के वर्णन का सार इतना ही है कि आंभी ने अपने शत्रुओं के दबाने के लिये सिकंदर को बुलाया था और रसद-पानी तथा सेना से उसको पूरी सहायता दी थी।

यह थी उस समय की परिस्थिति और वातावरण, जिससे सिकंदर ने लाभ उठाकर—अपने बल-बूते से नहीं, बल्कि भारतीय सेना की सहायता से—पुरु इत्यादि से युद्ध किया था।

ऊपर बतलाया गया है कि आंभी के अतिरिक्त कुछ छोटे छोटे अन्य राजाओं ने भी सिकंदर का साथ दिया था, जैसे शशिगुप्त (Sisikottas)[२] इत्यादि। परंतु प्राय: ये वेही लोग थे, जिन पर आंभी का पूरा प्रभाव था। इससे यह न समझना चाहिए कि पुरु को छोड़कर पंजाब तथा सिंध के सभी राजाओं ने सिकंदर के दल-बल से भयभीत होकर चुपचाप उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। बल्कि

१—The Oxford History of India by Vincent A. Smith, P. 59, 60.

२—अरियान (४-३०)

अनेक छोटे सरदारों ने, अल्पशक्ति होते हुए भी, पग पग पर जी तोड़कर सिकंदर से लोहा लिया था, जैसा कि अस्पसियान, मसग, केनियन, वजीर और मालवियों के युद्ध से पाया जाता है, जो इस बात का द्योतक है कि यहाँ के लोगों में उस समय आत्म-सम्मान तथा स्वतंत्रता की रक्षा के लिये कितनी प्रबल उत्कंठा थी।

हम इनमें से कुछ लड़ाइयों का वर्णन संक्षेप में करते हैं, क्योंकि सामान्य इतिहासों में इनकी चर्चा बिलकुल छोड़ दी गई है।

अस्पसियान[1] से युद्ध

ये लोग एक दुर्गम पहाड़ी किले में थे। सिकंदर ने एक बड़ी सेना लेकर इन पर धावा किया। कई दिनों तक किला फतह नहीं हुआ। वे लोग बड़ी वीरता से लड़ते रहे, जिसमें सिकंदर और उसके कई सरदार घायल हुए। अंत में अपने नेता के मारे जाने के कारण वे किला छोड़कर चले गए।

इस युद्ध का वर्णन सिवा अर्रियान (पु० ४ अ० २३) के और किसी ने नहीं किया।

मसग[2] का युद्ध

अर्रियान ने इस लड़ाई का वर्णन (पु० ४, अ० २५-२६-२७) इस प्रकार किया है कि मसगवाले पहले दिन ऐसी वीरता से लड़े थे कि सिकंदर को विवश होकर पीछे हटना पड़ा था। उसके बाद तीन दिन तक घोर युद्ध हुआ, जिसमें दोनों ओर के बहुत से योधा हताहत हुए। अंत में उन्होंने अपने राजा के मारे जाने के कारण सिकंदर से संधि के लिये बातचीत की, जिसको सिकंदर ने इस शर्त पर स्वीकार किया कि उनकी कुल सेना उस (सिकंदर) के साथ मिलकर काम करे। इस पर उन्होंने नगर खाली कर दिया और एक पहाड़ी पर जाकर ठहरे। किंतु सिकंदर को मालूम हुआ कि वे अपने देशवालों के विरुद्ध शस्त्र न उठाएँगे। अतः वह अँधेरी रात में अपनी कुल सेना लेकर उन पर

१—यह सरहद की एक पहाड़ी वीर-जाति थी।

२—इस स्थान का अभी ठीक पता नहीं चला। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि यह पंजकोरा अथवा गोरी नदी के पूर्व की ओर था।

सहसा टूट पड़ा और उनको टुकड़े-टुकड़े कर डाला। फिर नगर में घुसकर, जिसका कोई रक्षक न था, राजा की माता और उसकी लड़कियों को कैद कर लिया।

प्लूटार्क ने (अ० ५६) सिकंदर के इस कृत्य की घोर निंदा की है[१]। अरियान ने लिखा है कि इस युद्ध में सिकंदर के केवल २५ आदमी नष्ट हुए थे, जो चार दिन के घोर संग्राम में सर्वथा असंभव है। इसी से प्रकट है कि उसका वर्णन पक्षपात-पूर्ण है।

प्लूटार्क ने उसी अध्याय में इसका खंडन इस प्रकार किया है कि इस युद्ध में सिकंदर को बहुत हानि उठानी पड़ी थी। अतः उसने मसगवालों के साथ संधि कर ली थी।

डियोडोरस ने (पु० १७, अ० २८४) इस घटना का वर्णन और ही तरह से किया है, जिससे विदित होता है कि उस समय भारतीय वीरांगनाएँ किस प्रकार से युद्ध-स्थल में अपने पुरुषों का हाथ बटाती थीं।

वह लिखता है 'जब दोनों ओर से शपथ द्वारा संधि के लिये समझौता हो गया तब रानी ने सिकंदर को बहुमूल्य वस्तुओं की भेंट भेजी और उसके सिपाहियों ने, जैसा कि निश्चित हुआ था, नगर से निकलकर ८० स्टेडिया (लगभग ८ मील) के अंतर पर डेरा डाला, जहाँ उनको किसी प्रकार का खटका न था। सिकंदर उन सिपाहियों से दिल में द्वेष रखता था और उन पर आक्रमण करने के लिये अपनी सेना तैयार किए हुए था। वह एकाएक दौड़कर उन पर टूट पड़ा और उसने उनमें से बहुतों का वध कर डाला। उन लोगों ने बड़े जोर से चिल्लाकर कहा कि यह विश्वासघात उस शपथ के सर्वथा विरुद्ध है, जिसे सिकंदर ने अपने देवताओं का नाम लेकर खाया था। इस पर सिकंदर ने ऊँचे स्वर से कहा कि 'तुमसे केवल नगर से सुरक्षित निकल जाने के लिए प्रतिज्ञा की गई थी, न कि यह समझकर कि तुम लोग सदैव मकदूनियों के मित्र रहोगे'।

१—'This rests as a foul blot on his (Alexander's) martial fame......"

भारतीय सैनिक उस समय बड़े संकट में पड़ गए। फिर भी उन्होंने अपनी पंक्ति गोलाकार बाँध ली और अपनी स्त्रियों तथा बालकों को बीच में कर लिया; और फिर मकदूनियों से जी तोड़कर लड़ने लगे। घोर युद्ध और भयंकर रक्तपात हुआ। दोनों ओर से तलवारें लपक लपककर रक्त चाटने लगीं। एक ओर मुट्ठी भर भारतीय सिपाही, दूसरी ओर सिकंदर की टिड्डी-दल सेना। फिर भी भारतीयों ने अपने धैर्य और वीरता का अपूर्व परिचय दिया। हाथों-हाथ की लड़ाई थी। वार करने में एक दल दूसरे से पीछे नहीं रहता था। बात की बात में लोथों के ढेर लग गए और कितने बुरी तरह घायल होकर गिर गए। जब भारतीय सैनिक अधिक मारे गए और घायल हुए तब उनकी देवियाँ, जो सशस्त्र थीं, अपने पुरुषों की ढाल होकर रक्षा करने लगीं और जिनके पास शस्त्र न था, वे बढ़-बढ़कर शत्रुओं की ढाल छीनने लगीं। अंत में अधिकांश भारतीय सैनिक अपनी स्त्रियों सहित बड़ी वीरता और आवेश के साथ युद्ध करते हुए, विपक्ष के बहुसंख्यक दल से शक्तिहीन होकर, सम्मानपूर्वक मृत्यु की गोद में चले गए; और उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि ऐसे जीवन की अपेक्षा, जो अपमान के बदले प्राप्त हो, मर जाना भला है।

करटियस ने (पु० ८ अ० १०) लिखा है कि यह युद्ध ९ दिन में समाप्त हुआ था। उसने सिकंदर के उस जघन्य हत्याकांड की चर्चा बिलकुल उड़ा दी है, जिसका वर्णन ऊपर के तीनों इतिहासकारों ने किया है।

उसने इस युद्ध का वर्णन इस प्रकार आरंभ किया है, 'उस नगर के राजा का नाम 'अस्साकेनस' था, जिसकी हाल ही में मृत्यु हो गई थी। अतः उसकी विधवा रानी 'किल्योफिस' राज्य का प्रबंध करती थीं। वह ३८ हजार सेना से अपने नगर की रक्षा करती रही'। इसके बाद इस इतिहासकार ने एक विचित्र कहानी गढ़ी है कि युद्ध के अंतिम दिन सिकंदर की ओर से लकड़ी के बहुत से बुर्ज रानी के किले के सामने खड़े किए गए, जो चलायमान थे। उनको देखकर रानी के सिपाहियों ने समझा कि उनको देवता हिला रहे हैं, अतः सिकंदर से लड़ना व्यर्थ है; और फिर वे सब भाग गए। रानी विवश होकर

आत्म-समर्पण के लिये सिकंदर के पास सहेलियों सहित दौड़कर आई और अपने बच्चे को उसके घुटने पर डाल दिया। सिकंदर ने उसके पद से अधिक उसका सम्मान किया, क्योंकि उसके पीछे रानी के एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम सिकंदर रखा गया, यद्यपि मालूम नहीं कि उसका पिता कौन था।

पाठक देखें कि इस कहानी में कर्टियस ने अपना कैसा परिचय दिया है। एक ओर तो वह आरंभ ही में लिखता है कि राजा की शीघ्र ही मृत्यु हुई थी; दूसरी ओर अंत में रानी के सतीत्व पर लांछन लगाता है। क्या यह संभव न था कि रानी अपने पति के जीवन-काल से गर्भवती रही हो ?

इस युद्ध का वर्णन केवल अर्रियान ने (पु० ४, अ० २७) किया है। वह लिखता है कि सिकंदर ने समझा था कि वजीर के लोग,

वजीर[1] का युद्ध

मसग के परास्त हो जाने का वृत्तांत सुनकर, सुगमता के साथ आत्म-समर्पण कर देंगे, पर वहाँ भी घोर युद्ध हुआ, जिसमें ५०० भारतीय मारे गए और ७० से ऊपर कैद हुए। तत्पश्चात् वे नगर छोड़कर चले गए।

इस युद्ध में सिकंदर की कितनी सेना मारी गई और कितनी घायल हुई, इसकी चर्चा इस इतिहासकार ने बिल्कुल नहीं की।

इस युद्ध का वर्णन तीन इतिहासकारों ने किया है। अर्रियान (पु० ४, अ० २८-२९) लिखता है कि यह एक दुर्गम पहाड़ी किला

ओरनियस[2] का युद्ध

था, जिसकी रक्षा एक ओर से सिंधु नदी करती थी। सिकंदर ने सुना कि इसको हरक्यूलस देवता[3] विजय नहीं कर सका, इसलिये उसको इस दुर्ग के हस्तगत करने

१—यह स्थान स्वात और सिंधु नदी के बीच में था। अब यह स्थान 'बीरकोट' कहलाता है।

२—इस स्थान का पता अभी संदिग्ध है। कुछ विद्वान् इसको महावन नामक स्थान में मानते हैं जो अटक के समीप है। 'भारतीय इतिहास की रूप-रेखा' में लिखा है कि यह स्थान सिंधु नदी के पच्छिम 'परिसर' नामक पहाड़ पर था।

३—इसको हिंदुओं का 'हनुमान्' समझना चाहिए।

की प्रबल उत्कंठा हुई। उसके ऊपर जाने का रास्ता अज्ञात था, पर उसके पास के कुछ रहनेवालों ने रास्ता बतलाने के लिये कहा। अतः टाल्मी कुछ सेना लेकर बड़ी कठिनाई से ऊपर चढ़ा। कुछ दूर जाकर ऊपर से एक प्रकाश दिखलाई पड़ा। दूसरे दिन वह अपने सिपाहियों को लेकर आगे बढ़ा, पर दुर्ग-निवासियों के रोकने से और आगे न जा सका। फिर वे लोग टाल्मी की सेना पर टूट पड़े। घोर युद्ध हुआ। अंत में लड़ते-भिड़ते रात ढलने पर भारतीय सेना हट गई।

फिर सिकंदर ने इसी देश के एक जानकार विश्वासपात्र आदमी को नियुक्त किया और उसके साथ रात को एक पत्र टाल्मी के पास भेजा कि वह वहाँ अपने बचाव के लिये अधिक चिंता न करे। जब वह (सिकंदर) स्वयं वहाँ पहुँचे तब दुर्ग-निवासियों पर आगे और पीछे से आक्रमण किया जाय। तदनुसार सिकंदर प्रातःकाल अपनी छावनी से चलकर दोपहर को वहाँ जा पहुँचा। ऊपर चढ़ने में भारतीय और मकदूनियों से घोर युद्ध होता रहा। तीसरे पहर सिकंदर की सेना किसी तरह टाल्मी से जा मिली, पर उस दिन पर्वत की चोटी तक ये लोग नहीं पहुँच सके। दूसरे दिन सिकंदर ने अपने सिपाहियों से १००-१०० खूँटे बनवाए और उनका एक ऊँचा ढेर लगवा दिया, जिसके ऊपर से उसके सिपाही किलेवालों पर तीर फेंक सकें। उसके दूसरे दिन उसकी सेना किलेवालों पर गोफन द्वारा पत्थर फेंकने लगी। तीन दिन तक खूँटों का ढेर लगता रहा। चौथे दिन यूनानी सेना किलेवाली पहाड़ी के बराबर एक पहाड़ी पर पहुँच गई। भारतीय सैनिकों ने यह देखकर कि यूनानी उनके निकट आ गए हैं, सिकंदर से कहला भेजा कि वे अपनी पहाड़ी छोड़ देने को तैयार हैं यदि उनको सुरक्षित निकल जाने दिया जाय। सिकंदर ने उनको चले जाने की आज्ञा दे दी और पहाड़ी के पास से अपने नाके हटा लिए। पर जैसे ही वे पहाड़ी छोड़कर हटने लगे, सिकंदर और उसकी सेना ऊपर चढ़ गई। फिर सिकंदर के संकेत करने पर उसके सिपाही भारतीयों पर, जो पीछे हट रहे थे, टूट पड़े और उनमें से बहुतों का वध कर डाला और कुछ लोग

घबराहट में गिर-पड़कर मर गए। इस प्रकार सिकंदर ने उस पहाड़ी पर अधिकार जमा लिया। वहाँ उसने मारे ख़ुशी के बलिदान किया और एक क़िला बनवाया।'

पाठक देखें कि यहाँ भी सिकंदर ने विश्वासघात किया है।

करटियस ने इस घटना का दूसरा ही वृत्तांत लिखा है। वह (पु० ८ अ० ११) लिखता है कि 'सिकंदर इस किले की मजबूती को देखकर और यह सुनकर कि हरक्यूलस इसको नहीं पा सका था, बहुत ही चिंतित हुआ। इतने में एक बुड्ढा अपने दो लड़कों को लेकर आया और उसने सिकंदर से कहा कि यदि उसको प्रचुर पुरस्कार दिया जाय तो वह किले का रास्ता बतला सकता है। सिकंदर ने उसको ८० टालेंट[1] देने का वादा किया और उसके एक लड़के को गिरवी रख लिया। फिर उसने चारुस और एक सरदार के साथ, जिसका नाम भी सिकंदर था, ३० चुने हुए आदमियों को भेजा। यह एक जोखिम की चढ़ाई थी, इसलिये सबकी राय हुई कि सिकंदर इसमें न जाय। पर पीछे सिगनल होने पर वह स्वयं समस्त मकदूनियों को लेकर दौड़ा। उसके बहुत से सिपाही नष्ट होकर सिंधु नदी में गिर-कर बह गए। जो पहाड़ी के ऊपर चढ़ने का साहस करते थे, उन पर किलेवाले बड़े बड़े पत्थर लुढ़काते थे, जिससे उनका सिर फूट जाता था और वे नीचे गिर जाते थे। किसी तरह चारुस और सिकंदर (द्वितीय) ऊपर चढ़ गए और हाथोंहाथ युद्ध होने लगा। अंत में भारतीयों के तीरों की बौछार से सिकंदर के ये दोनों सरदार बिँधकर मारे गए।

यह देखकर सिकंदर हताश हो गया और उसने अपनी सेना को पीछे हटने के लिये संकेत किया। इस विजय से किलेवाले अग्नि जलाकर दो रात तक आनंद मनाते रहे। तीसरे दिन सन्नाटा हो गया। सिकंदर को पता लगा कि वे लोग किला खाली करके भाग

१—यह एक प्राचीन यूनानी सिक्का था, जिसका मूल्य लगभग २२५ पौंड होता था।

रहे हैं। यह सुनकर उसने अपने सिपाहियों को हुक्म दिया कि वे सब खूब जोर से चिल्लाएँ। रात का समय था। उनकी एकाएक चिल्लाहट सुनकर किलेवाले घबड़ाकर भागने लगे। कुछ तो नीचे गिर-कर मर गए और कितनों के हाथ-पाँव टूट गए। सिकंदर ने इस अवसर से लाभ उठाकर किले पर कब्जा कर लिया और इस विजय की खुशी में, जो उसके बाहुबल से नहीं बल्कि संयोगवश धोखे में किलेवालों की व्यर्थ घबड़ाहट से हुई थी, मिनर्वा[१] के सम्मान में मिह-राब बनवाया। सिकंदर को जिस बुड्ढे ने किले पर जाने का रास्ता बतलाया था, उसको कुछ इनाम दिया, पर उतना नहीं, जितना वादा किया था।

डियोडोरस ने भी (पु० १७ अ० ८५) लगभग ऐसा ही लिखा है, पर उसने चारुस इत्यादि के मारे जाने, किलेवालों पर भागते समय आक्रमण करने, पथ-प्रदर्शक को इनाम देने और विजय के पश्चात् सिकंदर के मिहराब बनवाने का वर्णन नहीं किया है।

अब हम सिकंदर और पुरु के प्रसिद्ध युद्ध का वर्णन करते हैं। अरियान ने इस युद्ध का वर्णन (पु० ५, अ० १८-१९) इस प्रकार किया है कि पुरु रण-क्षेत्र में बड़े साहस के साथ अपना

पुरु से युद्ध

कर्तव्य-पालन कर रहा था। न केवल एक सेना-पति के समान, बल्कि एक वीर योधा की तरह काम करते हुए जब उसने देखा कि उसके सवार और कुछ हाथी मरे हुए पड़े हैं और कुछ बिना महावत के इधर-उधर घूम रहे हैं, और उसकी सेना के बहुत से लोग मारे गए हैं, तब उसने ईरान के डायरस की तरह मैदान नहीं छोड़ा जो उसके सिपाहियों के भागने के लिये पहला उदाहरण होता, प्रत्युत वह उस समय तक बराबर लड़ता रहा, जब तक उसकी सेना का एक सिपाही भी अपना काम करता

१—यह यूनानियों के युद्ध और विजय की देवी थी जिसे हिंदुओं की दुर्गा समझना चाहिए।

रहा। अंत में उसके दाहिने कंधे पर एक घाव लगा, फिर भी वह रणक्षेत्र में बराबर चलता फिरता रहा[१]।

सिकंदर पुरु की वीरता से प्रभावित होकर उसको बचाना चाहता था। इसलिये उसने पहले आंभी को उसके पास भेजा। वह घोड़े पर चढ़कर गया और पुरु के हाथी के पास पहुँचकर उससे कहा कि 'अब तुम्हारा भागना संभव नहीं है अत: सिकंदर का संदेश सुन लो'। पुरु ने घूमकर देखा कि उसका पुराना शत्रु आंभी बोल रहा है। उसने आवेश में आकर भाले से उस (आंभी) पर वार किया। आंभी तुरंत घोड़ा दौड़ाकर भाग गया, नहीं तो उसका प्राण बचना कठिन था। सिकंदर ने इसके पश्चात् कई दूत भेजे। अंत में मेरीस (Merees) को भेजा जो पुरु का पुराना मित्र था। जिस समय वह पहुँचा, पुरु प्यास के मारे विकल था इसलिये पानी पीने को हाथी से नीचे उतर आया और मेरीस से तुरंत सिकंदर के पास पहुँचाने को कहा।

सिकंदर ने जब यह सुना कि पुरु आ रहा है, वह घोड़े पर चढ़कर उसके स्वागत के लिये आगे बढ़ा। सिकंदर पुरु के विशाल डील-डौल को देखकर, कि वह पाँच हाथ लंबा है, दंग रह गया। उसने देखा कि पुरु निर्भीक होकर बड़ी आन-बान के साथ आ रहा है, यद्यपि वह जानता था कि सिकंदर उसका शत्रु है। सिकंदर पुरु से उसी तरह मिला जैसे एक वीर दूसरे वीर से, जो विदेशियों से अपना राज्य बचाने के लिए युद्ध कर रहा हो, मिलता है।

१—Mcrindle ने लिखा है 'The courage and skill with which the Indian King contended against the greater soldier of antiquity, if not of all time, are worthy of the highest admiration and present a striking contrast to the incompetent general-ship and pusillanimity of Darius (Invasion of India by Alexander, the Great, new edition pp. 346)

सिकंदर ने पुरु से पहले पूछा कि तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया जाय। पुरु ने उत्तर दिया कि जैसा एक राजा दूसरे राजा से करता है। सिकंदर ने कहा कि यह तो मैं आप ही करूँगा, बतलाओ इसके सिवा तुम्हारे लिये और क्या करूँ। पुरु ने कहा, जो कुछ मैंने पहले उत्तर दिया है उसमें सब बातें आ गई हैं।

इस पर सिकंदर ने न केवल पुरु का राज्य उसको लौटा दिया, बल्कि बहुत कुछ उसको अपनी ओर से दिया; और उसको अपना घनिष्ठ मित्र बना लिया। (अ० १६)

इस इतिहासकार ने इसी पुस्तक के १८ वें अध्याय में लिखा है कि इस युद्ध में पुरु के हाथियों के घायल होकर बिगड़ जाने और भागने से उसकी सेना को बहुत हानि पहुँची थी। यूनानियों की ओर बड़ा मैदान था, इसलिये वे हाथियों के दौड़ने के समय इधर-उधर भागकर बच जाते थे तथा इस युद्ध में पुरु के दो लड़के भी काम आए थे।

पर उसने उभय पक्ष की हानि का जो ब्यौरा दिया है वह सर्वथा असंभव और मिथ्या मालूम होता है। वह लिखता है 'इस लड़ाई में पुरु के २० हजार प्यादे, ३ हज़ार सवार और सारे महावत और रथी मारे गए थे और मकदूनियों के केवल ३१० सिपाहियों की क्षति हुई थी।'

पाठक विचार करें कि आठ घंटे के युद्ध में सिकंदर के आदमी केवल ३१० ही मरे, यह कहाँ तक विश्वसनीय है। इसका खंडन आगे करटियस के वर्णन में मिलेगा जिसने स्पष्ट लिखा है कि यह कहना कठिन है कि 'किस ओर अधिक हानि हुई थी'।

करटियस ने इस घटना का वर्णन दूसरी ही तरह से कुछ अधिक विस्तार के साथ किया है। वह (पु० ८, अ० १४) लिखता है :—

जब सिकंदर की सेना प्रातःकाल झेलम पार करके इस ओर पहुँची तब पुरु ने पहले समझा कि यह उसके मित्र अभिसार-नरेश की

सेना है, जो उसकी सहायता के लिये आई है, जैसा कि उससे पहले तय हो चुका था। पर जैसे ही आकाश निर्मल हो गया, उसने देखा कि शत्रु की सेना है। तब उसने १०० रथ और ४००० सवारों को उसके रोकने के लिये भेजा। प्रत्येक रथ में चार घोड़े लगते थे, और उस पर छः सिपाही बैठते थे। उनमें से दो ढाल लिए रहते थे और दो धन्वा, जो दोनों ओर बैठते थे, तथा दो रथी रहते थे। ये लोग भी सशस्त्र होते थे, जो लड़ाई निकट होने पर तीर छोड़ते थे। पर ये रथ उस समय बहुत उपयोगी सिद्ध नहीं हुए, क्योंकि पानी बहुत बरसा था, जिससे पृथ्वी पर पाँव फिसलता था। अतः घोड़े उस पर दौड़ नहीं सकते थे और दलदल में फँस जाते थे।

सिकंदर के सिपाहियों के पास हलके हथियार थे और उनका बोझ हलका था। सिकंदर ने परडीकस (Perdiccas) को सवारों के साथ पुरु की सेना के दाहिने बाजू पर आक्रमण करने के लिये नियुक्त किया। बड़े वेग के साथ युद्ध आरंभ हुआ। पुरु के रथ बड़ी तेजी के साथ रणक्षेत्र में दौड़ने लगे, जिससे मकदूनियों की पैदल सेना, जो आगे थी, उथल-पुथल हो गई और बहुत से लोग दबकर नष्ट हो गए। यह कहना कठिन है कि किस ओर अधिक हानि हुई थी। पर वर्षा के कारण पृथ्वी फिसलती थी, इसलिये बहुत से रथ नीचे गिर गए; कुछ उलट-पुलट गए और कुछ भागकर शत्रु के दल में से होते हुए पुरु की सेना में जा पहुँचे तथा कुछ गड्ढों में गिर गए। पुरु ने, जो बड़े परिश्रम के साथ युद्ध का संचालन कर रहा था, जब देखा कि उसके रथ तितर-बितर हो गए हैं, तब उसने अपने मित्रों को, जो उसके निकट थे, हाथी दिए और उनके पीछे धन्वियों और लड़ाई के ढोल बजानेवालों को किया। भारतीय सेना हरक्यूलस[१] की मूर्ति आगे लिए हुए थी।

जिस समय पुरु के सिपाहियों ने बड़े आवेश के साथ आक्रमण किया, मकदूनी भारी-भरकम हाथियों और स्वयं पुरु को

१—यह करटियस का भ्रम है। यहाँ इस नाम का कोई देवता नहीं था।

देखकर, जो खूब लंबा-चौड़ा और सब से ऊँचे हाथी पर सवार था, बड़े असमंजस में पड़ गए[१]। हाथियों का झुंड मानो ऊँची पहाड़ियों की पंक्ति थी।

सिकंदर ने यह भयंकर दृश्य देखकर कहा कि 'अहो! मैं अंत में ऐसे आतंक को अपने सामने देखता हूँ जो मेरे बल और पराक्रम की स्पर्धा कर रहा है। मेरे शत्रु बड़े बड़े पशु और असाधारण वीर योधा हैं।'

फिर एक ओर से स्वयं सिकंदर और दूसरी ओर से कोइनस ने पुरु के दल पर हमला किया। पुरु ने हाथियों को सिकंदर के सवारों से युद्ध करने को आगे किया, पर हाथी भारी-भरकम होने से घुड़सवारों के बराबर नहीं दौड़ सके। पुरु के सिपाहियों के तीर भारी और बड़े थे; अत: इसलिये कि निशाना खूब गहरा लगे, धनुष को पृथ्वी पर रखना पड़ता था। पर भूमि पानी के कारण फिसल रही थी। अत: जब भारतीय बाण चलाते थे तब मकदूनी बीच में थोड़ा सा अवसर पाकर जल्दी-जल्दी कूदकर बच जाते थे।

दूसरी ओर पुरु के सेनानायकों का एकमत न था। एक कहता था, पंक्ति-बद्ध हो जाओ तो दूसरा कहता था, अलग-अलग हो जाओ। कोई कहता था ठहर जाओ तो कोई कहता था शत्रु के पीछे से आक्रमण करो। इस प्रकार से पुरु की सेना कुछ तितर-बितर हो गई। पर पुरु ने ऐसी अवस्था में बड़े धैर्य से काम लिया। उसने अपने कुछ सिपाहियों को एकत्र करके हाथियों के साथ सिकंदर के दल पर आक्रमण किया। हाथियों के भीषण नाद से सिकंदर के घोड़े भड़क उठे और उसके सैनिक भी दहलकर भागने के लिये स्थान ढूँढ़ने लगे।

१—"The Greeks were loud in praise of Indians; never in all their eight years of constant warfare had they met with such skilled and gallant soldiers, who, moreover, surpassed in stature and bearing all the other races of Asia." (General Chesucy's lecture on the Indian campaign of Alexander.)

सिकंदर ने जब यह देखा तब कुछ सिपाहियों को हलके शस्त्र देकर नियुक्त किया कि वे पुरु के हाथियों और महावतों पर तीरों की वर्षा करें। इससे हाथी कुछ डरे, पर कुछ मकदूनी उनके पाँवों के नीचे दबकर कुचल गए तथा कुछ हाथी शत्रुओं को सूँड़ से उठाकर अपने महावतों के पास पहुँचाने लगे। इससे वे लोग बहुत भयभीत हुए और लड़ाई बहुत लंबी हो गई।

अंत में मकदूनी कुल्हाड़े इत्यादि से हाथियों की सूँड़ें और पाँव काटने लगे। इससे वे घबड़ाकर अपने दल की ओर भागे और अपने महावतों को नीचे गिराकर कुचलने लगे। पुरु ने, जो उस समय अपने स्थान पर अकेला था, शत्रु-दल के अनेक योधाओं को तीर से मारकर गिरा दिया। पर जब मकदूनियों ने उसपर आक्रमण किया तब उसकी छाती और पीठ पर नौ घाव लगे, फिर भी उसने लड़ाई से हाथ नहीं खींचा। पर कुछ रक्त उसके शरीर से बाहर निकल गया था, इसलिये उसके बाण अधिक चोट नहीं कर सकते थे। उसके हाथी को कोई घाव नहीं लगा था। वह पुरु को आगे लिए जा रहा था और शत्रुओं को, जो सामने पड़ते थे, कुचल डालता था।

अंत में पुरु के महावत ने देखा कि उसका स्वामी घायल हो जाने से शिथिल हो रहा है, संभवतः गिर पड़े, इसलिये वह हाथी लेकर भागा। सिकंदर ने उसका पीछा किया। पर उसका घोड़ा घायल होकर गिर पड़ा इसलिये वह दूसरे घोड़े पर चढ़ने के लिये गया। इस बीच में पुरु कुछ दूर निकल गया। वहाँ तक्षशिला-नरेश का भाई पहुँचा और उसने पुरु से कहा कि 'इसी में कुशल है कि तुम सिकंदर को आत्म-समर्पण कर दो; शायद ऐसा करने से तुम बच जाओ।' पुरु उस समय, यद्यपि शरीर से अधिक रक्त निकल जाने से निर्बल हो रहा था, यह सुनकर बड़े आवेश में आया और बोला कि अरे! तू उसी देश-द्रोही ताचलि[1] का भाई है, जिसने अपना देश और राज्य सिकंदर को दे दिया है; और फिर एक बाण ऐसे जोर के

१—यह पदवी सिकंदर ने तक्षशिला के राजा आंभी को दी थी।

साथ मारा कि वह उसकी छाती को बेधकर उसकी पीठ की ओर से निकल गया।

इसके पश्चात् पुरु ने अपने हाथी को तेजी के साथ बढ़ाया, पर उस समय वह घायल हो जाने से अधिक नहीं चल सकता था। अतः वह अपने सिपाहियों को इकट्ठा करके, उन शत्रुओं से जो उसका पीछा कर रहे थे, युद्ध करने लगा। सिकंदर उस समय वहाँ पहुँच गया और देखा कि हठी पुरु और उसकी सेना घायल हो गई है, फिर भी वह युद्ध से हाथ खींचना नहीं चाहता।

अब पुरु अपने हाथी से नीचे फिसलने लगा। महावत ने समझा कि वह नीचे उतरना चाहता है, इसलिये उसने हाथी को बिठाल दिया। यह देखकर और हाथी भी बैठ गए। इस प्रकार से पुरु और उसके हाथी सिकंदर की कैद में आ गए। सिकंदर ने समझा कि पुरु की मृत्यु हो गई है, इसलिये उसने अपने आदमियों को हुक्म दिया कि उसका हथियार ले लें, पर जैसे ही मकदूनियों ने ऐसा करना चाहा, हाथी ने पुरु को उठाकर अपनी पीठ पर बिठाल लिया। इस पर मकदूनी हर ओर से हाथी पर तीर बरसाने लगे, जिससे हाथी मर गया। तब लोगों ने पुरु को उठाकर रथ पर कर दिया। अब पुरु ने अपनी आधी आँखें खोलीं। सिकंदर उसकी दशा से प्रभावित होकर सारी शत्रुता भूल गया और उसने उससे कहा 'हे अत्यंत दुःख-दायक मनुष्य ! किस पागलपन से तू मेरा सामना करने चला था ? क्या तूने मेरी प्रसिद्धि नहीं सुनी थी ? क्या तूने नहीं देखा कि मेरी अधी-नता मान लेने पर ताचलि पर मैंने कितनी कृपा की है ?' पुरु ने कहा कि 'तू पूछता है इसलिये मैं उत्तर देता हूँ कि मैं समझता था, मुझसे बड़ा कोई वीर नहीं है, क्योंकि मैं अपने बल को जानता था। तेरी शक्ति की मुझे जानकारी न थी। युद्ध के परिणाम से मालूम हुआ कि तू भी वीर है। पर तेरे वीर होने पर भी मैं अपने को भाग्यवान् सम-झता हूँ।' फिर सिकंदर ने पूछा कि 'तेरे साथ कैसा व्यवहार किया जाय ?' पुरु ने कहा कि जैसा आज के युद्ध से तुझे शिक्षा मिली हो।

सिकंदर ने हुक्म दिया कि बड़ी सावधानी से पुरु के घावों का उपचार किया जाय। और जब वह स्वस्थ हो गया तब सिकंदर ने उसके राज्य से अधिक उसको दिया।

अब थोड़ा औरों का भी वर्णन सुन लीजिए।

डियोडोरस (पु० १७, अ० ८८) लिखता है कि 'मकदूनियों के घुड़सवारों ने युद्ध आरंभ किया और भारतीयों के लगभग सभी रथों को नष्ट कर दिया। इसपर पुरु के हाथियों ने आगे बढ़कर कुछ मकदूनियों को पाँव के नीचे दबाकर मार डाला, कुछ लोगों को सूँड़ से उठाकर पृथ्वी पर पटक दिया और कितनों को दाँतों से चीर डाला। इस पर मकदूनियों ने लंबे-लंबे भाले चलाकर गजारोहियों को मारना आरंभ किया और हाथियों को इस प्रकार से घायल किया कि उनके सवार गिरकर हाथियों के पाँवों के नीचे कुचल गए।

'यह देखकर पुरु ने, जो सबसे मजबूत हाथी पर था, अन्य हाथियों को अपने इर्द-गिर्द इकट्ठा किया, जो अभी तक काबू में थे और फिर बड़े वेग के साथ शत्रुओं पर हमला किया। उसने स्वयं अपने हाथ से बहुत से मकदूनियों को मार डाला, क्योंकि वह किसी योधा से बल में कम न था। वह पाँच हाथ लंबा था। उसकी पेटी साधारण आदमियों से दूनी थी, इसलिये उसके हाथ से जो भाला चलता था वह माने गोफन से वेग के साथ गोली चलती थी, इसलिये जो मकदूनी उसके सामने थे वे उसके असाधारण साहस और आश्चर्य-जनक वीरता से बहुत नष्ट हुए।

'यह दशा देखकर सिकंदर ने तीरंदाज और हलके शस्त्रवाले सिपाहियों को भेजा और कहा कि उनका लक्ष्य पुरु ही होना चाहिए। वे लोग वैसा ही करने लगे। पुरु ने बड़ी वीरता से उनके साथ युद्ध किया। अंत में वह घावों से अचेत हो गया और सहायता के लिये हाथी से पृथ्वी पर उतार लिया गया। इतने में यह खबर उड़ी कि पुरु की मृत्यु हो गई। यह सुनकर उसकी कुछ सेना भाग गई और कुछ लड़ते-भिड़ते मारी गई।

'इस युद्ध में १२ हजार भारतीय मारे गए, जिनमें पुरु के दो पुत्र और कुछ प्रसिद्ध सेना-नायक थे; ६ हजार कैद हुए और ८० हाथी पकड़ लिए गए। पुरु की चिकित्सा उसके वैद्यों द्वारा की गई। सिकंदर की ओर केवल २८० सवार और ७०० से ऊपर पैदल मरे थे।'

पाठक स्वयं विचार सकते हैं कि इस वर्णन में उभय पक्ष की हानि जो दिखलाई गई है वह कितनी अविश्वसनीय है।

इस संबंध में अब केवल प्लूटार्क का वर्णन रह गया, जो इस प्रकार है,—

वह अपनी पुस्तक के ६०वें अध्याय में लिखता है कि यह युद्ध क्योंकर आरंभ हुआ? इसका वर्णन सिकंदर ने स्वयं अपने एक पत्र में लिखा है कि मकदूनियों ने पुरु के दल पर दोनों बाजुओं से हमला किया, जिससे उसके सैनिक मध्य में जाने लगे, पर वहाँ हाथियों की सेना होने से जगह कम थी। पुरु का हाथी सबसे बड़ा था और ऐसा ही वह (पुरु) भी विशाल-काय था। उसका हाथी अपने मालिक का बहुत ही शुभचिंतक था। उसने अपने स्वामी की रक्षा के लिये बहुत उद्योग किया और उसके आक्रमण-कारियों को पददलित किया। परंतु यह देखकर कि पुरु आघात के कारण नीचे गिरना चाहता है, धीरे से बैठ गया और अपनी सूँड़ से उसके शरीर से बाण निकालने लगा।

जब पुरु कैद हो गया, सिकंदर ने उससे पूछा 'तुम्हारे साथ कैसा बर्ताव किया जाय?' पुरु ने उत्तर दिया 'जैसा नरेशों के साथ किया जाता है।' फिर सिकंदर ने पूछा 'कुछ और चाहते हो?' पुरु ने कहा कि पहले उत्तर में सब बातें आ गई हैं।

इस पर सिकंदर ने पुरु को उसका देश लौटा दिया और उसको 'क्षत्रप' (Satrap) की उपाधि प्रदान की।

इन इतिहास-कारों के वर्णन को ध्यानपूर्वक मिलाकर पढ़ने से जो निष्कर्ष निकलता है और इसमें सत्य की कितनी मात्रा है, इसका निर्णय हम विचारशील पाठकों पर छोड़ते हैं; क्योंकि इस लेख में इसकी विवेचना के लिये स्थान नहीं है।

सामान्य इतिहासों में, जहाँ तक भारत का संबंध है, सिकंदर के साथ इसी युद्ध का कुछ टूटा-फूटा-सा वर्णन मिलता है, इसलिये मूलस्रोत से हमने इसका पूरा वृत्तांत लिखा है।

इस युद्ध में यद्यपि संयोगवश पुरु की हार हो गई थी—यदि उसे हार समझा जाय—तथापि उसकी असीम वीरता और अनुपम पराक्रम से मकदूनियों के ऐसे दाँत खट्टे हो गए थे कि सिकंदर के लाख हाथ-पाँव मारने पर भी, उसके सिपाहियों का भारत में आगे बढ़ने का साहस नहीं हुआ। सच पूछिए तो सिकंदर से भिड़कर, पुरु ने, ढाल बनकर, शेष भारत को उसके रक्तपान और नोच-खसोट से बचा लिया था। भारत के प्रति पुरु की यह बलि कभी भूलने योग्य नहीं है। हम इसका विशद वर्णन इन्हीं इतिहासकारों के मुख से आगे करेंगे। यहाँ लगे हाथ दो और छोटी-मोटी लड़ाइयों का वर्णन किए देते हैं, जिनमें मुट्ठी भर भारतीयों ने बड़ी दृढ़ता के साथ सिकंदर का मुकाबला किया था, और अंत में मातृ-भूमि की रक्षा के लिये उन्होंने अपनी बलि चढ़ा दी थी। झेलम नदी के किनारे 'मालव' नाम की एक जाति रहती थी, जो रण-कौशल में बहुत ही प्रसिद्ध थी। यूनानियों ने इनका नाम 'मैलोई' लिखा है। कुछ इतिहासकारों का मत है कि ये लोग मुलतान के निवासी थे। सिकंदर ने उनके नगर को घेर लिया और सीढ़ी के द्वारा प्राचीर पर चढ़ने लगा, पर सीढ़ी टूट जाने से वह नीचे गिर पड़ा। इस पर मालवियों ने सिकंदर पर वार किया, जिसमें वह बहुत घायल हुआ। उन लोगों ने एक बाण इतने जोर के साथ मारा कि सिकंदर के वक्षःस्थल को बेधता हुआ उसकी रीढ़ की हड्डी तक पहुँच गया; पीछे दवा-दारू से बड़ी कठिनाई से उसकी जान बची। यह प्लूटार्क का वर्णन है जिसको उसने अपनी पुस्तक के ६३वें अध्याय में लिखा है।

मालवियों से युद्ध

अर्रियान और करटियस ने भी इस घटना का लगभग ऐसा ही वर्णन किया है। (देखिए क्रमशः उनकी पुस्तक ६ अध्याय १० तथा

पु० ९ अ० ५।) करटियस की इसी नवीं पुस्तक के चौथे अध्याय में दो वर्णन और भी उल्लेखनीय हैं। उसने लिखा है कि 'शिवियों से मुठभेड़ होने के पश्चात् सिकंदर ने अगलसियन (Agalassians) के नगर पर घेरा डाला, पर उन्होंने ऐसी वीरता से रोका कि मकदूनियों को बहुत हानि उठाकर पीछे हटना पड़ा। अंत में जब सिकंदर ने अपना घेरा न उठाया तब उन्होंने अपनी रक्षा जोखिम में देखकर अपने घरों में आग लगा दी और (राजपूतों के जौहर का अनुसरण करते हुए) अपने को सपरिवार उसी में डालकर भस्म कर डाला।'

इस वर्णन से विदित होता है कि वे लोग स्वतंत्रता देवी के इतने बड़े पुजारी थे कि प्राणों की बाजी लगाकर उन्होंने अधीनता के अपमान से अपनी रक्षा की थी।

दूसरी घटना इस प्रकार है कि 'इसके पश्चात् सिकंदर क्षुद्रक (Sudracae) और मालवों के राज्य में आया, जो पहले तो एक दूसरे से लड़ा-भिड़ा करते थे, पर अब वे सिकंदर के मुकाबले में एक हो गए। उनकी सेना में ९० हजार पैदल, १० हजार सवार और ९०० जंगी रथ थे। मकदूनियों ने समझ रखा था कि अब वे सब संकटों से पार हो गए हैं, पर जब उन्होंने देखा कि अभी उनको एक और नई लड़ाई लड़नी है जिसमें उनकी विपक्षी भारत की सबसे बड़ी लड़ाकू जातियाँ हैं तब भय के मारे, जिसकी उनको आशा न थी, उनके होश उड़ गए। वे लोग विद्रोहात्मक भाषा में फिर अपने राजा (सिकंदर) की निंदा करने लगे। वे लोग एक ऐसे भयानक जातिवालों के सामने थे, जिनके विषय में उनकी धारणा थी कि बिना हमारा रक्त बहाए ये लोग सिकंदर को समुद्र तक पहुँचने का रास्ता न देंगे।' पीछे सिकंदर ने उनको बहुत कुछ समझा-बुझाकर युद्ध के लिये तैयार किया था।

इसका वर्णन केवल अरियान ने किया है। यह (पु० ५, अ० २४) लिखता है कि 'इस नगर के घेरे में जो युद्ध हुआ था, उसमें भारतीयों की ओर के १७ हजार सैनिक मारे गए थे, ७० हजार पैदल

और ५०० सवार कैद हुए और ३०० रथ पकड़े गए थे। पर उधर सिकंदर के केवल १०० आदमी मारे गए और १२०० घायल हुए थे, जिनमें कुछ बड़े-बड़े सरदार भी थे।' कहना न होगा कि इस वर्णन की संख्या कितनी अविश्वसनीय है।

संगल[1] की लड़ाई

फिर आगे इसी इतिहासकार ने सिकंदर के एक अत्यंत नीचता-पूर्ण कृत्य का वर्णन इस प्रकार किया है कि 'जब नगरवाले भाग गए तब वहाँ ५०० घायल रह गए थे, उन सब को सिकंदर ने वध करवा डाला।'

यह है उन छोटी-बड़ी लड़ाइयों का वृत्तांत, जो भारत में सिकंदर के साथ हुई थीं। यद्यपि इन युद्धों में, इन इतिहासकारों के कथनानुसार, विजय-लक्ष्मी सिकंदर ही की ओर रही थी, तथापि यह तो मानना होगा जैसा कि एक कवि ने कहा है—

शिकस्तो-फतह नसीबों से है, वले ऐ 'मीर'।
मुकाबला तो दिले-नातवाँ ने खूब किया॥

इसी प्रसंग में लगे-हाथ यह भी बतला देना असंगत न होगा कि पुरु और अभिसार-नरेश के राज्य को छोड़कर उसके आस-पास और जितने छोटे-छोटे राज्य थे उनकी शासन-प्रणाली प्रायः प्रजा-तंत्र थी, जिनके सुप्रबंध की यूनानियों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। विस्तार के लिये पाठकों को श्रीयुत डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल की 'हिन्दू पालिटी'[2] (प्रकरण ८) देखना चाहिए।

हम पीछे कह आए हैं कि पुरु के साथ सिकंदर का जो युद्ध हुआ था, उसमें अंत में यद्यपि पुरु की हार हो गई थी, पर उसने मकदूनी सैनिकों को ऐसे गहरे धक्के दिए थे कि उनका सारा उत्साह छिन्न-भिन्न हो गया था और फिर आगे बढ़ने के लिये उन्होंने हिम्मत नहीं की। इसका वर्णन इन्हीं इतिहासकारों के अनुसार किया जाता है।

सिकंदर की सेना का क्रंदन

१—यह स्थान रावी और चिनाब के बीच में अमृतसर के जिले में पहाड़ की ओर था।

२—'हिंदू राज्यतंत्र' के नाम से इस पुस्तक का अनुवाद नागरीप्रचारिणी, सभा काशी ने प्रकाशित किया है।—संपादक।

अरियान (पु० ६ अ० २५-२८) लिखता है कि 'सिकंदर इन सब कामों से निपट कर व्यास के किनारे पहुँचा। उसने सुना कि उस पार के लोग बड़े लड़ाकू और वीर हैं तथा उधर के हाथी सब जगह से उत्तम होते हैं। अत: उसने इरादा किया कि उस ओर जाकर उन पर हमला करे। पर उसके सिपाहियों ने जब यह सुना तो उनकी हिम्मत टूट गई। उन्होंने देखा कि उनका स्वामी एक काम के पश्चात् दूसरा काम तथा एक जोखिम पर दूसरी जोखिम बढ़ाता जाता है, इसलिये उनमें जो कुछ गंभीर थे, चुप रहे। शेष सिपाहियों ने साफ कह दिया कि अब हम आगे न जायँगे। यह रंग देखकर सिकंदर ने अपने सेनानायकों को बुलाया और उनको बहुत कुछ उत्तेजित किया और समझाया-बुझाया कि अब सारी दुनियाँ विजय करने में बहुत थोड़ा रह गया है, हिम्मत न हारो, पर उन लोगों ने भी मौन धारण किया। फिर सिकंदर ने बहुत-कुछ कहा-सुना, तब एक सरदार 'कैनोस' ने सब सैनिकों की ओर से कहा कि घर छोड़े बहुत दिन हुए। अब सिपाही अपने बाल-बच्चों को देखना चाहते हैं। बेहतर होगा कि आप भी चलकर यूनान के शासन-प्रबंध को मजबूत करें और फिर इन सिपाहियों की जगह, जिनके दिल टूट गए हैं, नई सेना दिग्विजय के लिये लेकर आएँ।' सिपाही यह सुनकर बहुत खुश हुए। सिकंदर ने यह सुनकर उस समय सबको बिदा कर दिया।

दूसरे दिन सिकंदर ने अपने सिपाहियों पर क्रोध प्रकट किया और कहा कि यदि तुम लोग साथ नहीं देते तो मैं अकेला आगे जाऊँगा और फिर अपने डेरे में जाकर तीन दिन तक चुप बैठा रहा। उसको आशा थी कि इस बीच में उसके आदमियों के विचार में कुछ परिवर्तन हो जायगा। पर यह सब निष्फल हुआ। टालमी कहता है कि सिकंदर ने बलिदान द्वारा शकुन विचारा, जिसका उत्तर उसके अनुकूल न मिला। तब उसने अपनी सेना को बुलाकर कहा कि अच्छा, तुम लोग घर लौट चलो। यह सुनकर उसकी फौज खुशी के मारे रोने लगी।

डियोडोरस (पु० १७ अ० ९४) लिखता है कि 'सिकंदर की सेना की यह दशा थी कि बहुत से सरदार मारे गए थे, घोड़ों के सुम घिस गए थे, हथियारों में मोरचे लग गए थे, सबकी वर्दियाँ फट गई थीं और वे ईरानी वस्त्र पहनते थे। दूसरी ओर आकाश की यह दशा थी कि ७० दिन से बादल गरजते थे, बिजली चमकती थी और मूसलाधार वर्षा हो रही थी। इस कारण उनकी सेना आगे बढ़ना नहीं चाहती थी। सिकंदर ने उनको बहुत कुछ इनाम-इकराम का लालच दिया, पर वे लोग राजी न हुए। तब उसने लौट जाने का इरादा कर लिया।'

प्लूटार्क ने कुछ अधिक सच्चाई के साथ इसका वर्णन किया है। वह अपनी पुस्तक के अध्याय ६२ में स्पष्टतया लिखता है कि पुरु के साथ सिकंदर का जो युद्ध हुआ था उसमें मकदूनी सिपाही इतने खिन्न हो गए थे, कि आगे बढ़ने को तैयार न हुए, क्योंकि बड़ी कठिनाई से उन्होंने पुरु के २० हजार पैदल और २ हजार सवारों के मुकाबले में विजय पाई थी[१]। इसलिये सिकंदर के इस प्रस्ताव पर कि गंगा पार करें, कोई तैयार न हुआ। यह समाचार मिला था कि उस पार गंगारिडेई (Gangaridae) और परासी (Prasii) २ लाख पैदल, ८० हजार सवार, ८ हजार जंगी रथ और ६ हजार हाथी लेकर सिकंदर के हमले की प्रतीक्षा कर रहे हैं। सिकंदर ने अपने सिपाहियों से कहा कि यह सब अत्युक्ति है[२]। पर वे राजी न हुए।

सिकंदर अपने सिपाहियों की यह दशा देखकर बहुत क्रोधित हुआ और अपने डेरे में जाकर पृथ्वी पर सोया और उसने विचार किया

१—इस पर एक इतिहासकार लिखता है कि 'इससे पता चलता है कि सिकंदर की सेना में मकदूनी, यूनानी, बाखतरी, आंभी के सिपाही तथा बहुत से नए हिंदुस्तानी रँगरूट थे। फिर भी पुरु की २० हजार सेना से लड़कर वे इतने टूट गए थे कि अपनी बहादुरी खो बैठे' (देखो ईरान-बास्तान, जिल्द २ पृष्ठ १८११)

२—'यह अत्युक्ति न थी, क्योंकि उसके बाद ही जब चंद्रगुप्त गद्दी पर बैठा तब उसने (अपने श्वशुर) सिल्यूकस को ५०० हाथी और ६० हजार सेना दी थी, जिससे उसने समस्त भारत को रौंद डाला था। (वही)

कि गंगा के पार न उतरना एक प्रकार से हार मान लेना है, पर उसके मित्रों ने जाकर कहा कि ऐसी अवस्था में यही उचित जान पड़ता है कि लौट चला जाय। सिकंदर यह सुनकर और यह देखकर कि उसके सिपाही दरवाजे पर **रोते और चिल्लाते हैं,** नर्म हो गया और लौट जाने के लिए तैयार हो गया।

करटियस ने (पु० ६ अ० २) भी दूसरे शब्दों में लगभग वही बातें लिखी हैं, जो ऊपर के इतिहासकारों ने कही हैं, कि 'किस तरह सिकंदर व्यास नदी के पार अपनी सेना ले जाना चाहता था, पर उसके सिपाहियों की हिम्मत नहीं पड़ी। तब उसने उनको बहुत कुछ समझाया-बुझाया और उनका उत्साह बढ़ाने के लिए कहा कि 'देखो सेथियन, सोगदियन, नेकटेरियन और दहन इत्यादि ये सब हमारी सेना में हैं। पर हे मकदूनियो और यूनानियो! हमको तुम्हारे ही बाहु-बल का भरोसा है।' पर ये सब बातें निष्फल हुई। किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया, सब लोग चुप रहे और फिर बड़े जोर से **रोने और चिल्लाने लगे।**

इस वर्णन पर किसी टीका-टिप्पणी की जरूरत नहीं है। ऊपर गंगा पार उतरने की जो चर्चा आई है उससे तात्पर्य 'मगध' से है, जहाँ उस समय महापद्म नंद सिंहासन पर था और जिसकी सैनिक शक्ति का विवरण प्लूटार्क ने लिखा है।

इसकी चर्चा सामान्य इतिहास-लेखकों ने बिलकुल छोड़ दी है, इसलिये हम इसका थोड़ा सा वर्णन करना उचित समझते हैं।

भारतीय पंडितों से सिकंदर का संपर्क

प्लूटार्क ने (अ० ५९) लिखा है कि 'भारत के कुछ पंडितों ने वहाँ के कुछ स्वतंत्र राजाओं को सिकंदर के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये उकसाया था, इसलिये उसने उन पंडितों को फाँसी दिलवा दी।' इसपर मेक्रिंडल का नोट है कि ये लोग सिंध के ब्राह्मण थे।

फिर वही इतिहासकार अ० ६४ में लिखता है कि 'भारत के कुछ दार्शनिक-पंडितों को सिकंदर ने कैद कर लिया था, जिन्होंने सिंध

के पश्चिम के एक पहाड़ी राजा सब्बास (Sabbas) को सिकंदर के विरुद्ध भड़काया था। उसने सुना कि ये लोग कठिन प्रश्नों का उत्तर बहुत ही संक्षिप्त और सारगर्भित दे सकते हैं। इसलिये यहाँ से जाते समय उनको बुलाकर कहा कि तुम लोगों से एक-एक प्रश्न किया जायगा। जिसका उत्तर सबसे निकृष्ट होगा, वह पहले मारा जायगा। शेष इसी क्रम से उसके पीछे वध किए जायँगे। इसके निर्णय के लिये एक पंच नियुक्त किया गया और फिर इस प्रकार से प्रश्नोत्तर आरंभ हुआ—

एक से—'संसार में जीवित प्राणी अधिक हैं या मरे हुए ?'

उ०—'जीवित, इसलिये कि मृतक मौजूद नहीं हैं।'

दूसरे से—'सबसे बड़े जीव-जंतु जल में हैं या उसके बाहर पृथ्वी पर ?'

उ०—'पृथ्वी पर, क्योंकि जलाशय भी तो पृथ्वी का एक अंश है।'

तीसरे से—'सबसे बुद्धिमान् पशु कौन है ?'

उ०—'वह है, जिसको अब तक मनुष्य ने नहीं जाना अथवा नहीं जानता।'

चौथे से—'सब्बास को तुमने क्यों बहकाया था कि वह हमारे साथ विद्रोह करे ?'

उ०—'इसलिये कि वह या तो गौरव के साथ जीवित रहे या सम्मानपूर्वक प्राण दे दे।'

पाँचवें से—'सबसे पहले दिन हुआ या रात हुई थी ?'

उ०—'दिन, पर उसका अस्तित्व रात से केवल एक दिन पहले था।'

सिकंदर को यह सुनकर आश्चर्य हुआ। पंडित ने कहा कि विलक्षण प्रश्नों का उत्तर भी विलक्षण हुआ करता है।

छठें से—'मनुष्य क्योंकर अपने को सब का मित्र बना सकता है ?'

उ०—'इस प्रकार से कि जब मनुष्य सबसे अधिक बलवान् हो तब ऐसा व्यवहार रखे कि उससे कोई भयभीत न हो।'

सातवें से—'मनुष्य किस प्रकार से देवता बन सकता है?'

उ०—'ऐसा काम करे, जिसका करना मनुष्य के लिये असंभव हो।'

आठवें से—'जीवन अधिक बलवान् है या मृत्यु?'

उ०—'जीवन, क्योंकि उसमें हर प्रकार की आपदाओं के सहन करने की शक्ति है।'

नवें से—'मनुष्य को कब तक जीवित रहना अच्छा है?'

उ०—'जब तक वह मृत्यु को जीवन से उत्तम न समझे।'

सिकंदर ने मध्यस्थ से पूछा कि तुम क्या व्यवस्था देते हो? उसने कहा कि सब ने एक दूसरे से भद्दा और निकम्मा उत्तर दिया है। सिकंदर ने कहा कि तूने बेईमानी का फैसला दिया है, इसलिये सब से पहले तू ही मारा जायगा। उसने कहा नहीं, जब तक तू अपने वचन से न फिरे, क्योंकि तूने कहा था कि जो सबसे बुरा जवाब देगा वह सबसे पहले मारा जायगा।

अंत में सिकंदर ने उन पंडितों को भेंट देकर बिदा कर दिया।

फिर इसी इतिहासकार ने अ० ६५ में लिखा है कि सिकंदर ने 'वंसिक्रटिस' को भेजा कि भारत के कुछ तत्त्वदर्शियों को बुला लाए। वह 'कलानोस' और 'डंडमिस' के पास गया। ये लोग पहले आने को तैयार न थे फिर ताक्षिल के आग्रह से 'कलानोस' आया, जिसका असली नाम 'स्फिनेस' बतलाया जाता है। उसने आकर एक बड़ी सूखी खाल मँगवाई और उसके एक कोने पर पाँव रखा। उसका शेष भाग उठ गया। इसी प्रकार वह हर कोने पर गया और खाल की वही दशा हुई। फिर वह बीच में खड़ा हुआ। तब खाल बराबर हो गई। इससे उसका आशय सिकंदर को यह उपदेश देने का था कि वह अपनी राजधानी में रहकर सुचारु रूप से राज्य करे, न कि सुदूर देशों में इधर-उधर दौड़ता फिरे।

डियोडोरस (पु० १७ अ० १०७) लिखता है 'सिकंदर 'कलानोस' को अपने साथ ले गया। जब वह ईरान में सोशियाना की सीमा पर पहुँचा तब 'कलानोस' ने, जो दर्शन-शास्त्र में पारंगत था, और जिसका सिकंदर बहुत आदर करता था, अपने जीवन को एक विचित्र ढंग से समाप्त करना चाहा। वह उस समय ७३ वर्ष का हो गया था। इतने दिनों तक उसने बड़े आनंद के साथ अपना जीवन व्यतीत किया था। अब वह उसके लिये भार हो रहा था। इसलिये उसने सिकंदर से कहा कि एक बड़ी चिता तैयार की जाय, जिसमें वह बैठकर भस्म हो जायगा। सिकंदर ने पहले तो इस प्रस्ताव का विरोध किया। पर जब देखा कि वह नहीं मानता, तब उसने एक चिता तैयार कराई। उसकी कुल सेना इस असाधारण दृश्य को देखने के लिये इकट्ठी हुई। 'कलानोस' अपने दार्शनिक-सिद्धांत के अनुसार बड़े साहस के साथ चिता पर बैठ गया और अग्नि की ज्वाला में उसने अपने शरीर को भस्म कर दिया। सिकंदर ने उसके लिये बहुत ही बहुमूल्य चिता तैयार कराई थी।'

भारत में सिकंदर द्वारा जो मुख्य घटनाएँ हुई थीं, उन सब का वर्णन हो चुका। पर हमारी समझ में यह लेख अपूर्ण रहेगा यदि उसकी प्रकृति और कामों पर एक दृष्टि न डाली जाय। इस पर ईरान के एक आधुनिक प्रसिद्ध इतिहास-वेत्ता 'हसन पीरनिया' ने, जिन्होंने बहुत अनुसंधान करके अपने देश का प्राचीन इतिहास 'ईरान-बास्तान' के नाम से तीन बड़ी-बड़ी जिल्दों में लिखा है, बहुत ही अच्छा सिंहावलोकन किया है। वह लिखते हैं—

सिकंदर का व्यक्तित्व और उसका कार्य

"सिकंदर के इतिहास-लेखकों ने, जिन्होंने उसका भरपेट यशोगान किया है, लिखा है कि सिकंदर बुद्धिमान्, वीर, निर्भीक, बलवान्, (जोखिम के समय) धैर्यवान्, महत्त्वाकांक्षी, नाम और ख्याति का बेहद भूखा था। उसके विचार इतने ऊँचे थे कि पागलपन तक पहुँचे हुए थे, तथा वह हठी, शराबी, लंपट, क्रोधी, अभिमानी, द्रोही, बदमिजाज, बधिक और निर्दयी था। स्त्री-पुरुषों को नष्ट करना, वृद्ध-बालक को

दास बनाकर बेचना, नगरों को लूटना और फूँकना इत्यादि उसका साधारण कृत्य था।

"यदि उसके कामों पर विचार किया जाय कि उसने करोड़ों आदमियों के प्राण लेकर संसार को या अपने देश को क्या लाभ पहुँचाया? उत्तर 'कुछ नहीं' मिलता है, क्योंकि उसने ईरान, हबश और भारत में हजारों आदमियों को **कहीं धोखे से और कहीं विश्वासघात से वध किया** और फिर उसकी सेना के बहुत से आदमी मारे गए अथवा प्रतिकूल जलवायु, गरमी और रोगों से पीड़ित होकर मर गए। कुछ लोगों का कहना है कि वह जल्दी मर गया, नहीं तो दुनियाँ के लिये कुछ कर जाता, पर यह निरा भ्रम है। यदि वह ५० वर्ष भी जीता रहता तो एक देश से दूसरे देश पर चढ़ाई करता फिरता और उसमें कहीं मारा जाता या मर जाता। कुछ लोग यह कहते हैं कि सोगद और भारत के कुछ लोगों ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया था, इसलिये उसने उन पर चढ़ाई की थी। पर विदेशियों से अपनी मातृ-भूमि की रक्षा करने के लिये आंदोलन करना विद्रोह नहीं है। यदि आंभी और पुरु के साथ उसने कुछ सलूक किया तो अपने लाभ के लिये और उन कठिनाइयों के दूर करने के लिये जो उस समय उसके मार्ग में कंटक बन रही थीं।" (देखिए उक्त पुस्तक के दूसरे खंड का पाँचवाँ अध्याय।)

कुछ भारत के आधुनिक इतिहास-लेखकों की धारणा है कि सिकंदर के हमले से इस देश को लाभ ही पहुँचा था। हमने इसी भ्रम के निवारण के लिये ऊपर एक विदेशी विचारशील, निष्पक्ष इतिहासकार का मत उद्धृत किया है।

भारत पर सिकंदर के हमले के विषय में सामान्य जनता बहुत कुछ अँधेरे में है। इसलिये सबसे पुरानी पुस्तकें, जो इस समय उपलब्ध हैं, उन्हीं के आधार पर हमने यह लेख तैयार किया है, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है—

उपसंहार

(१) इस विषय में जो पुरानी ऐतिहासिक सामग्री हमारे सामने है वह बहुत कुछ संदिग्ध और अप्रामाणिक है, जैसा कि पीछे विस्तारपूर्वक दिखलाया गया है। अतः उसपर पूर्णतया भरोसा करना बहुत बड़ी भूल होगी।

(२) फिर जो कुछ इन पुराने इतिहासकारों ने लिखा है उसमें अनेक स्थलों पर एक दूसरे से मतभेद ही नहीं, प्रत्युत कई जगह एक ने दूसरे का खंडन किया है। इसके अतिरिक्त उनकी वर्णन-शैली स्पष्टतया ऐसी पक्षपात-पूर्ण है कि उनको एक सच्चे इतिहासकार के पद से गिरा देती है। इसका भी विस्तृत वर्णन अनेक प्रमाणों से पीछे किया गया है।

(३) यदि आंभी जैसा देश-द्रोही स्वार्थवश पहले ही सिकंदर से मिल न जाता तो केवल पश्चिमोत्तर-भारत की वीर-जातियों की शक्ति इतनी प्रबल थी कि वहाँ घुसते ही सिकंदर और उसकी सेना विनष्ट हो जाती। फिर भी प्रतिकूल परिस्थिति होने पर तत्कालीन अनेक भारतीय सपूतों ने अपनी मान-मर्यादा और मातृ-भूमि की रक्षा के लिये ऐसी वीरता का परिचय दिया था कि सिकंदर के दाँत खट्टे हो गए थे और उसको स्पष्टतया कहना पड़ा था कि यह ईरान नहीं है जिसको उसने नर्म चारा समझकर बड़ी सुगमता से हड़प कर लिया था।

इतना ही नहीं, एक अवसर पर यहाँ की वीरांगनाओं ने भी रण-स्थल में बड़े जोश के साथ सिकंदर की सेना से हाथों-हाथ युद्ध किया था।

(४) वीर-शिरोमणि पुरु ने तो सिकंदर के प्रवाह को ऐसा पीछे ढकेल दिया था कि उसको अपना बोरिया-बँधना लेकर स्वदेश को भागते ही बन पड़ा था। वह जो समस्त एशिया के विजय करने का स्वप्न देख रहा था, सहसा भग्न हो गया था। पुरु के धक्के से उसके सिपाहियों का दिल इतना टूट गया था कि जब सिकंदर ने उनको और आगे पूर्व की ओर बढ़ने के लिये कहा तब उनकी सारी बहादुरी हवा

हो गई और वे दाढ़ें मार-मारकर रोने और चिल्लाने लगे। इसका उल्लेख लगभग सभी इतिहासकारों ने दबे शब्दों में किया है।

(५) भारतीयों की मनोवृत्ति सदा से ऐसी रही है कि वे शत्रुओं को धोखा-धड़ी से मारकर जीतना क्षात्रधर्म के विरुद्ध समझते थे। पर ऐसा जान पड़ता है कि पाश्चात्य जातियों का ढंग पहले ही से इसके विपरीत रहा है। सिकंदर ने कई अवसरों पर घोर विश्वास-घात और दगाबाजी से न केवल निहत्थे भारतीय पुरुषों बल्कि स्त्री-बच्चों और घायलों तक का बड़ी निर्दयता से रक्त-पात किया था। सिकंदर का यह कृत्य इतना घृणित था कि एक पुराने इतिहासकार ने भी दबे शब्दों में इसकी निंदा की है।

(६) भारत प्राचीन काल से दार्शनिक विचारों के लिये विख्यात रहा है। सिकंदर का भी कुछ ऐसे तत्त्वज्ञानियों से समागम हुआ था और वह उनसे इतना प्रभावित हुआ था कि एक विद्वान् को अपने साथ ले गया था।

यूनानी दर्शन का, पीछे मुसलमानों पर बहुत प्रभाव पड़ा। क्योंकि उनके यहाँ दर्शन और विज्ञान का नाम न था, इसलिये जो कुछ पहले उनके सामने आया उसी को उन्होंने अपना लिया। यदि कहीं उस समय भारत का दार्शनिक-साहित्य यूनान पहुँच जाता तो अरबों तथा योरपवालों की दार्शनिक-विचार-धारा कुछ दूसरी ही ओर होती। पर ऐसा जान पड़ता है कि सिकंदर की मार-काट और नोच-खसोट के कारण इसका अवसर ही नहीं मिला कि उभय-देशों के दार्शनिक विचारों का आदान-प्रदान होता।
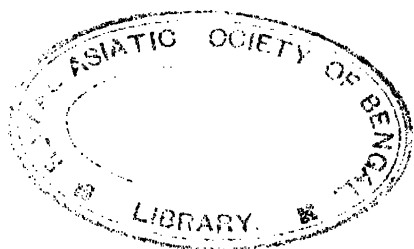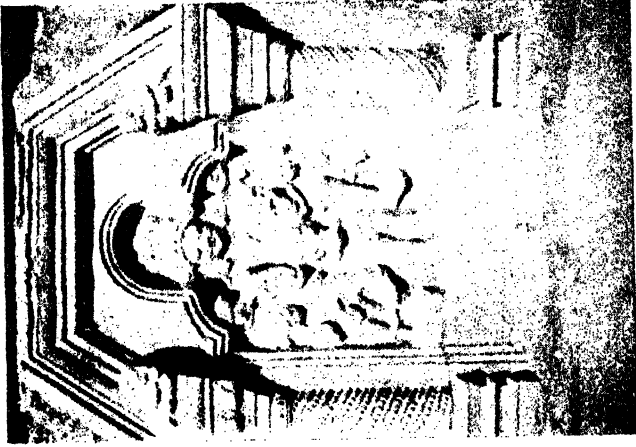
मार्तंड-मंदिर, दुर्गा की मूर्ति
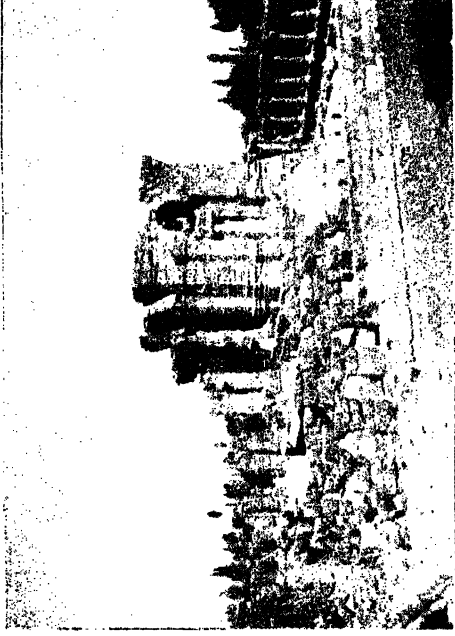
मार्तंड-मंदिर का भग्नावशेष

काश्मीर का मार्तंड-मंदिर

[लेखक—श्रीयुत ब्योहार राजेन्द्रसिंह, एम० एल० ए०]

मुझे अपनी काश्मीर-यात्रा में प्राचीन मंदिरों के भग्नावशेष देखने को मिले, जिनमें अवंतिपुर और मार्तंड मुख्य हैं। मार्तंड का मंदिर श्रीनगर से पहलगाँव के रास्ते में ३८वें मील पर, अनंत नाग से ५ मील आगे, वर्तमान मटन नामक कस्बे में है। 'मटन' भी प्राचीन मार्तंड का अपभ्रंश है। मटन के पास ही एक पहाड़ी पर यह प्राचीन मंदिर स्थित है। नीचे चाका नदी के विमल और कमल नामक कुंडों पर सूर्यक्षेत्र नामक तीर्थ है। यहाँ नवीन सूर्य-मंदिर है। प्राचीन मार्तंड-मंदिर के नष्ट हो जाने पर ही यह नवीन मंदिर निर्माण किया गया है। प्राचीन मंदिर में मुख्य मंदिर तथा तोरण द्वार का अनुपात प्राचीन हिंदू-स्थापत्य-कला के अनुसार है। मंदिर एक चौकोर आँगन के बीच में विशाल काले पत्थरों से बना हुआ है। मुख्य मंदिर के चारों ओर २२० फुट लंबा और १४२ फुट चौड़ा परकोटा है जिसमें ८४ छोटे छोटे मंदिर बने हैं। इनमें भिन्न-भिन्न देवताओं की मूर्तियाँ मंचों पर स्थित थीं। पश्चिम ओर परकोटे के मध्य में मंदिर का गोपुर-द्वार है जो कि अवंतिपुर मंदिर के समान है। यह मुख्य मंदिर के समान ही चौड़ा है और सजावट-बनावट तथा विभागों में प्रधान मंदिर ही के समान है। यह गोपुर पूर्व और पश्चिम दोनों ओर खुला है तथा एक दीवार के द्वारा भीतरी तथा बाहरी भागों में विभाजित है। इस दीवार के मध्य में एक द्वार है जिसमें लकड़ी का द्वार लगा था। गोपुर का छत्र मुख्य मंदिर ही के समान चौकोर था तथा इनकी सजावट में खड़े हुए देवताओं की मूर्तियाँ, कुछ शृंगारिक मूर्तियाँ, बैठी हुई मूर्तियाँ, फूल-पत्ती तथा हंस आदि पक्षियों के चित्र हैं। गोपुर के दोनों ओर की भीतरी दीवारों पर त्रिमुख विष्णु की मूर्तियाँ हैं जिनके आस-पास जय और विजय

खड़े हैं। गोपुर के दोनों भाग १७½ फुट ऊँचे विशाल खंभों द्वारा समर्पित हैं। इसका तर्ज भी अवंतिपुर के ही समान है।

प्रधान मंदिर पूर्व की ओर २७ फुट चौड़ा है। इसके भीतर तीन स्पष्ट अर्ध-मंडप (बाहरी भाग) हैं जो कि १८ फुट १० इंच चौक चौड़े हैं। मंदिर का अंतराल १८ फुट लंबा और ४ फुट ६ इंच चौड़ा है और गर्भ-गृह (भीतरी भाग) १८ फुट ५ इंच लंबा तथा १२ फुट १० इंच चौड़ा है। मंदिर की दीवारें ६ फुट मोटी हैं। तीन में से दो अर्ध-मंडप तो खूब सजे हैं किंतु तीसरा बिलकुल सादा है। पहले की दीवारों पर त्रिमुख अष्टभुजी वनमालाधारी विष्णु की मूर्तियाँ खुदी हुई हैं जिनका बायाँ हाथ एक चामरधारिणी पर रखा हुआ है। उत्तर दीवार पर की मूर्ति के चरणों के बीच में पृथ्वीमूर्ति है। इन तीन मुखों में से एक वाराह, दूसरा सिंह तथा बीच का मनुष्याकृति है। ये मूर्तियाँ अवंतिस्वामी मंदिर ही के समान हैं। दूसरे मंडप की दीवारों पर एक ओर मगर पर सवार गंगा की मूर्ति है जो दाएँ हाथ में कमल तथा बाएँ में जल-पात्र लिए है। आस-पास दो सखियाँ छत्र तथा चँवर लिए हैं। दूसरी ओर कच्छप पर सवार यमुना की मूर्ति है। उनके दोनों ओर भी उसी प्रकार दो सखियाँ हैं। मंदिर का भीतरी मंच, जो कि ७५ फुट का है, रणादित्य (ई० पू० २१७) का बनवाया हुआ तथा बाहरी मंच सातवीं सदी में ललितादित्य का बनवाया हुआ कहा जाता है। भीतरी मंच पर कुछ देवताओं की मूर्तियाँ खुदी हैं तथा बाहरी मंच पर बालकृष्ण की भिन्न भिन्न लीलाएँ चित्रित हैं। ये मूर्तियाँ कुल १४ हैं—१२ उत्तरी-दक्षिणी दीवारों पर तथा २ पूर्व की ओर। इनमें से एक सूर्यसारथी अरुण की जान पड़ती है जो रथ की रश्मियों को पकड़े हुए है। गंगा-यमुना की मूर्तियों के ऊपर छत्र लिए हुए दो गंधर्वों के उभरे चित्र हैं।

आँगन में मंदिर के चारों ओर छोटे छोटे चार मंदिरों के आसन हैं जो कि ब्रह्मा, विष्णु, शंकर और दुर्गा के मंदिर बतलाए जाते हैं। मुख्य

मंदिर में मार्तंड की मूर्ति स्थापित थी। दीवारों पर खुदी हुई मूर्तियों के मुख प्राय: नष्ट हो गए हैं। केवल आकार, वाहन तथा आयुध से वे पहचानी जाती हैं। कुछ मूर्तियों के मुख पुरातत्त्व विभाग की ओर से सुधराए गए हैं। किंतु वे अलग जान पड़ते हैं। मंदिर में कुछ लोहे के पुराने कीले भी यहाँ-वहाँ दीख पड़ते हैं जिनसे जान पड़ता है कि वह कितनी मजबूती से बनाया गया था। मंदिर में कुल ८४ खंभे थे, जो कि सूर्यदेव के अंग माने जाते हैं। इनमें ७० गोल, १० चौकोर तथा ४ बीचवाले बड़े खंभे हैं। गोल खंभे ९$\frac{1}{2}$ फुट ऊँचे तथा २१$\frac{1}{2}$ फुट व्यासवाले हैं। इनमें से आधे से अधिक टूटे हुए पड़े हैं। सामने एक चौकोर हौज है जिसमें मंदिर के पीछे की नाली से झरने का पानी आकर एकत्र होता था। आँगन में मिट्टी की बड़ी-बड़ी गोल कोठियाँ गड़ी हुई मिलती हैं जिनमें अनाज इकट्ठा किया जाता था। सारा मंदिर टूटी-फूटी अवस्था में पाया जाता है। मुख्य मंदिर की एक-दो महराबें अभी ज्यों की त्यों खड़ी हैं। मंदिर का आयताकार गुंबज काश्मीर के अन्य स्थानों में पाए जानेवाले गुंबजों ही के समान है। वह ७५ फुट ऊँचा, ३३ फुट लंबा तथा इतना ही चौड़ा है। सामने के गोपुर के समान दाईं तथा बाईं ओर भी बंद द्वार के गोपुर हैं जो कि ६० फुट ऊँचे हैं तथा मेहराबों पर स्थित हैं। मंदिर का घेरा काश्मीर भर में सबसे विशाल है।

सुल्तान सिकंदर बुतशिकन (१३९०–१४१७ ई०) ने इस मंदिर को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। कहते हैं, उसने मंदिर के भीतर लकड़ी और बारूद भरवाकर आग लगवा दी जिससे पुजारियों के साथ यह मंदिर जल गया। जलने के निशान अभी तक दीवारों पर स्पष्ट दीखते हैं। यह भी बतलाया जाता है कि मंदिर के गुंबज पर महालक्ष्मी की एक सुवर्ण-मूर्ति थी। इसके मस्तक पर एक बड़ा हीरा था जिसका प्रकाश कई मील तक जाता था और रात को भी सूर्य के समान प्रकाश देता था। इसी से आकृष्ट होकर सिंकदर ने मंदिर की दुर्दशा कर डाली।

मंदिर के पीछे एक पत्थर पर अभी तक आठ लकीरों का एक शिलालेख पाया जाता है, जो संस्कृत-भाषा तथा शारदा लिपि में है। इसके बहुत से अक्षर मिट गए हैं। जो कुछ पढ़ा जा सकता है वह इस प्रकार है :—

१—............ ...हत: यश्चार्य...... ....

२—... . पद्मोद्भहेतुत: स्वान्नाभिपद्मोद्भवाद्ब्रह्मणाप्तिकृतोध.........

३—......व्याप्युग्रधामोत्करश्लाघ्य: कर्त्तु रपि प्रजां प्रतिदिनङ्कुर्वन्निवाशा-
भवाभूवि।

४—......वादव्याप्तजगत्त्रयाश्रमादय: कुर्वन्नसदैवोदयम्। चक्राकान्ति-
समुज्वल: परिप............

५—... ..जो मुरारेरपि॥ क्रान्तानन्तदिगम्बरात्करपरिव्याप्तत्रिलोकी-
तलाद्धोभि—

६—......मतानि ज्ञानशशभृत्खण्डस्य धामप्रभुभ्रम्यिन्नृत्तविधायिनो-
ऽपि जगतो यशङ्कर—

७—......प श्रियोऽस्य व्यसोपेन्द्राब्जनानां प्रसभमपहृताशेषरक्षाश्रमस्य
श्रीमा............

८—......श्रीमृताण्डस्य बिम्बं श्रीश्रीवर्मासपर्याहित..................

इसका भावार्थ इस प्रकार जान पड़ता है :—

"कीर्त्तिमान् श्रीवर्मन् ने, जो कि अपने यशकारी कृत्यों के द्वारा त्रिमूर्त्ति से भी बढ़ गए थे और जिन्होंने उनको जगत्पालन के श्रम से मुक्त कर दिया था, प्रबल भक्ति से प्रेरित होकर अपने राज्य के ७०वें वर्ष में मार्तंड की मूर्त्ति स्थापित कराई॥"

मुक्तापीड़ ललितादित्य, जो कि राज्य-विस्तार, विदेशों की दिग्विजय तथा निर्माण-कार्य में काश्मीर में शायद सब से प्रतापी राजा था उसके द्वारा भी मार्त्तंड-मंदिर के निर्माण का उल्लेख है। कल्हण के अनुसार इसका समय सन् ६९९ से ७३६ ई० तक है किंतु इसकी निश्चित तिथि का ठीक ठीक निर्णय नहीं हो सका है। (राजतरंगिणी एम० ए० स्टीन, प्रथम भाग, उपोद्घात पृ० ८८-८९)

स्टीन साहब ने मार्तंड-मंदिर का वर्णन इस प्रकार किया है :—

"ललितादित्य के निर्माण किए हुए भवनों और नगरों के स्थानों का निश्चित रूप से पता लगाना कठिन है। किंतु विस्तृत भग्नावशेषों के कारण जिनका पता लगता है उनसे ललितादित्य की कीर्ति एक निर्माता के नाते दृढ़ होती है। आश्चर्यजनक मार्तंड-मंदिर का भग्नावशेष, जो कि उसने मार्तंड तीर्थ पर बनवाया था, अभी तक इस घाटी में हिन्दू-स्थापत्य-कला का एक मार्के का नमूना है। गिरी हुई अवस्था में भी वह अपनी विशालता तथा कलात्मक आकृति और सजावट के कारण प्रशंसनीय है।" (पृ० ९२)

कल्हण ने मुक्तापीड़ के द्वारा मार्तंड-मंदिर के निर्माण का वर्णन इस प्रकार किया है :—

सोखंडाश्मप्राकारं प्रासादान्तर्व्यधत्त च।
मार्त्तण्डस्याद्भुते दाता द्राक्षास्फीतं च पत्तनम्॥

कल्हण ने 'राजतरंगिणी' में ललितादित्य मुक्तापीड़ के विषय में लिखा है—"इस दानी राजा ने एक नगर बनवाया जिसमें अंगूर की बेलों की प्रचुरता थी और घेरे की प्राचीर के भीतर विशाल पत्थरों की दीवारों से युक्त मार्तंड का आश्चर्यजनक मंदिर बनवाया था।" (राजतरं० ४।१९३)

राजतरंगिणी में इस प्रतापी राजा द्वारा निर्मित ज्येष्ठरुद्र (वर्तमान ज्येष्ठेश्वर या शंकराचार्य मठ), मुक्तेश्वर या मुक्तस्वामिन्, गोवर्धनधर, राजविहार, परिहारकेश्वर आदि विष्णु, कृष्ण, बुद्ध और इन्द्र के मंदिरों का उल्लेख भी मिलता है। (रा०, त० ४ श्लो० १८८, १९०, १९८, २०० और २०२) इससे प्रकट होता है कि यह राजा बड़ा प्रतापी तथा बड़ा भारी निर्माता था।

शिलालेख में उल्लिखित श्रीवर्मन् प्रसिद्ध राजा अवन्तिवर्मन् (८५५ से ८८३ ई०) माना गया है जिसने अवन्तिस्वामिन् का मंदिर बनवाया था, किंतु राजतरंगिणी में इसके द्वारा सूर्यमूर्ति की स्थापना का उल्लेख कहीं नहीं पाया जाता।

राजतरंगिणी में यह भी उल्लेख है कि गोनंद वंशोद्भव रणादित्य भी बड़ा भारी निर्माता था। उसने रणेश्वर, रणरंभदेव तथा रणपूर स्वामी के मंदिर बनवाए थे। अंतिम मंदिर के संबंध में लिखा है कि यह मंदिर सूर्यदेव का था और 'सिंहारोत्सिका' नामक ग्राम में स्थित था। (राजतरंगिणी, त० ३ श्लो० ४६२ तथा Monuments of Kashmir by R. C. Kak)

कुछ विद्वान् रणादित्य को ऐतिहासिक नृपति न मानकर प्रागैतिहासिक राजा मानते हैं। इसके प्रमाण में वे यह तर्क पेश करते हैं कि राजतरंगिणी के चतुर्थ तरंग तक कल्हण ने राजाओं की तिथियाँ निश्चित रूप से नहीं दीं, केवल उनके राज्यकाल का उल्लेख किया है। रणादित्य भी उन्हीं में से एक है। इनके संबंध में एक संदेहजनक बात यह भी है कि उनका राज्यकाल ३०० वर्ष बतलाया गया है जो कि असंभव जान पड़ता है। एक ओर विलसन आदि लेखकों ने इसे विश्वसनीय माना है दूसरी ओर राजतरंगिणी के विश्वसनीय प्रमाण स्टीन साहब ने इस पर आश्चर्य प्रकट किया है। किंतु उन्होंने भी रणादित्य के बनवाए मंदिरों आदि को अनैतिहासिक नहीं माना। (M. A. Stein's Rajatarangini Vol I. Introduction Ch. V pp. 86)

दूसरे विद्वानों ने भी रणादित्य को ऐतिहासिक नृपति माना है, यद्यपि उसके राज्यकाल के संबंध में अतिशयोक्ति हो सकती है। उसके निर्माण किए हुए अनेक मंदिरों, विहारों तथा नगरों का उल्लेख स्पष्ट रूप से राजतरंगिणी में होने के कारण उसका अस्तित्व नहीं उड़ा दिया जा सकता। [श्री रणजीत शंकर पंडित-कृत राजतरंगिणी परिशिष्ट (अ) पृ० ५६१]

अतः सब से पहले रणादित्य ने रणपूर स्वामी नामक सूर्यमंदिर बनवाया जिसका प्रमाण मंदिर के पहले चबूतरे से पाया जाता है। इसके बाद ललितादित्य मुक्तापीड़ ने इसका जीर्णोद्धार कर दूसरा चबूतरा तथा मंदिर बनवाया और अंत में श्रीवर्मन ने फिर से सूर्यमूर्त्ति की स्थापना की। ५०० वर्ष तक मंदिर अक्षुण्ण रहा किंतु बाद में सिकंदर बुत-

शिकन ने इसकी वह दशा कर डाली जिसमें वह आज तक पड़ा हुआ है। बस, यही इस प्राचीन मंदिर का संक्षिप्त इतिहास है।

जब बौद्धधर्म के ह्रास के बाद काश्मीर में पौराणिक ब्राह्मण धर्म की स्थापना हुई, श्रीशंकराचार्यजी ने यहाँ अपना मठ स्थापित किया। शिवोपासना ने बुद्धोपासना का स्थान ले लिया और ज्येष्ठरुद्र आदि शिवमंदिरों की स्थापना हुई। इसके साथ ही शैव-वैष्णव-विवाद को मिटाकर स्मार्त्तसिद्धांत के रूप में हिंदूधर्म की सामंजस्य-भावना उदित हुई। जिस ललितादित्य ने शिव-मंदिर बनवाए उसी ने बौद्ध-विहार तथा वैष्णव-मंदिरों का भी निर्माण कराया। इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। हिंदुओं में पंचायतन की सभा प्रारंभ हुई और ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की त्रिमूर्त्तियों का एकीकरण होने के साथ सूर्य, दुर्गा या गणेश की उपासना भी साथ ही साथ चली। दुर्गा और गणेश शिवोपासना ही के अंग हैं। सूर्य ही एक देवता हैं जो त्रिमूर्त्ति से अलग जान पड़ते हैं। किंतु यथार्थ में सूर्य त्रिमूर्त्ति की एकता ही के प्रतीक हैं। 'आदित्यहृदय' में "ब्रह्माविष्णुरुद्रस्वरूपिणे" मार्त्तंड ही की उपासना की गई है। अतः इसी त्रिमूर्त्ति की एकरूपता के रूप में सूर्योपासना प्रचलित हुई जान पड़ती है। मार्त्तंड-मंदिर के चारों कोनों पर ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा दुर्गा के मंदिर होना तथा बीच में मार्त्तंड-मूर्त्ति का स्थित होना इसी तत्त्व को सिद्ध करता है कि प्रचंड मार्त्तंड के रूप से केंद्रबिंदु में सर्वदेवस्वरूपी अखंड ईश्वर वर्त्तमान है जिसकी भिन्न भिन्न किरणें ही त्रिदेवों या अनंत देवी-देवताओं के रूप में चारों दिशाओं में फैली हुई हैं। सूर्योपासना का मार्त्तंड-मंदिर हिंदूधर्म की व्यापकता तथा सामंजस्य-विधान का एक प्रबल प्रमाण है।

काश्मीर की शीतप्रधानता भी यहाँ सूर्योपासना की प्रमुखता का एक कारण हो सकता है। ईरानी, एजटिक तथा इंक आदि जातियों की सूर्योपासना का भी यही भौगोलिक कारण हो सकता है। भारत के वैदिक आर्य भी सूर्योपासक थे जिसके प्रबल प्रमाण उनके गायत्री आदि मंत्र हैं। उड़ीसा का कोणार्क मंदिर, जो कि १३वीं सदी में बना था,

इसी सूर्योपासना का अवशिष्ट प्रमाण है। काश्मीर में भी भिन्न-भिन्न समयों में जयस्वामिन् तथा मार्त्तंड-मंदिरों के निर्माण से भारत का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

भारत के साथ ही ईरान का प्रभाव भी काश्मीर में सूर्योपासना का कारण हो सकता है। बौद्ध-धर्म की प्रबलता के समय इस देश का मध्य एशिया से घनिष्ठ आदान-प्रदान का संबंध स्पष्ट ही है। किंतु इससे अधिक भारत के सामंजस्यमूलक आर्यधर्म ही का प्रभाव स्पष्ट जान पड़ता है जिसने वैष्णवों के विष्णु, शैवों के शिव, शाक्तों की दुर्गा, गाणपत्यों के गणेश, बौद्धों के बुद्धदेव तथा सूर्योपासकों के सूर्य को एक ही सूत्र में पिरोकर एक सुंदर सामंजस्य की माला विश्व को अर्पित की है।

एक प्राचीन हिंदी समाचार-पत्र

[लेखक—श्री कालिदास मुकर्जी, बी० ए०, एम० आर० ए० एस० लंदन]

हिंदी समाचार-पत्र सबसे पहले कब निकला, इसका पता लगाना कठिन है। पं० रामचंद्र शुक्ल ने, अपने हिंदी-साहित्य के इतिहास में, लिखा है—"संवत् १९०२ में यद्यपि राजा शिवप्रसाद शिक्षा-विभाग में नहीं आए थे पर विद्या-व्यसनी होने के कारण अपनी भाषा हिंदी की ओर उनका ध्यान था। अत: इधर-उधर दूसरी भाषाओं में समाचार-पत्र निकलते देख उन्होंने उक्त संवत् में उद्योग करके काशी से 'बनारस अखबार' निकलवाया"।—(पृष्ठ ४१०) इस कथन का सार, मेरी समझ में तो यह होता है कि दूसरी भाषाओं में संवत् १९०२ के पूर्व समाचार-पत्र थे पर हिंदी में एक भी नहीं था। परंतु प्राचीन पुस्तकों की खोज में मुझे संवत् १८८३ (सन् १८२६) का "उदंत-मार्त्तंड" नामक समाचार-पत्र देखने को मिला है, एवं वह भी एक ही प्रति नहीं क्रमश: ७९ अंक एक पुस्तका-कार में संकलित किए हुए मिले हैं। आलोच्य समाचार-पत्र के अति प्राचीन होने के कारण कीड़ों ने उस पर अपनी असीम कृपा प्रदर्शित कर उसे बहुत कुछ नष्ट कर दिया है। तिस पर भी आधुनिक अवस्था में आलोच्य पत्रिका विशेष उपयोगी है। नीचे उसका परिचय दिया जाता है।

यह पत्रिका कलकत्ता से निकलती थी। पत्रिका के हर एक अंक के अंत में यह लिखा हुआ है, "यह उदंत-मार्त्तंड कलकत्ते के कोल्हू-टोला के अमड़ा-तला की गली के ३७ अंक की हवेली के मार्त्तंड छापा में हर सतवारे मंगलवार को छापा होता है जिनको लेने का काम पड़े वे उस छापा-घर में अपना नाम भेजने ही से उनके समीप भेजा जायगा उसका मोल महीने में दो रुपया। जिन्होंने सही की है जो

उनके पास कागज न पहुँचे तो उस छापेखाने में कहला भेजने ही से तुर्त उनके यहाँ भेजा जायगा।" १५ अंक तक यह इसी प्रकार लिखा हुआ मिलता है, उसके बाद १६वें अंक से मासिक मूल्य "दो रुपया" न लिखकर "अंक दर आठ आना" लिखा हुआ मिलता है। इसके बाद जब हम आलोच्य पत्रिका के संपादक की ओर ध्यान देते हैं तब किसी भी अंक में उनका उल्लेख नहीं मिलता। ४६वें अंक में एक नोट पाया जाता है जिससे आलोच्य-पत्रिका के संपादक श्री युगलकिशोर शुक्ल ठहरते हैं। वह नोट यह है—

To

Juggul Kissore Sookool,
Editor and Proprietor of the
Nagree News Paper called
the Odunta Martunda.

I have been instructed by my client Baboo Bhowany Churn Bannerjee to institute proceedings against you in the Supreme Court of Judicature for the libellous matter contained in your paper the Odunta Martunda of the 27th March last affecting the character and reputation of my client.

I request you will inform me of the name of your Attorney that I may communicate with him accordingly.

Calcutta
5th April 1827

Yours obediently,
R. W. Poe,
Attorney-at-Law

आलोच्य पत्रिका की लेखन-प्रणाली आधुनिक है। पृष्ठ के ऊपर काफी बड़े बड़े अक्षरों में "उदंत-मार्तंड" लिखा हुआ है एवं हर एक अक्षर प्राय: २ इंच है। उसके नीचे मामूली अक्षरों में "अर्थात्" लिखा हुआ है। फिर उसके नीचे, संस्कृत में, "दिवाकांतकांति

विनश्वान्तमन्तं नचाप्नोति तद्वज्जगत्यज्ञलोकः समाचारसेवामृते ज्ञत्वमाप्तुं न शक्नोति तस्मात्करोमीति यत्नं" लिखा हुआ मिलता है; परंतु ३१वें अंक के बाद इस संस्कृत-वाक्य के नीचे यह पद्य लिखा हुआ मिलता है—

"दिनकर कर प्रगटत दिनहिं यह प्रकाश अठ याम।
ऐसो रवि अब उग्यो महि जिहि तेहि सुख को धाम॥
हृतकमलनि विकसित करत बढ़त चाव चित बाम।
लेत नाम या पत्र को होत हर्ष अरु काम"॥

—इसके बाद दो आड़ी लकीरों के बीच पत्रिका का अंक, वार एवं मूल्य लिखा हुआ है; फिर इसके बाद हर एक पृष्ठ दो कालमों में विभाजित किया हुआ है।

जो आलोच्य पुस्तकाकार पत्रिका देखने को मिली है उसके पृष्ठों की लंबाई १ फुट एवं चौड़ाई ८ इंच है। प्रथम पत्रिका का अंक नंबर ४ है एवं अंतिम का ७९। अतएव इसके पूर्व भी ३ अंक और निकल चुके थे जो देखने को नहीं मिले। ७९वें अंक के अंत में एक नोट मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि इस पत्र का उसी अंक में अंत हो गया—फिर आगे नहीं चला। वह नोट इस प्रकार है—

"उदंत-मार्त्तंड की यात्रा

मिती पौष बदी १ भौम संवत् १८८४ तारीख। डिसेंबर सन् १८२७॥

आज दिवस लौं उगचुक्यो मार्त्तंड उदंत।
अस्ताचल कौं जात है दिन कर दिन अब अंत॥"

(इसके नीचे चार चरण और हैं जो नहीं पढ़े जा सके; उन्हें कीड़ों ने बुरी तरह से काटा है) फिर उसके नीचे—

"जब ते या कलकत्ता नगरी में उदंत-मार्त्तंड को प्रकाश भयो तब ते लै आज दिवस लौं काहू प्रकार ते ढाड़स बाँध विद्या के बीज बैबे कों हिंदुस्तानियन के जड़ता के खेत को बहुबिध जोत्यो पहिले तौ ऐसी कठोर भूमि काहे कौ जुतै ताहू पै कोया कष्ट कर जैसो तैसो हर चलाय वा क्षेत्र में गाँठ कौ ब्यु बखेर बड़े यतन से सींच फल लुन्यौ चाह्यो

ता समय लोभ रूपी टाड़ी परि वा खेत के फल फूल पाती सिगरी चरि गई' अब जो फिरि फिरि या नशे छेत्र को गोड़िये तो श्रम ही कै फल फलेगो। .

यहाँ मुरख की मान ज्ञान-चर्चा को बूझै।
हँसी तु अपनी रोक जगत अँधियारो ही सूझै॥
जड़ता जर नशि चल्यौ गात को होयगो पतझर।
काको है प्रतीत बहुरि चलिहै सुख बैहर॥

"प्रथमहि या काज को जा कारण कर्यो ताको विस्तार सभनि को जनावनो उचित है तातें अब कछु मध्यदेशीय भाषा लिखतु हैं

"मध्यदेशीय भाषा

इस उदंत मार्त्तंड के नाँव पड़ने के पहिले पछाँहियों के चित को इस कागज के होने से हमारे मनोर्थ सफल होने का बड़ा उत्सा था इसलिये लोग हमारे बिन कहे भी इस कागज की सही की बही पर सही करते गए पै हमें पूछिए तो इनकी मायावी दया से सरकार अँगरेज कंपनी महाप्रतापी की कृपा-कटाक्ष जैसे औरों पर पड़ी वैसे पड़ जाने की बड़ी आशा थी और मैंने इस विषय में उपाय यथोचित किया पै करम की रेख कौन मेटै तिस पर भी सही की बही देख जी सुखी होता रहा अंत को नटों के से आम दिखाई दिए इस हेत स्वारथ अकारथ जान निरे परमारथ को मान कहाँ तक बनजिए इसलिये अब अपने व्यवसाई भाइयों से मन की बात बताय बिदा होते हैं। हमारे कहे सुने का कुछ मन में लाइयौ जो दैव और भूधर मेरी अंतर व्यथा औ इस पत्र के गुण को बिचार सुध करैंगे तो नेरे ही हैं। शुभमिति॥

लै भाइन ते पान मान ते गृह अपने बस। (दूसरी पंक्ति को, पत्रिका के साथ ही, कीड़ों ने लोप कर दिया)।"

इससे यह विदित होता है कि सरकार से यथोचित आर्थिक सहायता न मिलने से इस पत्रिका को शीघ्र ही लुप्त होना पड़ा। तिस पर भी ४थे अंक से ७९ अंक तक एवं उसके पूर्व के तीन सप्ताह

योग करने से यह साप्ताहिक पत्रिका ३१ मई सन् १८२६ से दिसम्बर सन् १८२७ तक चलती रही। (४थे अंक की तारीख आषाढ़ बदी १ संवत् १८८३। २० जून १८२६ साल भौम है।)

इस लेख का शीर्षक मैंने "एक प्राचीन हिंदी समाचार-पत्र" रखा है, लेकिन यदि उसके बदले "प्रथम हिंदी समाचार-पत्र" रखा जाय तो कुछ अत्युक्ति न होगी। कारण आलोच्य पत्रिका में एक स्थान पर लिखा है, "यह उदंत-मार्त्तंड अब पहिले पहल हिंदुस्तानियों के हित के हेत जो आज तक किसी ने नहीं चलाया पर अँगरेजी ओ पारसी ओ बंगले में जो समाचार का कागज छपता है उसका सुख उन बोलियों के जान्ने ओ पढ़नेवालों को ही होता है। इससे सत्य समाचार हिंदुस्तानी लोग देखकर आप पढ़ ओ समझ लेंय ओ पराई अपेक्षा न करें ओ अपने भाषे की उपज न छोड़ें, इसलिये बड़े दयावान करुणा ओ गुणनि के निधान सबके कल्यान के विषय श्रीमान् गवरनर जेनेरेल बहादुर की आयस से ऐसे साहस में चित्त लगाय के एक प्रकार से यह नया ठाट ठाटा जो कोई प्रशस्त लोग इस खबर के कागज के लेने की इच्छा करें तो अमड़ा-तला की गली ३७ अंक मार्त्तंड-छापाघर में अपना नाम ओ ठिकाना भेजने ही से सतवारे के सतवारे यहाँ के रहनेवाले घर बैठे ओ बाहिर के रहनेवाले डाक पर कागज पाया करेंगे. इसका मोल महीने में दो रूपया औ डाक का महसूल लिया जायगा और यहाँ से बाहिर रहते हैं उनको यहाँ रुपये की मनौती कर देनी होयगी काहे से कि महीने महीने के अंतर रुपये भर पावने की रसीद भेजने में किसी जगह डेढ़ ओ कहीं एक रुपया डाक का महसूल लगेगा ओ कोई कारण पाय करके उसी मध्ये फिर लिखना पड़े तो फिर उतना खरच बैठेगा। इसमें दो रुपये के पटने में दो तीन रुपया मासुल का देना लगेगा इससे यहाँ की मनौती रहने से इतना खरच ओ अबेर ओ कलेश न होयगा। हिंदुस्तानियों के बीच में छापा करावने के लायक काम काज व्यवहार ओ नया कागज ओ नई कोठी यहाँ होय अथवा कुछ माल चोरी हो जाय अथवा कोई बात जो सभों को जनाया

चाहिये श्रो उस बात के काम पड़े पर मन्‌जिल पहुँचाय सकें श्रैसी श्रैसी सच सच खबरें मार्त्तंड छापा में भेजाकर उनके हेत निखरचे छापा हो जायगा"।

आलोच्य पत्रिका में सब प्रकार के समाचार मिलते हैं—बाजार-दर, हिंदुस्तान की एवं विलायती खबरों के साथ साथ नए नए सरकारी कानून एवं गवरनर-जनरल के विचरण एवं स्थान-परिवर्तन सब समाचार पाए जाते हैं। इसके अलावा विज्ञापन भी कम नहीं मिलता। नीचे कुछ समाचार दिए जाते हैं जिससे आलोच्य पत्रिका की भाषा का भी ध्यान हो जायगा—

(१) जैसा करम तैसा फल ॥

सुन्ने में आया कि इन दिनों में टकसाल के किसी के चाकर ने जो उस टकसाल में बहुत दिनों से पलता था एक दिन सोना चुराया सो वहाँ के किसी के हाथों से पकड़ा गया श्रो तुर्त पुलिस में भेजा गया फिर तजवीज भए पर अपने किए का फल पचीस बेंत पाया।

(२) काम में साहबों की भरती

बैपार दफतर से। १७ अगष्ट सन १८२६

मेस्टर जे० डबलिऊ पेक्‌सटन साहिब Mr. J. W. Paxton, बानात गुदाम के भंडारी हुए।

सैन्य दफ़तर से

मेजर वलियम फिंडाल साहिब Major William Fendall गवरनर जेन्‌रेल के यहाँ फौज के सेक्रेटर हुए ॥

दीवानी निजामत दफतर से

मेस्टर डि० मेक्‌फरलन साहिब Mr. D. Macfarlan बाकरगंज के जज श्रो मेजिस्‌टरट हुए। मे० एफ० श्रो० श्रोएल्‌स साहिब Mr. F. O. Wells दिल्ली के दीवानी कमिश्नर के सेक्रेटर हुए॥ मेस्टर जि० जे० टेलर साहिब Mr. G. J. Taylor मकसुदाबाद की दीवानी अदालत के रेजिटर हुए। मेस्टर डबलिउ बि० जेक्‌सन Mr. W B. Jackson बरेली की दीवानी अदालत के दूसरे रेजिस्‌टर हुए।

(३) भरतपुर की खबर।

रानी ने चूरामन फौजदार से कहा कि अगले दिनों से यहाँ की थाती चमारों के अधीन थी सो हुकुम हुआ कि मोचा चमार को इसका पता जाना हुआ है उससे पूछा चाहिए। यह चमार पिछली लड़ाई ही में खप गया पर फौजदार ने कहा कि अैसे अैार भी मिलेंगे कि जिससे इसका पता मिले॥

(४) सदर दीवानी श्रो निजामत अदालत॥

२५ सिपूटंबर सोमवार को यह अदालत चैारंगी से एलेकूजेंडर साहिब कंपनी के दफतरखाने के पूरब जाजेफ श्राट्ट साहिब के घर में उठ आई छ महीने के लिये श्रो जहाँ अदालत थी वह हवेली इस साल मरम्मत होगी॥

(५) घड़ी श्रो घंटे॥

फरासीस की राजधानी में आगे से पेरिस नगर का नाम है कि वहाँ घड़ी बनती है अब परसाल के लेखे से समझ पड़ा कि उस नगर में ५२० आदमी घड़ी के कारीगर हैं अैार उनके साथ २०५६ सहायक हैं ए लोग हर साल ८०००० सोने की घड़ी श्रो ४०००० रुपये की घड़ी श्रो १५०० घंटे बनाया करते हैं इसका मोल सब सुद्धा १०००००० रुपया खड़ा होता है।

(६) श्री श्री तुलसीदास गोस्वामी कृत साते कांड रामायण।

चित्त को बड़ा आनंद होता है कि बजार की तेजी रामउपासकों का रामायण पढ़ना छुड़ाया चाहती थी सो रामचंद्र की कृपा से बाबूराम पंडित के छापे की पोथी से भी उत्तम बड़े श्रो सुंदर अक्षरों में साते कांड रामायण मार्त्तंड छापेखाने में छापी जायगी काहे से कि पहिले श्रीरामलीला छापे के कल में चढ़े कि छपवानेहारे को कल होय श्रो बाँचनेहारों का कल कल मिटे अैार बहुतेरों की यही इच्छा थी कि यही रामायण पहिले छापी जाय।" इस पोथी के लेने में जिसको आनंद उपजे वे सही करने की बही पर सही कर देवें पोथी छप चुकने से पहिले सही करनेवालों को दी जायगी अैार उस अनमोल पदार्थ

की निछावर १२) बारह रुपए कलदार लगेंगे जो आगे पर पोथी सस्ती मिलने के भरोसे सही न करेंगे वे पछतायगे औ बारह का बारह दूना दे जायंगे तब पोथी की झाँकी पावेंगे ॥

(७) अँगरेजों का इस प्रदेश में धर्म संस्थापन वृत्तांत का शेष,

१७३७ साल की ११ व १२ आक्टोबर में इस ओर एक बड़ी तूफान हुई थी और उस समय बड़ा भूचाल होने में गंगातट के बहुत से घर द्वार भी ढह पड़े थे उसी में हुगली के पास के घोल घाट के गाँव में दो सौ घर एकी बेर मिट्टी में मिल गए और अँगरेजी गिरजा भी उसी भूचाल में गिर तो न पड़ा मिट्टी में बैठ गया और उस समय के लोगों ने लेखा किया था कि इसमें समझ पड़ा कि जहाज औ सुलुप औ नाव औ डूँगे बीस हजार से कम न होंगे ए कहाँ गए उसका कुछ ठिकाना उस समय में लोगों को नहीं मिल सका उन दिनों नौ जहाज अँगरेजी सौदागरी के गंगा में खड़े थे वे भी इस आपत्काल में आठ आदमी खलासियों को लेके डूब गए और साठ टन के बोझाई का एक जहाज यहाँ से डेढ़ कोस के अंतर पर सूखे में पड़ा था और तीन बलंदेजी जहाज लदे लदाए बह डूब गए थे और ऊँचे ऊँचे वृक्ष खड़े गिर पड़े और सुन्ने में आता है कि इस आपत्काल में तीन लाख प्राणी का संहार हुआ था और गंगा का जल भी २६ हाथ बढ़ा था इस उपरांत १७५७ साल के जून महीने में कर्णल क्लाईव साहिब ने पलासी की लड़ाई मार के कलकत्ते के इसी नए किले की प्राचीन फोर्ट उइलेम के नाम की नें पर नें डाली और नाम इसका वही रहा ॥

(८) चीन के समाचार ॥

चीन के समाचार से जान पड़ा कि उधर पटने की अफीम कुछ ही न बिकी चीनियों की जँचाई में वह माल लेहाड़ा ठहरा पर बनारसी अफीम अच्छे बढ़भाव बिकी ॥

(९) अनाज की अर्धबती ॥

चावल पटने का दर २॥।≈ ३ गेहूँ दूधिया १॥। २। चना पटनई १॥। २≈ चना चुने २। अरहर की दाल अच्छी २॥

२॥≈ घो गावा २१ २२ गावा घी दोम १५ १६ घो भैंसा चोखा १७ १७॥

सोने का बाजार

पुतलि ५≈)

सोना टकसाल सही भरी द. १५॥≡)

आलोच्य समाचार-पत्र का कुछ दृष्टांत ऊपर दिया गया है। इसके अतिरिक्त "अँगरेजी विलायत की बड़ी सभा", "रंगून की खबर", "जहाज की चोरी", "गवरनर-जेनरेल बहादुर की खबर" आदि बहुत से समाचार छपते थे। उपर्युक्त उदाहरणों से, आशा है, उस समय की भाषा एवं लेख-शैली पर भी हम कुछ कह सकते हैं। "अैसा", "तुर्त", "मनोर्थ", "सुआ" इत्यादि का प्रयोग था एवं उसमें व्रजभाषा की भी कुछ छाप पड़ी हुई थी एवं बँगला की भी कुछ छाप दिखाई पड़ती है; यथा, "इसका मोल **सब सुद्धा**" आदि। लेखन-शैली पर जब ध्यान देते हैं तब अरबी-फारसी के शब्द बहुत कम दिखते हैं, विरामादि चिह्नों का कहीं भी पता नहीं चलता, वाक्य बहुत बड़े बड़े हैं, एवं स्थान स्थान पर रोमन-प्रथानुसार फुलस्टाप (Full stop) का चिह्न (.) मिलता है। "जिससे" के स्थान पर "जिसूसे" मिलता है।

इन सब त्रुटियों के रहते हुए भी आलोच्य पत्रिका को अपने ढंग की प्रथम एवं निराली कहकर बहुत कुछ सांत्वना होती है। लेकिन दुःख के साथ कहना पड़ता है कि अपनी प्रारंभिक अवस्था में ही इस पत्र को काल के गाल में समाना पड़ा। यदि यह कुछ दिन और चलती होती तो इसका मूल्य और भी अधिक होता। अंत में इतना कहकर इस लेख को समाप्त करना है कि सन् १८२६ ई० में हिंदी-समाचार-पत्र का अभ्युदय हुआ। इसके पहले यदि कोई था भी तो उसका पता आज तक नहीं चला है।
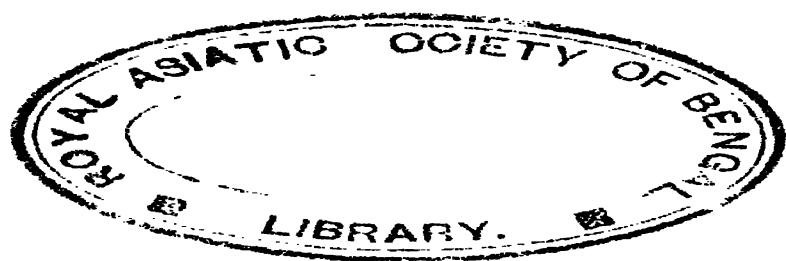
चयन

अफगानिस्तान की प्राचीन संस्कृति

"गुमुरख जाते वक्त हमने एकादमी-अफगान का साइनबोर्ड देख लिया था। इसलिये सोच लिया था कि इससे बढ़कर अधिक सहायक हमारे लिये कोई नहीं हो सकता। एकेडेमी में गए। वहाँ एकेडेमी के कुछ मेंबरों से मुलाकात हुई जिनमें श्री याकूबहसनखाँ से मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। उनसे अफगान की संस्कृति, इतिहास और भाषातत्त्व पर कुछ सरसरी तौर पर बातचीत हुई, 'जिससे पता लग गया कि काबुल भी घर-सा बननेवाला है। जब एकेडेमी के डाइरेक्टर शाहजादा अहमदअलीखाँ दुर्रानी को पता लगा, तो उन्होंने बड़े आग्रह के साथ बुलाया। घंटों बातें होती रहीं; और उस वक्त तक हमें यह नहीं मालूम हो सका कि जिस व्यक्ति से हम बात कर रहे हैं, वह राजवंश से ताल्लुक रखता है। शाहजादा अहमदअली को अपने देश और जाति का बहुत अभिमान है। वे चाहते हैं कि मजहब के कारण अफगानी संस्कृति, उसके इतिहास, उसकी भाषा को जो पीछे ढकेल दिया गया था, उसका प्रतीकार किया जाय; और हर एक पठान के दिल में बामियान, हड्डा, बेगराम से प्राप्त अपने पूर्वजों की उत्कृष्ट कला का अभिमान हो। उसको मालूम होना चाहिए कि आर्यों की सबसे पुरानी पुस्तक ऋग्वेद का बहुत सा प्राचीन और महत्त्वपूर्ण भाग पठानों की भूमि में पठान-दिमाग द्वारा बनाया गया है। पठान कौम ने ही पाणिनि जैसे सर्वोच्च व्याकरणकार को पैदा किया। पठान माताओं ने असंग और वसुबंधु जैसे महान् दार्शनिक पैदा किए, जिनके गंभीर विचारों की छाप भारत के ही सभी दर्शनों में नहीं मिलती और जिनका अनुयायी बनने के लिये चीन और जापान के विचारक ही प्रतियोगिता नहीं करते; बल्कि असंग के योगाचार दर्शन से उत्प्राणित

होकर इसलाम का सूफीमत और ब्राह्मणों का वेदांत बना। अफगान-एकादमी का डाइरेक्टर होने के लिये जैसे दिल और दिमाग की जरूरत है, शाहजादा अहमदअली उसके योग्य हैं। उसके बाद भी मुझे उनसे दो-तीन बार मिलने का मौका मिला; और सांस्कृतिक जिज्ञासा तथा तत्संबंधी खोज के विषय में उनके प्रश्नोत्तर का खात्मा ही न होता था। एकादमी के दूसरे मेंबर सैयद कासिम रस्तिया, जनाब अहमदअली कुहजाद, आदि भी वैसे ही उत्साही स्कालर हैं। एकेडेमी पश्तो-साहित्य के निर्माण और प्रचार की कोशिश कर रही है। पश्तो भाषा की पाठावली बन रही है; और पश्तो व्याकरण को पूरा करने के लिये जबर्दस्त कोशिश हो रही है। इसी संबंध में एकेडेमी 'जेरी' नामक एक पर्चा अपनी ओर से निकालती है। एकेडेमी की कोशिश है कि जहाँ तक हो सके, फारसी अरबी शब्दों की जगह पर पश्तो शब्दों को ही इस्तेमाल किया जाय। हमको यह मालूम है कि पश्तो जाति और भाषा का संस्कृत से मादरी ताल्लुक है। यद्यपि एकेडेमी में संस्कृत जाननेवाला कोई विद्वान् नहीं है, इसलिये वहाँ के पंडितों को अँगरेजी और फ्रांसीसी किताबों से ही मदद लेकर कुछ करना पड़ता है; लेकिन उनकी बड़ी इच्छा है कि उनके कार्य-कर्त्ताओं में कोई संस्कृतज्ञ भी हो। मैंने कहा कि आप किसी होनहार नौजवान को संस्कृत पढ़ने के लिये बनारस भेजें।

श्री याकूबहसनखाँ अफगानिस्तान की हिंदू-आर्य-भाषाओं की खोज के संबंध में बड़ा काम कर रहे हैं। उन्होंने काबुल से निकलनेवाले 'सालनामा काबुल' (१९३४-३५) में 'तारीख जबानहा दर अफगानिस्तान' (पृष्ठ ११९ से १५२ तक) नाम से एक विद्वत्तापूर्ण लेख लिखा है। महायुद्ध के समय लाहौर के कालेजों के कुछ लड़के छिपकर हिंदुस्तान से भाग निकले थे। उस वक्त अखबारों में उनकी बहुत चर्चा हुई थी। याकूबहसन उन्हीं नौजवान विद्यार्थियों में से एक थे। काबुल में रहते उनको २२ साल हो गए। वह अफगान प्रजा हैं; लेकिन अपने देश के साथ उनका अत्यंत प्रेम है। भाषा-

संबंधी खोजों से उनको पता लगा कि अफगानिस्तान की भाषाओं और जातियों का इतिहास भारत के साथ घनिष्ठ संबंध रखता है। तब से उनका उत्साह और भी बढ़ गया है। वैज्ञानिक खोजों में भी उनमें मातृभूमि की सेवा का भाव आ जाने से अपने काम में बड़ी सरसता मालूम होती है। यह मुसलमान हैं; और अपने धर्म को मानते हैं, लेकिन साथ ही वह यह भी अच्छी तरह समझ गए हैं कि जातीयता, संस्कृति, भाषा इन पर मजहब को दखल देने का कोई अख्तियार न होना चाहिए। मजहब बदलने से जाति नहीं बदल सकती। उन्होंने अफगानिस्तान की पश्तो, नूरिस्तानी (लाल काफिरी), पशाई, शगनी, उरमुड़ी, प्राची, बिलोची आदि भाषाओं की बहुत खोज की है, और उनकी खोज अब तक जारी है। वैसे मैं दो-तीन दिन बाद ही काबुल से चला आता, लेकिन याकूबहसनखाँ के आग्रह और दिलचस्पी को देखकर मुझे कुछ दिन और वहाँ ठहर जाना पड़ा। मैंने उन्हें अफगानिस्तान की हिंदू-आर्य भाषाओं, विशेष कर पश्तो, नूरिस्तानी, पशाई और प्राची के प्रधान और स्थानीय बोलियों पर उच्चारण और सुब्-तिङ् प्रत्यय के अनुसार नक्शों के साथ सुविस्तृत खोज करने का परामर्श दिया, और साथ ही हिंदू-आर्यों के विस्तार के बारे में एक नक्शा* बना दिया, जिससे मालूम हो कि किस काल में किस स्थान पर वे रहते थे और क्या व्यवसाय करते थे।

---

*	काल (ई० पू०)	वासस्थान	व्यवसाय
हिंदू-यूरोपीय			
केंटम्, शतम्	३०००	बालतिक-वोल्गा	पशुपालन
(शतम् →) लिथुअन-स्लाव, हिंदू-ईरानी	२५००	कालासागर-उराल	पशुपालन
(हिंदू-ईरानी →) ईरानी, हिंदू-आर्य	२०००	हिरात्-पामीर	कृषि
,,	१५००	वंक्षु-स्वात	कृषि
,,	१२००	हिंदूकुश-ऊपरी सिंधु,	कृषि

शुक्र (५ फरवरी) को तातील थी, इसलिये काबुल म्यूजियम देख नहीं सकते थे। एकेडेमी के इतिहास-विभाग के स्कालर अहमद-अलीखाँ ने कहा—फ्रेंच दूतावास के मोशिए मोनिए को लेकर म्यूजियम देखना अच्छा होगा। वह कई जगह की खुदाइयों में रहे हैं। मोशिए मोनिए बड़ी खुशी से हमारे साथ चलने के लिये तैयार हो गए, और उन्हीं की मोटरकार पर हम लोग दोपहर को 'मूजी काबुल' पहुँचे। म्यूजियम शहर से बाहर दारुलअमान में है। शाह अमानुल्ला यहाँ पर एक नया नगर बसाना चाहते थे। म्यूजियम के सामने उनका बनवाया महल अब भी मौजूद है, लेकिन खाली पड़ा है। कितनी ही और इमारतें उस वक्त बनवाई गई थीं, जिनको दफ्तर तथा दूसरे कामों के लिये इस्तेमाल किया जाता है। विश्व-विद्यालय भी इधर ही क़ायम होने जा रहा है। नई सरकार ने अमानुल्ला के इस नए नगर की योजना को छोड़ नहीं दिया है, वस्तुत: शाह नादिर और उनके पुत्र शाह जाहिर की हुकूमतों ने अमानुल्ला की किसी भी राजनीतिक, सामाजिक योजना को अग्राह्य नहीं बनाया। फर्क़ इतना ही है कि जिन बातों से पठानों के धार्मिक विश्वासों पर सीधी ठोकर लगती थी, उनको स्थगित या धीरे से करना शुरू किया है। अफगानी फौज और सेनापतियों की पोशाक बिलकुल यूरोपीय ढंग की है। दूसरे अफसर भी प्राय: सारे ही टाई, कोट, पतलून पहनते हैं और पगड़ी की जगह अफगानी टोपी लगाते हैं। ऊँची दीवार की बाल निकली यह टोपी तो रूस में भी बहुत अधिक पहनी जाती है। हाँ, हैट लगाने में कुछ हिचकिचाहट आ गई है; लेकिन स्कूल के लड़कों की पोशाक में छज्जेदार टोपी अनिवार्य है। दूसरे लोग भी शाम के वक्त अक्सर फ्रेंच ढंग की गोल टोपी

हिंदू आर्य	११००	हिंदूकुश-ऊपरी गंगा,	उद्यान
,,	९००	हिंदूकुश-नर्मदा-गंडक	
,,	७००	हिंदूकुश-कोंकण-गंगाद्वार	
,,	५००	हिंदूकुश-लंका-आसाम	
,,	३००	हिंदूकुश-बर्मा-सुमात्रा	

पहनते हैं। वजीर और सेनापति तक कभी कभी हैट पहनकर निकलते हैं। स्त्रियाँ आम तौर से सड़कों पर नहीं दिखाई पड़तीं; और जो दिखाई पड़ती भी हैं, वह बुरके में; लेकिन मुझे मालूम हुआ कि औरतें घरों के भीतर अपरिचित से भी परदा नहीं करतीं। अपनी ईरानी बहनों की तरह इन्होंने भी यूरोपीय पोशाक धारण कर ली है; और बहुतों ने बाल भी कटा लिए हैं। लोग बतला रहे थे कि शाह अमानुल्ला के शासन के अंतिम बरसों में पर्दा काबुल में बिलकुल टूट गया था; औरतें खुलेआम सड़कों पर पश्चिमी पोशाक पहने बे-नकाब घूमती थीं।

म्यूजियम (जादूघर) एक दोतल्ला खूबसूरत इमारत में है जो दो ही साल पहले बनकर तैयार हुई है। अमानुल्ला के समय में फ्रेंच मिशन ने हड्डा में खुदाई की थी, और वहाँ बहुत सुंदर सुंदर चूने आदि की बनी मूर्त्तियाँ मिली थीं। मैंने उन मूर्तियों के कुछ हिस्सों को पेरिस के मूजी-ग्यूमे में देखा था। उनके काफी भाग काबुल में उस समय की म्यूजियम की इमारत में रखे हुए थे। जब काबुल पर बच्चा-सक्का का अधिकार हो गया, तो मजहब के दीवानों ने कला के उन उत्कृष्ट नमूनों पर भी हाथ साफ किया। हम लोग पहले उस कमरे में गए, जिसमें हड्डा की मूर्तियाँ हैं। सैकड़ों चेहरे मौजूद हैं। इन चेहरों के बनानेवालों ने भाव-चित्रण और जातीय विशेषता के साथ रेखांकन में कमाल कर दिया है। कोई दो चेहरा एक तरह का नहीं है। मैंने अपने दोस्त से इन चेहरों की तारीफ़ की, और यह भी कहा कि यह इतनी बड़ी संख्या में मौजूद हैं। अहमदअली साहब ने कहा—हड्डा के चित्रों की तो एक बड़ी भारी राशि थी। अगर आप सबको देख पाते तो और भी आश्चर्य करते। अधिक संख्या को तो कला के दुश्मनों और राष्ट्र के शत्रुओं ने नष्ट कर दिया है। मैंने पूछा—ये कैसे बच गए? जवाब मिला—इतना भारी संग्रह था, कि एक एक को तोड़ने में वे असमर्थ थे। बीसवीं सदी की इस बर्बरता को सुनकर रोंगटे खड़े हो गए। हड्डा के संग्रह में एक पत्थर पर बीच में मैत्रेय और आस-पास

कुछ और मूर्तियाँ उत्कीर्ण थीं। मैंने देखा मैत्रेय के दाहिने बाएँ जो स्त्री-पुरुषों के आकार बने हैं, उनमें फर्क है। गौर से देखने पर मालूम हुआ कि एक ओर शक स्त्री-पुरुष टोपी, जामा और पाजामे में हैं, दूसरी ओर के स्त्री-पुरुष और बच्चे की वेशभूषा उनसे बिलकुल भिन्न है। सीधे-सादे पाजामे की जगह गोल फूला-सा सुन्दर उन्होंने पहन रक्खा है। वही सलवार जिसे पठान स्त्री-पुरुष आज भी पहनते हैं। उनके कानों और कंठ में भारतीय ढंग के आभूषण हैं। मैंने अपने साथियों का ध्यान उस ओर आकर्षित करते हुए कहा—यह देखिए, १७०० वर्ष पूर्व के पठान दंपती खड़े हैं। अहमदअली साहब बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि इतने दिनों से ये मूर्तियाँ यहाँ थीं, और उन्होंने उन्हें नहीं पहचाना। ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी में भी पठान स्त्री-पुरुष सलवार पहनते थे। यह इस गांधार प्रस्तर-शिल्प के नमूने ने सिद्ध कर दिया।

दूसरी जगह बामियाँ की दीवारों पर उत्कीर्ण चित्रों की कुछ नकलें देखीं। बामियाँ के पर्वत-गात्र में उत्कीर्ण सैकड़ों फीट ऊँची बुद्ध-मूर्तियाँ अपनी विशालता के लिये संसार में प्रसिद्ध हैं। दूर दूर से लोग बामियाँ को देखने आते हैं और निर्माताओं के श्रम, कला-नैपुण्य और हिम्मत की दाद देते हैं। आज के अफगान भी अपने पूर्वजों की इस कृति पर अभिमान करते हैं। बामियाँ के मूर्तियों के गवाक्षों और भीतों में सुंदर रंगीन चित्र थे, वैसे ही जैसे कि अजंता में पाए जाते हैं। लेकिन इनका अधिकांश भाग नष्ट हो चुका है। कहीं कहीं ऊँचे गौखों में कुछ चित्र बच गए हैं, और उनकी नकल करवाई गई है। काबुल आर्टस्कूल के विद्यार्थियों को यह चित्र वैसे ही इंसपीरेशन (मानसिक प्रेरणा) देते हैं, जैसे भारतीय कला के विद्यार्थियों को अजंता के चित्र। मैंने देखा, कितने ही खंडित चित्रों का प्रतिचित्रण विद्यार्थी कर रहे थे, और कितनों के खंडित अंश को अपने मन से पूरा कर दिखाने की कोशिश कर रहे थे। बामियाँ के विशाल बुद्ध-रूपों का निर्माण ईसा की पहली शताब्दी में सम्राट् कनिष्क और उनके उत्तराधिकारियों

ने कराया था। कपिशा-उपत्यका के स्याहगिर्द (शाहगिर्द) स्थान से मिली कुछ मिट्टी की रंगीन मूर्तियाँ रखी थीं। रेखांकन, आभूषण आदि में यह मध्यकालीन भारतीय मूर्तियों जैसी हैं। एक जगह पचासों स्त्री-मूर्तियों के सिर रखे थे। इनमें पचासों प्रकार से केशों को सजाया गया था; और कुछ सजाने के ढंग तो इतने आकर्षक और बारीक थे कि मोशिए मोनिए कह रहे थे—इनके चरणों में बैठकर पेरिस की सुंदरियाँ भी बाल का फैशन सीखने के लिये बड़े उल्लास से तैयार होंगी। उस वक्त यंत्र से बालों में लहर डालने का ढंग मालूम नहीं था, फिर न मालूम कैसे उस वक्त की स्त्रियाँ ऐसी विचित्र और बारीक लहरें बनाने में समर्थ होती थीं।

एक कमरे में बेग्राम-बुलंद शहर की खुदाई में प्राप्त चीजें रखी हुई थीं। बेग्राम कपिशा (कोह-दामन) उपत्यका के प्राचीन नगर का खंडहर है। पुरातत्त्वज्ञों का अनुमान है कि यहीं पर कनिष्क की दूसरी राजधानी थी। खंडहर मीलों तक चला गया है। खुदाई अभी थोड़ी सी जगह में पहली ही बार शुरू हुई है; और उसमें प्राप्त चीजों को देखकर दंग रह जाना पड़ता है। खुदाई अफगान सरकार की आज्ञा से फ्रेंच मिशन करवा रहा है और जो चीजें प्राप्त होती हैं, उनको दोनों बाँट लेते हैं। इस प्रकार जितनी चीजें हमने म्यूजियम में देखीं, वे अफगान सरकार के भाग की हैं, फ्रेंच-मिशन ने अपने हिस्से को मूजी-ग्यूमे (पेरिस) में रखा है। शीशे के अंदर हाथी-दाँत पर उत्कीर्ण मूर्तियाँ देखकर मैं तो चकित हो गया। ये मूर्तियाँ ठीक वैसी ही हैं, जैसी साँची की। इसमें वही मौर्य-शुंगकालीन चेहरे-मोहरे, वही वस्त्राभूषण और वही शरीर के अंकन का ढंग पाया जाता है। हाथी के दाँत की चीजों का आधा भाग ही हमारे सामने था। पेरिस में गए दूसरे भाग को हमने नहीं देखा, लेकिन हम निस्संकोच कह सकते हैं कि यह साँची, भरहुत या इसी तरह के किसी दूसरे मौर्य-कालीन स्तूप और उसके प्रस्तरशिल्प की नकल है। बहुत संभव है कि साँची, भरहुत और बुद्ध-गया के दृश्यों से यदि बारीकी के साथ

मिलान किया जाय, तो मूल का पता लग जाय। यह भी संभव है कि उस तरह का कोई स्तूप अफगानिस्तान ही में रहा हो, क्योंकि अफगानिस्तान भी तो मौर्य-साम्राज्य के अंतर्गत था। हाँ, वैसे वस्त्र, गर्म जगहों में पहने जा सकते हैं। अफगानिस्तान जैसी सर्द जगह में इतने कम वस्त्रों में काम नहीं चल सकता। हाथी-दाँत पर क्यों किसी पुराने स्तूप की नकल की गई? पवित्र देवालयों और स्तूपों की नकल करने की प्रथा हम तिब्बत में प्राप्त कुछ नमूनों से जानते हैं। वहाँ नर्थङ् मठ में मैंने ख़ुद बुद्ध-गया के मंदिर को उसके प्राकार, तीनों फाटकों और भीतर के बहुत से स्तूपों और अशोक-कालीन कठघरे के साथ पत्थर और लकड़ी के दो नमूनों के रूप में पाया। यह नमूना बारहवीं सदी में बना था। बेग्राम में प्राप्त नमूना चौथी सदी के पीछे का तो हो नहीं सकता। बहुत मुमकिन है कि वह उससे दो-तीन सदी और पहले बना हो। ये चीजें बेग्राम के जिस खँडहर में मिलीं, वह किसी संपन्न बौद्ध गृहस्थ का घर था। हाथी के दाँत के चित्र तीन बक्सों में मिले थे। इनमें हथेली से कुछ कम बड़े हाथी के दाँत के फलक पर दो स्त्री-चित्र अंकित हैं। ये उत्कीर्ण नहीं हैं; इनमें सिर्फ बारीक रेखाएँ ही खोदी गई हैं। संभव है, शुरू में इनपर रंग भी रहा हो; और १५ सदियों से जमीन के अंदर दफन रहने के कारण वह उड़ गया हो। इन चित्रों में अजंता के उत्कृष्ट स्त्री-चित्रों का पूर्वाभास मिलता है। मैंने कहा—ऐसी अनमोल निधि का परिचय तो बाहर के विद्वत्समाज को तुरंत मिलना चाहिए था। अफगानिस्तान में यह तो अद्भुत चीज मिली है। ऐसी चीज है, जिसकी श्रेणी की वस्तुएँ हिंदुस्तान में भी बहुत कम मिली हैं और हाथी-दाँत की इतनी सुंदर कला तो कहीं अब तक नहीं मिली थी। मुझे याद आया कि साँची के एक तोरण-द्वार पर दाताओं का नाम 'विदिशा के दंतकार' लिखा गया है। उस लेख से मालूम होता है कि हाथी के दाँत पर काम करनेवाले उस समय काफी संख्या में रहते थे और उनका पेशा इतना चला हुआ था कि वे काफी धन-संपन्न थे तभी तो वे साँची के उस

पाषाण-तोरण जैसी एक इमारत बनाने में समर्थ हुए। मुमकिन है, आगे या पीछे इन दंतकारों ने साँची के नयनाभिराम स्तूप को हाथी-दाँत पर उतारा हो।

बेग्राम की खुदाई में १॥ हाथ लंबी लकड़ी की गंगा-जमुना की मूर्तियाँ मिली हैं। इनकी बनावट गुप्त-कालीन या कुछ पीछे की-सी मालूम होती है। लकड़ी यद्यपि बहुत जगह सड़-गल गई है, लेकिन तो भी स्त्री-आकार और मगर (गंगा-वाहन) और कछुए (यमुना-वाहन) का ढाँचा साफ दिखलाई पड़ता है। बेग्राम के उसी धनिक के घर से बहुत से काँच के मद्यपात्र और पान-चषक मिले हैं। इन काँच के बर्तनों में से कितने ही रूम और यूनान तक से आए होंगे। उनकी सुंदर बनावट ही चित्ताकर्षक नहीं है; बल्कि उनके देखने से यह भी मालूम होता है कि कापिशायिनी सुरा अपने स्वाद और रंग ही के लिये प्रसिद्ध नहीं थी, बल्कि उसके रखने और पीने के पात्र भी बड़े नफीस होते थे। कपिशा को पाणिनि ने एक नगर के नाम के तौर पर लिखा है; और वह कपिशा नगर यही होगा, जहाँ पर कि आज बेग्राम का खँडहर मौजूद है। कपिशा कब नष्ट हुई ? मुसलमानों के अफगानिस्तान पर आरंभिक आक्रमण के समय (नवीं-दसवीं शताब्दी)। तो यहाँ कोई इतना बड़ा शहर सुनने में नहीं आता। ह्वेन्-च्वाँग और फाह्यान के समय में शहर जरूर था, लेकिन उन्नतावस्था में था या अवनतावस्था में, इसका पता नहीं लगता। बहुत संभव है कि कपिशा का संहार पाँचवीं सदी में हूणों ने किया हो, जिनके ही हाथ से तक्षशिला का अंतिम संहार हुआ। हूणों का आक्रमण अचानक हुआ था और उन्होंने नगरों को भस्म नहीं किया था बल्कि इतना भीषण नर-संहार किया था कि शहर के शहर खाली हो गए थे। ऐसी अवस्था में लोग घर की सारी चीजों को लेकर न भाग सकते थे, और न पीछे से आकर उन्हें सँभाल सकते थे। इसी लिये कपिशा के खँडहरों से उस समय के रहन-सहन, पूजा-अर्चा आदि के संबंध की बहुत-सी चीजें मिलने की आशा है। बेग्राम काबुल से ४० मील पर है।

× × × ×

श्री याकूबहसनखाँ ने यद्यपि नियम से भाषा-तत्त्व का अध्ययन नहीं किया है, और उन्होंने संस्कृत भी नहीं पढ़ी है, लेकिन उनमें प्रतिभा है। पंजाबी, हिंदुस्तानी, पश्तो और फारसी का अच्छा ज्ञान होने से भाषाओं की समानता और असमानता पर उनका काफी ध्यान आकर्षित हुआ है। इसी से वह भाषा-तत्त्व-संबंधी खोज में लगे। मेरे वहाँ रहने के समय का उन्होंने अच्छा उपयोग किया। उन्होंने हजारों पश्तो शब्दों के संस्कृत प्रतिशब्द मुझसे पूछे। पश्तो को कुछ लोग खींच-तानकर फारसी से मिलाना चाहते थे; लेकिन याकूबहसन खाँ ने पंजाबी, हिंदुस्तानी तथा कुछ यूरोपीय विद्वानों के संगृहीत शब्दों का सादृश्य दिखलाकर पश्तो का संस्कृत से संबंध साबित किया। हम दोनों ने जो इधर संस्कृत से पश्तो को मिलाना शुरू किया, तो यह स्पष्ट हो गया कि पश्तो संस्कृत-वंश की भाषा है। उसके उच्चारण में और कुछ शब्द-कोष में भी फारसी की छाप पड़ी है, लेकिन संस्कृत की अपेक्षा वह नगण्य है। आ् का फारसी में आब् हो जाता है; और पश्तो में उसी का ओबा; लेकिन पश्तो में ऐसे शब्दों की अधिकता पाई जाती है जिनका सादृश्य फारसी में न मिलकर संस्कृत में ही मिलता है। जैसे संस्कृत में पानी के लिये आनेवाला शब्द 'वारि' पश्तो में 'वाल' है और संस्कृत 'तोय' तो 'तोय' ही रह जाता है। कितने ही वैदिक शब्दों का प्रयोग भी पश्तो में मिलता है। जैसे 'गिरिश' का 'ग़रसै' (गिरि में रहनेवाला) 'अपसा' का 'ओसै' (पानी में रहनेवाला)। एक दिन याकूबहसन साहब ने काबुल के पास की एक पहाड़ी 'जम्‌ग़र्' के नाम के बारे में कहा—यह शब्द अरबी-फारसी का नहीं है। 'गिरि' का 'ग़र्' हो जाता है और जम् का भी कोई संस्कृत प्रतिशब्द होना चाहिए। मैंने ज्योतिषियों और सयानों की भाषा में कहना शुरू किया—'यह पहाड़ काबुल शहर के दक्खिन ओर है ?' जवाब मिला—'हाँ'

"उसके पास कब्रिस्तान है ?"

"हाँ !"

हमारे दोस्त को आश्चर्य होने लगा कि मुझे यहाँ तक कैसे मालूम हो गया। मैंने कहा—आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। ज्योतिष और भूत-प्रेत में हमारा विश्वास नहीं है। हम देखना चाहते थे, कि क्या हम जमू शब्द को संस्कृत 'यम' से बदल सकते हैं ? यम मृत्यु का देवता है। उसकी दिशा दक्षिण है; और हिंदुओं के शहरों और गाँवों में मरने के बाद मुर्दों को जिस मरघट में जलाया जाता है, वह शहर से दक्षिण ओर ही रहता है। यह देखा गया है, कि जातियों ने अपना धर्म छोड़कर ऐसे धर्म को अपनाया, जो उनके इतिहास, संस्कृति—सभी चीजों से उलटा है; लेकिन तब भी दो बातों को वे नहीं छोड़ सकीं। एक तो अपने पुनीत स्थान (देवालय, मठादि के स्थान) की पवित्रता और सम्मान। मंदिर, मठ अपने पूर्व रूप में नहीं रहे; लेकिन वही स्थान मसजिद, रौजा या जियारत के रूप में पूजा जाने लगा। दूसरी बात जो वह नहीं छोड़ सकीं, वह यही मरघट है। उन्हीं पुराने मरघटों को इसलाम स्वीकार करने पर कब्रिस्तान के रूप में बदल दिया गया। इस प्रकार आपका जमूगर् यमगिरि है।

पठानों के एक कबीले को 'सड़वन' कहते हैं। प्रश्न था, इसका क्या अर्थ हो सकता है ? पूछने पर मालूम हुआ, सड़ शर या सरकंडे को कहते हैं और 'वन'=वाला को। मैंने कहा—यह शरवत् हो सकता है। अंबाला जिले में बहनेवाली घग्घर नदी पुराने समय में शरावती कही जाती थी; और वही प्राची (पूर्व के मुल्क युक्तप्रांत और बिहार) और उदीची (पंजाब) को अलग करती थी। इसी का दूसरा नाम सरस्वती भी मिलता है। गोत्रों की सूची ढूँढ़ने से शरद्वत और सारस्वत दो नाम हमें इसी अर्थ के द्योतक मिलते हैं। इस प्रकार जान पड़ता है कि सड़वन् ग़रग़श्त (गिरिगत) पठान वंश की भ्रातृ-शाखा सारस्वत या शरद्वत हो सकती है। सुलेमान-पर्वत पर बसने के कारण शायद एक शाखा को 'गर्गश्त' कहा गया।

भाषा-तत्त्व, वैदिक-इतिहास और मानव-तत्त्व की गवेषणा के लिये अफगानिस्तान एक बड़ी खान है और यह एक बड़े संतोष की बात है कि आज शिक्षित पठान-समाज इस तरह की खोजों में बड़ी दिलचस्पी ले रहा है; और मजहब तथा संस्कृति को एक दूसरे के क्षेत्र में नाजायज दखल देने को गवारा नहीं करता।"

—'सोवियत भूमि' से।

क्या प्रस्तावों द्वारा हिंदी का काया-कल्प हो सकता है?

उपर्युक्त शीर्षक से डा० धीरेंद्र वर्मा का एक विचारपूर्ण लेख साप्ताहिक 'राष्ट्रमत' के वर्ष १, अंक १६ में प्रकाशित हुआ है। वह यहाँ अविकल उद्धृत है—

जब से १०, १२ करोड़ की साहित्यिक भाषा हिंदी के भारत-राष्ट्र-भाषा अर्थात् अँगरेजी के समान चंद लाख लोगों की अंतर्प्रांतीय भाषा बनने का प्रश्न उठा है तब से लोगों को हिंदी में अनेक त्रुटियाँ दिखलाई पड़ने लगी हैं। इनमें मुख्य व्याकरण-संबंधी त्रुटियाँ हैं—विशेषतया लिंग-संबंधी। इन सुधार-आयोजनाओं पर कुछ व्यक्तियों तथा संस्थाओं द्वारा गंभीरतापूर्वक विचार हो रहा है। हिंदी-भाषियों की साहित्यिक संस्थाओं के सूत्रधार प्रायः राजनीतिक क्षेत्र में कार्य करनेवाले हैं अतः यह स्वाभाविक है कि उस क्षेत्र के अपने अनुभव को ये महानुभाव साहित्य तथा भाषा पर भी घटित करना चाहते हैं। उनकी धारणा है कि आंदोलन तथा प्रस्तावों के द्वारा वे भाषा के प्रवाह को भी जिधर चाहें मोड़ सकते हैं। वास्तव में यह भारी भ्रम है। सभा-सम्मेलनों के प्रस्तावों के बल पर हिंदीभाषा के रूप को बदलने में किस प्रकार की कठिनाइयाँ पड़ेंगी, उनका दिग्दर्शन बहुत संक्षेप में नीचे कराया जाता है।

साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति अपनी मातृभाषा को अनुकरण के द्वारा सीखता है, व्याकरण के सहारे नहीं। तीन वर्ष का भा

हिंदी-भाषी बालक शुद्ध हिंदी बोल लेता है किंतु वह यह भी नहीं जानता कि संज्ञा और क्रिया में क्या भेद है अथवा उसकी मातृ-भाषा में कितने लिंग या वचन होते हैं। फलत: हिंदी भाषा में लौट-पौट करने के प्रस्ताव ९९ प्रतिशत हिंदी-भाषियों तक नहीं पहुँच सकेंगे, न वे उन्हें समझ ही सकेंगे। यदि 'सुधरी हुई' हिंदी में कुछ किताबें निकाली गईं और हिंदी-भाषी बच्चों को जबरदस्ती पढ़ाई गईं तो सर्व-साधारण द्वारा बोली जानेवाली हिंदी और इस सुधरी हुई हिंदी में संघर्ष होगा। क्योंकि हिंदीभाषी बालक अपनी भाषा को पुस्तक पढ़ना सीखने से पहले ही सीख चुकता है अत: वह इस सुधरी हुई किताबी हिंदी से सहसा प्रभावित नहीं हो सकेगा। हिंदी के वर्त्तमान स्थिर रूप के संबंध में एक भारी गड़बड़ी अवश्य पैदा हो सकती है।

व्याकरण की पुस्तकों के सहारे हिंदी सीखनेवाले अन्यभाषा-भाषियों को हिंदी के नाम से अवश्य कोई भी भाषा सिखलाई जा सकती है। ऐसी परिस्थिति में वास्तविक हिंदी तथा इस सुधरी हुई राष्ट्रभाषा अथवा हिंदी-हिंदुस्तानी में भारी अंतर हो जावेगा जिससे हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के स्वप्न में सहायता के स्थान पर हानि पहुँचने की अधिक संभावना है। अन्यभाषाभाषी यह कह सकते हैं कि आपकी भाषा का कोई निश्चित रूप ही नहीं है—कुछ पुस्तकों में एक भाषा है, कुछ में दूसरी, तथा बोलनेवाले भिन्न भाषा बोलते हैं। इनमें से हिंदी किसको माना जावे?

इन कठिनाइयों के अतिरिक्त प्राचीन तथा अब तक के प्रकाशित हिंदी-साहित्य की भाषा में और इस सुधरी हुई हिंदी में भी संघर्ष उपस्थित होगा। उदाहरणार्थ या तो सूर, तुलसी और केशव के लिंग के प्रयोगों को ठीक किया जावे तथा भारतेंदु, द्विवेदीजी, गुप्तजी, प्रेमचंद, प्रसाद, उपाध्यायजी आदि के ग्रंथों के नए संशोधित संस्करण निकाले जावें, अथवा हिंदी के दो रूप माने जावें—एक सुधारकों से पूर्व के साहित्य का तथा दूसरा सुधार-युग के बाद के साहित्य का। यह हिंदी भाषा को सरल करना तो नहीं ही हुआ, इतना निश्चित है।

एक बात और चिंत्य है। हिंदी को राष्ट्र-भाषा बनाने में बहुत अधिक सहायता उर्दू के प्रचार के कारण मिल रही है। मुसलमानों के प्रभाव के साथ साथ उर्दू दक्षिण में हैदराबाद तक पहुँच गई; उत्तर भारत के समस्त नगरों में और कस्बों में इसका प्रचार था ही। वर्तमान हिंदी और उर्दू के व्याकरणों का ढाँचा लगभग समान है। किंतु सुधार हो जाने पर खड़ी-बोली हिंदी और उर्दू में भाषा की दृष्टि से भी भेद हो जावेगा। उर्दू वर्ग इन सुधारों को मानने से रहा। ऐसी अवस्था में हिंदी का पक्ष और भी अधिक निर्बल हो जावेगा—हिंदी-हिंदुस्तानी; उर्दू-हिंदुस्तानी निकट आने के स्थान पर एक दूसरे से दूर हो जावेंगी।

यहाँ यह स्मरण दिला देना आवश्यक है कि भाषा के रूप में परिवर्तन करना एक बात है और अक्षर-विन्यास आदि में एकरूपता लाने का प्रयास दूसरी बात है। 'हुये' कैसे लिखा जावे? 'हुए' या 'हुये'। कारक-चिह्न संज्ञा तथा सर्वनाम के साथ लिखे जावें या पृथक्? 'धर्म', 'कर्म', 'आर्य' आदि में दो व्यंजन रहें या एक? इस तरह की स्थिरता लाना साहित्यिक भाषा में अनिवार्य है तथा संभव है। हिंदी की लेखन-शैली में तथा व्याकरण-संबंधी रूपों में भी जहाँ एक से अधिक रूप प्रचलित हैं (उदाहरणार्थ दही अच्छा है, अच्छी नहीं) उनमें भी एकरूपता लाई जा सकती है और उसके लाने का प्रयास करना चाहिए। किंतु 'बात', 'रात' आदि समस्त अकारांत अप्राणिवाचक शब्द पुल्लिंग कर दिये जावें जिससे 'बात अच्छा है' और 'रात हो गया' जैसे प्रयोग आदर्श हिंदी समझे जावें या ऐसे प्रयोगों को भी ठीक समझा जावे, इस प्रकार के प्रस्ताव भाषा के रहस्य को न जाननेवाले ही कर सकते हैं। इस प्रकार के उद्योगों का परिणाम कुछ समय के लिये अव्यवस्था उपस्थित करके हिंदी की बाढ़ को रोक देने के सिवा और कुछ नहीं हो सकेगा। यों समुद्र की लहरों को रोकने का प्रयास करनेवाले राजा कैन्यूट भाषा के क्षेत्र में भी प्राचीनकाल से होते चले आए हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे।

पहाड़पुर, (बंगाल) में महत्त्वपूर्ण शोध

भारतीय पुरातत्त्वविभाग के प्रधानाध्यक्ष रावबहादुर श्री काशीनाथ दीक्षित ने हाल में बंगाल के पहाड़पुर की खुदाई का विवरण प्रकाशित किया है, जिससे हमें अनोखे चौमहले मंदिर और एक बहुत बड़े विहार की सूचना मिलती है। पहाड़पुर का टीला प्राय: २० वर्ष से पुरातत्त्व विभाग के संरक्षण में था और पहली खुदाई वहाँ १६ वर्ष पूर्व हुई थी। वह पहाड़-सा टीला, जिसके कारण उस स्थान का नाम पहाड़पुर पड़ा है, सदा आकर्षक रहा होगा। किंतु किसी को भान न था कि इसके अंतर से भारत के विशालतम कीर्ति-चिह्न का शोध होगा। इस शोध के विवरण से बंगाल की कला और संस्कृति के इतिहास में एक नया और महत्त्वपूर्ण अध्याय तो जुड़ जाता ही है, बर्मा, जावा तथा मलाया द्वीपों के विशेष स्थापत्य के लुप्त पूर्वसूत्र का पता लग जाता है।

मंदिर के मध्य में चौकोर देवस्थल है। यह चारों ओर से निकला हुआ और चौमहला है, जिस प्रकार के मंदिर बर्मा, जावा आदि में प्राय: पाए जाते हैं। मंदिर के अधोभाग की प्रस्तरमूर्तियों से ईसा की छठी से सातवीं शताब्दी के मध्य की नई मूर्ति-कला का परिचय मिलता है। यह आश्चर्यजनक है कि इस मंदिर में, जिसे ईसा की आठवीं शताब्दी में पालसम्राट् धर्म्मपाल द्वारा निर्मित बौद्ध विहार समझना चाहिए, मुख्यत: ब्राह्मण मूर्तियों की यह माला भित्तियों में ऐसे सुरक्षित रूप में उपलब्ध हुई है। यहाँ कृष्ण-राधा की बाललीला के मौलिक निरूपण, महाभारत और रामायण के आख्यान, शिव, गणेश और दिगीशों के विभिन्न रूप दर्शनीय हैं। इससे उस युग की धार्मिक सहिष्णुता का सुंदर परिचय मिलता है। इसके अतिरिक्त बहुत से बहुमूल्य मृण्मय फलक भी पहाड़पुर में प्राप्त हुए हैं जिनमें अनेक तत्कालीन वर्णन हैं। विवरण अनेक महत्त्वपूर्ण चित्रों से सज्जित है।

समीक्षा

हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—लेखक श्री रामकुमार वर्मा एम० ए०; प्रकाशक रामनारायणलाल, इलाहाबाद; पृष्ठ-संख्या ७६६+५८। मूल्य ४॥)

इस पुस्तक में चारण-काल और धार्मिक-काल का इतिहास दिया गया है। पुस्तक के आरंभ में ग्रंथकर्ता लिखते हैं—"साहित्य का इतिहास आलोचनात्मक शैली से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। अत: ऐतिहासिक-सामग्री के साथ कवियों एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों की आलोचना करना मेरा दृष्टिकोण है। प्रत्येक काल-विभाग के आरंभ में अनुक्रमणिका के रूप में उस काल की समस्त प्रवृत्तियों का निरूपण साहित्यिक एवं दार्शनिक ढंग पर किया गया है। कवियों के वर्गीकरण में विशेष ध्यान इस बात का रखा गया है कि तत्कालीन राजनीतिक और साहित्यिक परिस्थितियों ने उन्हें और उनकी कृतियों को कहाँ तक प्रभावित किया है और समय की प्रवृत्तियों और उनकी कृतियों में कितना साम्य है। अत: कवियों की आलोचना में केवल उनके गुण-दोषों का विवेचन ही नहीं है वरन् विजातीय शासकों की नीति के फल-स्वरूप उनकी शैली में जिन भावनाओं का जन्म हुआ है उनका भी स्पष्टीकरण है। धार्मिक सिद्धांतों की आलोचना करनेवाले प्राय: सभी प्रधान ग्रंथों के दृष्टिकोण की विवेचना और आलोचना की गई है और उसके प्रकाश में साहित्य के इतिहास की रूप-रेखा स्पष्ट की गई है। इस प्रकार एक ही स्थल पर विषय-विशेष की समस्त सामग्री इतिहास के विद्यार्थियों को प्राप्त होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।"

हम इस कथन के आधार पर इस बात का विचार करेंगे कि वर्मा जी अपने उद्योग में कहाँ तक सफल हुए हैं। केवल अंतिम वाक्य को छोड़कर हमें और कोई भी तथ्य की बात नहीं मिली। धार्मिक-काल में संतकाव्य, प्रेमकाव्य, रामकाव्य, कृष्णकाव्य उपविभाग किए

गए हैं। उदाहरण-स्वरूप यह प्रश्न उठता है कि कृष्णकाव्य के अंतर्गत किस सिद्धांत के आधार पर कृपाराम, सेनापति, बनारसीदास, अहमद, सुंदरदास, भुवाल, सुखदेव मिश्र आदि आ सकते हैं। ऐसे ही चारण-काल में भुवाल कवि की कैसे गिनती हो सकती है, यह समझ में नहीं आता। सारांश यह है कि इस ग्रंथ की विशेषता यही है कि इसमें इन दोनों कालों में जितने कवियों का पता चला है उन सब का उल्लेख कर दिया गया है और उनके विषय में अब तक जो कुछ लिखा-पढ़ा गया है उस सब का समावेश कर दिया गया है। भुवाल कवि का समय १००० न मानकर, जैसा डाक्टर हीरालाल ने सिद्ध किया है, १७०० माना गया है; पर उसका विवरण खुमानरासो और बीसलदेव-रासो के बीच में दिया गया है। यदि १७०० संवत् ठीक है तो जहाँ समयानुक्रम से भुवाल का स्थान होना चाहिए वहाँ उसका उल्लेख करना चाहिए। यह समझ में नहीं आता कि ऐसा क्यों किया गया। इस पुस्तक का नाम "आलोचनात्मक इतिहास" रखा गया है, पर जब तक यह न ज्ञात हो कि आलोचना से ग्रंथकर्ता का क्या तात्पर्य है तब तक यही मान लेना पड़ेगा कि किसी ग्रंथकार के विषय में जितनी सम्मतियाँ अनेक विद्वानों ने दी हैं उन सब का उल्लेख कर देना ही वर्मा जी के अनुसार 'आलोचना' है। एक विद्वान् के लिये, जो युनिवर्सिटी का प्रोफेसर हो, ऐसी बात कह देना कदापि उचित नहीं। आपने यह भी कहा है कि इस ग्रंथ में मेरी अपनी रिसर्च भी सम्मिलित है। हमने बहुत खोजा पर हमें कहीं भी इसका पता न चला। यदि रिसर्च का उदाहरण देखना हो तो (पृष्ठ ७५२ से ७५५) गोरा बादल की कथा के संबंध में देखिए। जो बात निश्चित हो चुकी है उसमें भी वर्मा जी को संदेह है। अस्तु, हमारे विचार में इस पुस्तक की उपयोगिता इतनी ही है कि एक अच्छा संग्रह प्रस्तुत कर दिया गया है। उसमें न आलोचना है, न रिसर्च; और ग्रंथकर्ता ने भूमिका में जो कुछ कहा है उसे पूर्ण करके दिखाने में वे सफल नहीं हुए।

—"श्री"

त्रिपुरी का इतिहास—लेखक श्री व्योहार राजेन्द्रसिंह एम० एल० ए० तथा श्री विजयबहादुर श्रीवास्तव बी० एस्-सी०, एल्-एल० बी०; प्रकाशक मानसमंदिर, जबलपुर; १९३९; पृष्ठसंख्या २२२; मू० १॥)

भारतीय राष्ट्रपरिषद् (कांग्रेस) के बावनवें अधिवेशन के कारण प्रायः सभी लोगों ने इस वर्ष त्रिपुरी का नाम सुना होगा। कालचक्र की विचित्र गति से आज त्रिपुरी अथवा तेवर मध्यप्रांत के अंतर्गत जबलपुर जिले में नर्मदा-तट पर केवल एक छोटा-सा ग्राम है; किंतु प्राचीन समय में यह एक अत्यंत उन्नतिशील और महत्त्वपूर्ण स्थान था। इसका उत्थान लगभग नवीं शताब्दी के अंत में हुआ, जब कि हैहय कार्तवीर्य अर्जुन के वंशज कोकल्ल ने त्रिपुरी को अपने साहस और पराक्रम से एक शक्तिशाली राज्य का केंद्र बनाया। यह राजवंश इतिहास में हैहय, कलचुरि अथवा चेदि नाम से प्रसिद्ध है। कोकल्ल ने चंदेल तथा राष्ट्रकूट कुलों से वैवाहिक संबंध कर अपने प्रभाव को सुदृढ़ किया। तत्पश्चात् गांगेयदेव ने, जिसकी उपाधि विक्रमादित्य थी, अपने सैनिक बल से प्रयाग, वाराणसी और तीरभुक्ति (तिरहुत) पर आधिपत्य जमाया। किन्हीं लेखों से तो यहाँ तक ज्ञात होता है कि उसके यश का प्रसार उत्कल व कुंतल तक हुआ। गांगेयदेव के पुत्र लक्ष्मीकर्ण (१०४१–१०७२ ई०) के राज्य-काल में त्रिपुरी का गौरव बढ़ता गया। उसने काशी में सुंदर एवं विशाल कर्णमेरु नामक शिव का मंदिर निर्माण करवाया; और उसकी विजयपताका कान्यकुब्ज तथा कीर प्रदेश तक फहराई। उसने परमारनरेश भोज और गौड़ाधिप नयपाल से भी सफलतापूर्वक युद्ध किया। किंतु वृद्धावस्था में लक्ष्मीकर्ण को कई समकालीन राजाओं से (यथा गुजरात का भीम प्रथम, कल्याणी का सोमेश्वर आहवमल्ल चालुक्य, और कीर्तिवर्मन् चंदेल) हार माननी पड़ी। इसके बाद कलचुरि वंश का पतन प्रारंभ हुआ। यशःकर्ण के समय में तो लक्ष्मदेव परमार ने त्रिपुरी में खूब लूट-मार की। फिर गयाकर्ण भी मदनवर्मन् चंदेल से

पराजित हुआ। इस प्रकार समृद्धि के शिखर पर पहुँचकर त्रिपुरी के भाग्य ने पलटा खाया, और धीरे धीरे इसका ह्रास होता ही गया। खेद की बात है कि ऐसी प्राचीन नगरी का कोई क्रमबद्ध इतिहास हिंदी में अभी तक नहीं लिखा गया था। लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक को छपाकर एक बड़े अभाव की पूर्ति की है। इसमें सिर्फ सन्-संवत् और घटनाओं का ही वर्णन नहीं है, बल्कि राजनीति, समाज, धर्म, कलादि सांस्कृतिक पहलुओं पर भी प्रकाश डाला गया है। सब से उत्तम बात तो यह है कि ग्रंथ कथात्मक न बनाकर शोध की आधुनिक शैली से लिखा गया है। लेखक ने प्राचीन साहित्य, शिलालेख, ताम्रपत्र, मुद्रा, मूर्ति इत्यादि सामग्रियों का योग्यता के साथ उपयोग किया है। हिंदी संसार को ऐसे ग्रंथों का समादर करना चाहिए। पुस्तक में कुछ छापे की तथा अन्य छोटी त्रुटियाँ रह गई हैं। आशा है, दूसरे संस्करण में उनका सुधार हो जायगा।

—रमाशङ्कर त्रिपाठी

एम० ए०, पी-एच० डी० (लंदन)

जैबुन्निसा के आँसू—लेखक श्री ओम्‌प्रकाश भार्गव बी० एस्-सी०, विशारद और श्री ईश्वरीप्रसाद माथुर बी० ए०; पृष्ठसंख्या १२४ पोस्तीन, मुखपृष्ठ सभी जोड़कर; मूल्य १)

आरंभ में एक प्राक्कथन तथा एक परिचय में लेखकों की साहित्य-सेवा आदि का परिचय दिया गया है। इसके अनंतर शाहजादी जैबुन्निसा की जीवनी दी गई है और बाद में फारसी काव्य-कला पर कुछ प्रकाश डालकर जैबुन्निसा के शेर, हिंदी-पद्यानुवाद तथा भावार्थ सहित, दिए गए हैं। लेखकों के प्रयत्न स्तुत्य हैं पर वे कवयित्री की कुल रचनाओं में से काफी चयन नहीं कर सके हैं और उन्होंने दूसरों की कविता से आवश्यकता से अधिक उद्धरण दे दिए हैं। प्रेस की अशुद्धियाँ भी हैं,

जैसे महशर का मशहर, सियहबख्ती का सिपहबख्ती। फारसी शब्दों की ऐसी अशुद्धियों से हिंदी-पाठकों को अर्थ समझने में कष्ट होगा। मूल फारसी साथ में न रहने से उसके अर्थ के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। कहीं कहीं मूल दे दिया गया है, जिससे अर्थ मिलान करने पर इस विषय में शंका हो जाती है।

—व्रजरत्नदास, बी० ए०, एलू-एल० बी०

विज्ञान का रजत-जयंती अंक—हिंदी संसार में विज्ञान की ओर रुचि बढ़ानेवाला पत्र 'विज्ञान' अपने क्षेत्र में अकेला ही है। "विज्ञान-परिषद्" की रजत-जयंती के अवसर पर इस पत्र का विशेषांक प्रकाशित हुआ है। इस अंक के विशेष संपादक प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव हैं। अवसर के अनुकूल ही इस विशेषांक में "परिषद् की योजना" तथा इसका संक्षिप्त इतिहास सुचारू रूप से दिया है। परिषद् के सभापति तथा विज्ञान के कुछ प्रमुख लेखकों की संक्षिप्त जीवनी और उनके चित्र भी दिए गए हैं।

परंतु विज्ञान की असंख्य शाखाओं को देखते हुए यह कहना अनुचित न होगा कि विशेषांक अपने सर्वव्यापी नाम "विज्ञान" को भली भाँति चरितार्थ न कर सका। संभव है, इसका प्रयत्न ही न किया गया हो। अंक में अधिकांश लेख ज्योतिष तथा व्यवसाय संबंधी हैं। वनस्पति-विज्ञान, भौतिक रसायन तथा रोग-चिकित्सा संबंधी लेख एक एक ही हैं और जीवशास्त्र तथा भूतत्त्वशास्त्र इत्यादि संबंधी लेखों का नितांत अभाव है। इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक काल में वैज्ञानिक व्यवसाय की ओर लोगों का झुकाव अधिक हो रहा है और इस दृष्टि से सीमेंट, फल-संरक्षण तथा साबुन विषयक लेख बहुत ही समयोपयोगी हैं। परंतु "ध्रुव घड़ी," "यह प्रसरणशील जगत्", "तारागण और विश्वमंडल" तथा "तारे कितने बड़े हैं" शीर्षक चारों लेख प्रायः समान विषयों पर हैं।

संपादक महोदय प्रोफेसर गोपालस्वरूप जी भार्गव का लेख "लेंगले के कुछ आविष्कार" भानुमती का पिटारा-सा प्रतीत होता है। जैसे कि साधारण साप्ताहिक तथा मासिक पत्रों में एक या दो कालम में नए वैज्ञानिक आविष्कारों के संबंध में कुछ इधर-उधर के असंबद्ध, 'टिटबिट्स्' की तरह, छोटे-छोटे रोचक समाचार दे दिए जाते हैं उसी प्रकार भार्गव जी ने भी "सूर्य का रंग क्या है", "हरा रंग प्यारा क्यों लगता है", "जुगनू का प्रकाश" इत्यादि पर थोड़ा थोड़ा लिख दिया है। और इससे भी बढ़कर बात यह है कि लेंगले पर प्रायः आधा पृष्ठ लिखने के बाद भार्गव जी ओमस्टर्ड और एम्पियर पर आ कूदे हैं। लेंगले के "जुगनू के प्रकाश" और ओमस्टर्ड के "विद्युत्चुम्बकत्व" में क्या संबंध है, यह प्रत्यक्ष तो समझ में नहीं आता।

हिंदी में वैज्ञानिक साहित्य का विकास अभी शनैः-शनैः हो रहा है। इस प्रारंभिक अवस्था में इस बात पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है कि अँगरेजी-वैज्ञानिक शब्दों का हिंदी में अनुवाद सुचारु रूप से किया जाय। यह देख बड़ा दुःख होता है कि अभी तक हिंदी में कोई अच्छा वैज्ञानिक शब्द-कोष प्रकाशित नहीं हुआ है। इसके अभाव में विभिन्न लेखकों के अँगरेजी शब्दों के पर्यायवाची हिंदी शब्दों के प्रयोग में विभिन्नता होना स्वाभाविक ही है। परंतु किसी एक ही लेख में एक ही शब्द का दो या और अधिक रूपों में लिखा जाना बहुत ही असंतोषजनक है। विज्ञान के प्रस्तुत विशेषांक में सीमेंट वाले लेख में अँगरेजी शब्द clinker को जैसे का तैसा ही हिंदी में लिखने का प्रयत्न किया है। परंतु उसे उच्चारण के अनुसार एक ही ढंग से लिखने के बदले भिन्न भिन्न स्थानों पर ३ ढंगों से लिखा है, यथा, क्लिंकर, किलकर और किल्लकर। इसी प्रकार silica को कहीं "सिलीका" और कहीं "सिलिका" लिखा है। फल-संरक्षण वाले लेख में sulphur dioxide शब्द को कहीं तीन टुकड़ों में अलग अलग लिखा है और कहीं उनके बीच में डैश (—) लगा दिया है। यथा "सलफर डाइ औक्साइड" और "सलफर-डाइ-औक्साइड"। यद्यपि ये बातें देखने

में छोटी ही मालूम होती हैं परंतु प्रारंभ में ही निरीक्षण न करने से उन बातों का प्रभाव बहुत बुरा हो सकता है। 'विज्ञान' जैसे पत्र पर इस संबंध में उत्तरदायित्व बहुत अधिक है।

अन्यथा रजतजयंती अंक अच्छा है। मुखपृष्ठ के नीले रंग में रजत वर्ण का संश्लेष करने का प्रयत्न सुंदर है। अंक के अंत में हिंदी में प्रकाशित वैज्ञानिक पुस्तकों की सूची दी गई है। यह सूची तालिका के रूप में है, जो प्रायः १२ पृष्ठ लंबी है। आशा है, इस सूची से पाठकों तथा लेखकों दोनों ही को लाभ होगा।

अ० गो० भि०

सूचना—समीक्षार्थ प्राप्त पुस्तकों की सूची अगले अंक में प्रकाशित होगी —संपादक।

विविध

नागरी-प्रचारिणी सभा और हिंदी-साहित्य-सम्मेलन

संवत् १९५० में नागरी लिपि तथा हिंदी भाषा और साहित्य के प्रचार एवं उन्नति के उद्देश्य से काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई थी। सत्रह वर्ष बाद संवत् १९६७ में कार्य-विस्तार के लक्ष्य से सभा में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की योजना हुई। फिर प्रयागवालों के उत्साह से सम्मेलन वहीं एक स्वतंत्र संस्था के रूप में केंद्रित हो गया। इन छियालीस वर्षों में सभा के द्वारा हिंदी की बहुत संवृद्धि हुई है और इन अट्ठाईस वर्षों में सम्मेलन के द्वारा उसे बहुत प्रसार और प्रगति मिली है। आज हिंदी गौरवान्वित है। इसका बहुत कुछ श्रेय इन दोनों संस्थाओं को है।

अट्ठाईस वर्षों से प्रायः समान उद्देश्य से सभा और सम्मेलन स्वतंत्र कार्य कर रहे हैं। यद्यपि सभा के द्वारा प्रधानतया हिंदी-साहित्य के कार्य हुए हैं और सम्मेलन के द्वारा प्रधानतया हिंदी प्रचार के। हिंदी का तो दोनों से उत्तरोत्तर हित ही हुआ है। परंतु हमारे विचार से यह हित और व्यवस्थित तथा उन्नत होता यदि दोनों की संयुक्त तथा विशिष्ट सेवाएँ उसे मिलतीं।

हिंदी को आज संयुक्त तथा विशिष्ट सेवाओं की बड़ी आवश्यकता है। मध्यदेश की यह निजी भाषा भारत की परंपरागत प्रमुख भाषा है। हिंद की व्यापक भाषा के अर्थ में इसका हिंदी नाम इतिहास-प्रतिष्ठित है। इसके सहज दो रूप हैं—व्यावहारिक और साहित्यिक। एक मध्ययुग से अनेकानेक देशी-विदेशी शब्दों तथा उक्तियों को अपनाना अनेक शैलियों में साधारण व्यवहार का माध्यम है। दूसरे में देश की परंपरागत प्रधान संस्कृति प्रवाहित है, काव्य तथा शास्त्र के निर्माण निबद्ध हैं और उत्तरोत्तर हो रहे हैं। यह मध्यदेश अर्थात् अंतर्वेद की मातृ-भाषा है और यही भारत के राष्ट्र-

भाषा-पद की सहज अधिकारिणी है, क्योंकि यही सर्वाधिक व्यापक परंपरागत प्रमुख भाषा है और इसके शुद्ध रूप से शेष प्रांतीय भाषाओं का सगा संबंध है। मातृभाषा होने से इसमें स्वाभाविकता और सरसता है, राष्ट्र-भाषा होने से इसमें उदात्तता और गौरव है। हिंदी का हित समस्त हिंदियों, भारतीयों, का व्यावहारिक तथा सांस्कृतिक हित है। अवश्य जिनकी यह मातृभाषा है उन्हें इसका विशेष ध्यान है और उन्हीं का प्रथम कर्त्तव्य है कि इसकी संवृद्धि और प्रगति के लिये यथेष्ट प्रयत्नशील हों। आज इन बातों के विस्पष्ट उल्लेख की बड़ी आवश्यकता है, क्योंकि इनके संबंध में अनेक भ्रम फैल रहे हैं, अनेक व्यर्थ आग्रह उठ रहे हैं और सांप्रदायिक तथा प्रांतीय भाव राष्ट्रीय तथा सर्वहितकारी भावों को धुँधला कर रहे हैं।

एक ओर उर्दू, जो यथार्थतः हिंदी ही है पर अरबी-फारसी शब्दों, उक्तियों तथा शैली के कारण बहुत कुछ विदेशिनी हो गई है, हिंदी की प्रतिस्पर्धिनी बनाई जा रही है, उर्दू ही मुल्क की जबान है यह नारा लगाया जा रहा है और दूसरी ओर राष्ट्रहित के नाम पर हिंदी-उर्दू के समझौते के लिये हिंदुस्तानी की कल्पना की जा रही है। सबसे बड़ा भ्रम और आग्रह तो आज उर्दू के संबंध में ही है जो एक बहुत ही सीमित भाषा है। विडंबना यह है कि जिस समझौते की भाषा की कल्पना की जा रही है और जिसे राष्ट्रभाषा-पद पर बिठाया जा रहा है वह व्यावहारिक हिंदी का ही असंगत उर्दूपन के कारण विकृत रूप है और जिनके कारण विशेषतः हिंदुस्तानी नाम की आवश्यकता समझी जा रही है बहुत कुछ उनके कारण ही हमारी भाषा को हिंदी नाम मिला है। पर हिंदी नाम का इस भाषा से ऐतिहासिक संबंध है। हिंदुस्तानी नाम से आज हिंदी की ही अनेक रूप से हत्या हो रही है। अस्तु। उधर पूर्व में बँगला भाषा ने हिंदी के विरोध की ठानी है और उसे अब यह स्पर्धा हो रही है कि एक बड़े प्रांत की साहित्य-संपन्न भाषा होने के कारण वही राष्ट्रभाषा हो। और दक्षिण में कुछ आंदोलन-कारियों को हिंदी का राष्ट्रभाषात्व न जाने क्यों खटकने लगा है।

हिंदी भाषा के साथ नागरी लिपि पर भी, जो देश की सर्वमान्य परंपरागत लिपि रही है, आज शंकाएँ हो रही हैं। एक ओर इसे राष्ट्रलिपि के अनुपयुक्त घोषित कर विदेश से रोमन का आवाहन हो रहा है, दूसरी ओर इसे राष्ट्रीय बनाने के लिये इसका सुधार किया जा रहा है। और तीसरी ओर फारसी लिपि अपनी प्रतिस्पर्धा जगाए बैठी है।

अत: आज हिंदी भाषा तथा लिपि के स्वरूप को और इनके पद को सुस्पष्ट तथा सुदृढ़ रूप में देश के समक्ष रखने की बड़ी आवश्यकता है। हिंदी-सेवकों के उत्तरदायित्व आज बहुत बढ़ गए हैं। अनेक और विविध गुरु कार्य उनके आगे हैं। इधर व्यावहारिक हिंदी को सरल, प्रांजल, किंतु मर्यादित रूप देना है और विविध उपायों से इसका देशव्यापी प्रचार करना है। उधर साहित्यिक हिंदी को यथेष्ट पुष्ट और सर्वांग-संपन्न बनाना है जिससे इसमें ज्ञान-विज्ञान की उत्कृष्ट से उत्कृष्ट चर्चा हो सके, कला की सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यंजना बन सके और इसके भांडार पर हमारी संस्कृति गर्व कर सके। इसके लिये विविध साधनों और सुविधाओं की व्यवस्था की अपेक्षा है। साथ ही नागरी लिपि को उसके पद के अनुकूल प्रतिष्ठित बनाना है।

ये गुरु कार्य बिखरी शक्तियों से साध्य नहीं हैं। सभी व्यक्तियों अथवा संस्थाओं के सभी कार्यों में लगे रहने से तो कोई भी कार्य यथेष्ट संपन्न नहीं हो सकता। समय और शक्ति का सदुपयोग तथा सफलता कर्तव्य-विभाजन से ही संभव है। उपर्युक्त समस्याओं और साध्यों के विचार से हिंदी को अब संयुक्त तथा विशिष्ट सेवाओं की बड़ी आवश्यकता है। हिंदी के सौभाग्य से उसकी दो प्रतिनिधि संस्थाओं ने उसकी सेवाओं में प्रतिष्ठा पाई है और उनका घना ऐतिहासिक संबंध है। नागरी-प्रचारिणी सभा और हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का हिंदी को गर्व है। इन्हें अपने व्यक्तित्व को बनाए रखकर ही अब संयुक्त कार्य करना चाहिए और अपने विशिष्ट कर्त्तव्यों का शीघ्र निश्चय कर लेना चाहिए। इनकी शक्तियों का तभी समुचित उपयोग होगा और हिंदी की व्यवस्थित तथा उन्नत हितसाधना होगी।

पहले अधिवेशन के बाद सम्मेलन का अट्ठाईसवाँ अधिवेशन इस बार सभा के निमंत्रण पर काशी में होनेवाला है, सम्मेलन अपनी जन्म-भूमि में आनेवाला है। सभा को हर्ष है, सम्मेलन को उत्साह है। यह एक महत्त्वपूर्ण सुयोग है। इसे यथेष्ट महत्त्वपूर्ण ही सिद्ध होना चाहिए। इस अवसर पर दोनों संस्थाओं की एक संयुक्त-समिति की योजना होनी चाहिए और उसमें दोनों के संयुक्त कार्य करने का संकल्प एवं दोनों के विशिष्ट कार्यों का निश्चय हो जाना चाहिए। हम आशा करते हैं कि सभा और सम्मेलन के इस सम्मिलन से शीघ्र ही हिंदी-संसार में एक नए संघटित युग का उदय होगा और उसकी दिशाएँ नए हर्ष और उत्साह से फूल उठेंगी।

एक लिपि की आवश्यकता

एक लिपि की आवश्यकता के विषय में महात्मा गाँधी ने पुनः आग्रह किया है। 'हरिजन सेवक' भाग ७, संख्या २५ में उनका एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसे हम अविकल उद्धृत करते हैं—

यह सवाल अनेक वर्षों से लोगों के सामने है कि संस्कृत से निकलनेवाली या जिन्हें उसने ग्रहण कर लिया है उन सब भारतीय भाषाओं की लिपि एक होनी चाहिए। इतने पर भी तीव्र प्रांतीयता के इन दिनों में एक लिपि के पक्ष में कुछ भी कहना शायद अप्रासंगिक समझा जावे। लेकिन सारे देश में साक्षरता का जो आंदोलन हो रहा है उसके कारण एक लिपि का प्रतिपादन करनेवालों की बात सुननी ही चाहिए। मैं भी बरसों से एक लिपि का ही प्रतिपादन कर रहा हूँ। मुझे याद है कि दक्षिण अफ्रिका में गुजरातियों के साथ भारत-संबंधी पत्र-व्यवहार में एक हद तक मैंने देवनागरी लिपि का व्यवहार भी शुरू कर दिया था। इसमें शक नहीं कि ऐसा करने से विभिन्न प्रांतों के पारस्परिक संबंधों में बहुत सुविधा हो जायगी और विविध भाषाओं के

सीखने में आज की बनिस्बत कहीं ज्यादा आसानी होगी। देश के शिक्षित लोग अगर आपस में मिलकर विचार करें और एक लिपि का निश्चय कर लें तो सब के द्वारा उसका ग्रहण किया जाना आसान बात हो जायगी। क्योंकि लाखों की तादाद में जो लोग निरक्षर हैं उनको तो इस बात में कोई दिलचस्पी ही नहीं होती कि पढ़ाई के लिये कौन-सी लिपि रखी गई है। अगर यह सुखद सम्मिलन हो जाय, तो भारत में देवनागरी और उर्दू यही दो लिपियाँ रह जायँगी और हरेक राष्ट्रवादी दोनों लिपियों को सीखना अपना फर्ज समझेगा। मैं सभी भारतीय भाषाओं का प्रेमी हूँ। यथासंभव अधिक से अधिक लिपियों को सीखने की मैंने कोशिश भी की है। सत्तर वर्ष की उम्र में भी मुझमें इतनी शक्ति मौजूद है कि अगर वक्त मिले तो मैं और भी भारतीय भाषाएँ सीख सकता हूँ। ऐसी पढ़ाई मेरे लिये मनोरंजन की ही चीज होगी। लेकिन भाषाओं के प्रति अपने इतने प्रेम के बावजूद, मुझे यह कबूल करना ही होगा कि मैं सब लिपियाँ नहीं सीख पाया हूँ। अलबत्ता, अगर एक ही स्रोत से निकली हुई भाषाएँ एक ही लिपि में लिखी जायँ तो बहुत थोड़े समय में विविध प्रांतों की खास-खास भाषाओं का काम-चलाऊ ज्ञान मैं प्राप्त कर लूँगा। और जहाँ तक देवनागरी का सवाल है, सौंदर्य या सजावट की दृष्टि से लज्जित होने जैसी कोई बात उसमें नहीं है। अत: मैं आशा करता हूँ कि जो लोग साक्षरता के आंदोलनों में लग रहे हैं वे मेरे इस सुझाव पर भी कुछ विचार करेंगे। अगर देवनागरी लिपि को वे ग्रहण कर लें, तो निश्चय ही वे भावी संतति के परिश्रम और समय की बचत करके उनकी दुआएँ पा लेंगे।

सभा की प्रगति

पदाधिकारी तथा प्रबंध समिति के सदस्य

गत वार्षिक अधिवेशन में सभा के पदाधिकारियों तथा प्रबंध-समिति के सदस्यों का चुनाव इस प्रकार हुआ—

पदाधिकारी

सभापति—श्री रामनारायण मिश्र

उपसभापति—श्री रामचंद्र शुक्ल

,, ,, श्री रमेशदत्त पांडेय

प्रधान मंत्री—श्री रामबहोरी शुक्ल

साहित्य मंत्री—श्री रामचंद्र वर्मा

अर्थ मंत्री—श्री व्रजरत्नदास

प्रबंध समिति के सदस्य—

सं० १९९६ तक—

- श्री राधेकृष्णदास
- श्री सहदेवसिंह
- श्री केशवप्रसाद मिश्र
- श्री कृष्णानंद
- श्री गांगेय नरोत्तम शास्त्री
- श्री सूर्यप्रसाद महाजन
- श्री जगद्धर शर्मा गुलेरी

सं० १९९६—९७तक—

- श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़
- श्री राय कृष्णदास
- श्री सीताराम चतुर्वेदी
- श्री विद्याभूषण मिश्र
- श्री श्रीराम मिश्र
- श्री अयोध्यानाथ शर्मा
- श्री रामेश्वर गौरीशंकर ओझा

सं० १९९६—९८तक {
श्री मुरारीलाल केडिया
श्री ठाकुरदास
श्री गोपाललाल खन्ना
श्री शिवकुमारसिंह
श्री दत्तो वामन पोतदार
श्री ब्योहार राजेन्द्रसिंह
श्री सरदार माधवराव विनायकराव किबे

इस वर्ष आय-व्यय-निरीक्षक श्री बैजनाथ केडिया चुने गए थे किंतु फिर अवकाश न होने के कारण उन्होंने यह कार्य स्वीकार नहीं किया अतः उनके स्थान पर बाबू जीवनदास चुने गए।

प्रबंध समिति के सदस्य श्री गोपाललाल खन्ना के लखनऊ चले जाने के कारण उनके स्थान पर १५—७—३९ के साधारण अधिवेशन में श्री जयकृष्णदास जी सदस्य चुने गए।

उपसमितियाँ

प्रबंध समिति के १०-६-३९ के अधिवेशन में निम्नलिखित उपसमि बनाई गईं—

(१) साहित्य उपसमिति—संयोजक साहित्य-मंत्री
(२) अर्थ उपसमिति— ,, अर्थ-मंत्री
(३) पुस्तकालय उपसमिति—,, तथा निरीक्षक श्री कृष्णदेव-प्रसाद गौड़
(४) संकेतलिपि ,, ,, श्री निष्कामेश्वर मिश्र
(५) लिपि और भाषा ,, ,, श्री चंद्रबली पांडेय
(६) पुस्तक बिक्री ,, ,, श्री सत्यनारायण शर्मा
(७) अर्धशताब्दी ,, ,, श्री रामचंद्र वर्मा
(८) कवियों और लेखकों के चित्र तथा परिचय संग्रह करने के लिये उपसमिति ,, श्री ब्रजरत्नदास

इनके अतिरिक्त दो अस्थायी उपसमितियाँ बनाई गईं। एक सभा के खर्च में कमी करने के लिये, जिसके संयोजक सभा के अर्थ-मंत्री चुने गए; और दूसरी कविसम्राट् पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय तथा पुरोहित हरिनारायण शर्मा बी० ए० (जयपुर) का, उनके ७५ वर्ष पूरे होने पर, अभिनंदन करने के लिये, जिसके संयोजक श्री विद्याभूषण मिश्र चुने गए।

खोज विभाग

इस वर्ष खोज विभाग के निरीक्षक डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल एम० ए०, डी० लिट्० तथा सहायक निरीक्षक श्री विद्याभूषण मिश्र एम० ए० चुने गए।

प्रसाद व्याख्यानमाला के आयोजक

श्री विद्याभूषण मिश्र एम० ए० चुने गए।

संपादक-मंडल

नागरीप्रचारिणी पत्रिका के संपादन के लिये संपादक-मंडल चुना गया जिसके निम्नलिखित सदस्य हैं—

श्री रामचंद्र शुक्ल डा० मंगलदेव शास्त्री
श्री केशवप्रसाद मिश्र श्री वासुदेवशरण
श्री कृष्णानंद

मूर्तिमंदिर

सभा के कार्यों के यथोचित विस्तार के लिये स्थान की बहुत बड़ी कमी है। सभा के भारतकला-भवन में मूर्तिमंदिर के लिये अभी तक केवल एक ही कमरा था। बाकी बहुत-सी मूर्तियाँ आँगन में खुले स्थान में पड़ी हुई कला तथा संस्कृति के उदार रक्षकों का मुँह जोह रही थीं। आनंद की बात है कि सभा के पुराने सभासद और काशी के उदार-हृदय तथा उत्साही नवयुवक श्री मुरारीलाल केडिया ने इस कमी को दूर करने के लिये सभा को १०००) देने का वचन दिया जिसमें

८५०) उन्होंने दे दिया है। इस रुपये से आँगन के ऊपर छत पाट कर एक सुंदर कमरा बनवाया जा रहा है जो अब प्राय: तैयार हो गया है।

पुस्तकालय

अभी तक सभा के पुस्तकालय में पुस्तकें विषय-क्रम से नहीं रखी गई थीं। यह कार्य पूरा करने तथा कार्ड-प्रणाली से सूची तैयार करने में यद्यपि सभा के सामने कई प्रकार की कठिनाइयाँ हैं जिनमें सबसे बड़ी कठिनाई धन, स्थान तथा आलमारियों की कमी की है जो अब भी दूर नहीं हो सकी है, तथापि सभा ने अब यह कार्य आरंभ करा दिया है और आशा है इस वर्ष किसी प्रकार पूरा हो जायगा।

संकेतलिपि विद्यालय

हर्ष की बात है कि सभा के संकेतलिपि विद्यालय के प्रधानाध्यापक श्री गोवर्धनदास गुप्त की नियुक्ति मध्यप्रांतीय एसेंबली में हो गई है। अभी यह नियुक्ति अस्थायी है और आशा है वे स्थायी रूप से नियुक्त कर लिए जायँगे। उनको अपने विषय का अच्छा ज्ञान है और वे बड़े परिश्रमी हैं। विद्यालय की सेवा वे निष्काम भाव से करते रहे हैं।

उनके स्थान पर इस समय श्री परशुराम उपाध्याय और श्री केदारनाथ अष्ठाना संकेतलिपि तथा हिंदी टाइप का अध्यापन-कार्य कर रहे हैं।

पुस्तकों की बिक्री

इस वर्ष सभा की पुस्तकों की बिक्री बढ़ाने के लिये श्री सत्यनारायण शर्मा एजेंट नियुक्त किए गए हैं। सभा ने अपनी पुस्तकों के लिये स्थायी ग्राहक बनाने का निश्चय किया है। शर्माजी देश के भिन्न भिन्न स्थानों में यात्रा करके अधिक से अधिक संख्या में स्थायी-ग्राहक बनाने का प्रयत्न करेंगे। इससे पुस्तकों की बिक्री बढ़ने की आशा तो है ही, साथ ही वे सभासदों और सभा के अन्य हितैषियों से समय समय पर मिलते रहेंगे जिससे सभा के साथ उनका संबंध दृढ़तर होगा।

प्रतिनिधिदल

गत वैशाख मास में सभा के सभापति श्रीयुत पं० रामनारायण मिश्र ने ट्रेनिंग कालेज बनारस के प्रो० पं० लालजीराम शुक्ल के साथ सभा के निमित्त धन-संग्रह के लिये मध्यभारत की यात्रा की। पहले वे उज्जैन गए। वहाँ पं० सूर्यनारायण व्यास तथा पं० गोपालकृष्ण शास्त्री ने बड़ी सहायता की। 'कल्पवृक्ष' के संचालक डा० दुर्गाशंकर नागर द्वारा जो उत्साह और सहयोग प्राप्त हुआ उसका वर्णन शब्दों में नहीं हो सकता।

उज्जैन से प्रतिनिधिदल इंदोर गया और मध्यभारत हिंदी-साहित्य-समिति के मंत्री की कृपा से समितिगृह में ठहरा। 'वीणा'-संपादक पं० कालिकाप्रसाद दीक्षित, राव बहादुर सरदार माधवराव विनोयकराव किबे, पं० रामभरोसे तिवारी तथा प्रो० ज्वालाप्रसाद सिंहल से बड़ी सहायता प्राप्त हुई। खेद है कि रियासत में आंदोलन के कारण इंदोर राज्य से कुछ सहायता न मिल सकी।

इंदोर से प्रतिनिधिदल देवास पहुँचा और फिर सीतामऊ, प्रतापगढ़, सैलाना, रतलाम और धार होकर उज्जैन लौटा। वहाँ से भूपाल, छिंदवाड़ा, नृसिंहपुर और सतना होते हुए बनारस आ गया। इस यात्रा में देवास की छोटी पाँती के महाराज, **महाराजकुमार डा० रघुवीरसिंह (सीतामऊ), महाराजा महारावत सर प्रतापसिंह (प्रतापगढ़)** (जिनकी माता जी **स्वर्गीया सूर्यकुमारी** जी की बहन हैं) तथा **श्रीमान् महाराज भरतसिंह (मुलथान)** और दीवान बहादुर केनंदकार (धार) से मिलने का सुयोग प्राप्त हुआ। इन्होंने सभा तथा दल पर बड़ी कृपा दिखलाई।

इस यात्रा में प्रतिनिधि सज्जनों ने हिंदी-प्रचार का बड़ा काम किया। कुछ साधारण सभासदों के अतिरिक्त १ विशिष्ट और १३ स्थायी सभासद बने। जिन महानुभावों से प्रतिनिधिदल को सहायता प्राप्त हुई, सभा उन सब की हृदय से ऋणी है।

१ वैशाख से ३१ श्रावण तक २५) या अधिक दान देने-वाले सज्जनों की नामावली

प्राप्ति-तिथि	दाता	प्राप्त धन	प्रयोजन
१ वैशाख	श्रीमान् उदयपुर-नरेश महाराणा-साहिब भूपाल सिंह बहादुर के० सी० आई० ई०, जी० सी० एस० आई०	२०००)	साधारण व्यय
९ ,,	श्रीयुत क्षेत्रपाल शर्मा, मथुरा	१००)	स्थायी कोष
१४ ,,	श्रीयुत देवनाथ पुरोहित, उदयपुर	१००)	,, ,,
१९ ,,	श्रीयुत पं० मनोहरलाल ,जुत्शी, काशी	१००)	,, ,,
६ ज्येष्ठ	श्रीयुत लाला रामरतनगुप्त, कानपुर	१००)	,, ,,
१८ ,,	श्री वीरेंद्र केशव साहित्यपरिषद, ओड़छा	१०००)	पुस्तक प्रकाशन
२० ,,	श्रीयुत रा० ब० लालचंद सेठी, उज्जैन	१०१)	स्थायी कोष
२२ ,,	श्रीयुत राय कृष्णदास, काशी	१८७॥)	कलाभवन
२३ ,,	श्रीयुत पं० रामभरोसे तिवारी, इंदोर	१०१)	स्थायी कोष
२३ ,,	श्रीमान् महाराजा महारावत सर रामसिंह बहादुर, के० सी० एस० आई०, प्रतापगढ़, राजपूताना	१००)	,, ,,

प्राप्त-तिथि	दाता	प्राप्त धन	प्रयोजन
१० आषाढ़	श्री मदनमोहन जैन, उज्जैन	१००)	स्थायी कोष
१२ ,,	श्रीमती पूर्णिमा चाँदमल, लखनऊ	१००)	,, ,,
१३ ,,	श्रीयुत कुमार रणंजयसिंह, अमेठी राज्य, सुलतानपुर	१००)	,, ,,
१६ आषाढ़—४ श्रावण	श्री मुरारीलाल केडिया, काशी	३५०)	भवन-निर्माण
३. श्रावण	रायबहादुर श्रीयुत हरप्रसादजी, अजमेर	१००)	स्थायी कोष
१५ ,,	श्रीयुत ब्रजरत्नदास, काशी	७५)	कवियों और लेखकों के चित्र और परिचय संग्रह के लिये
१७ ,,	रियासत औसानगंज, मारफत कोर्ट आव वार्ड्स, गाजीपुर	३००)	कलाभवन
२२ ,,	श्रीयुत रायसाहब डा० भवानीशंकर याज्ञिक, नैनीताल	१०१)	स्थायी कोष

नोट—जो सज्जन किश्त से चंदा देते हैं उनका नाम पूरा चंदा प्राप्त हो जाने पर प्रकाशित किया जायगा ।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ४४-संवत् १९९६ [नवीन संस्करण] भाग २०-अंक ३

पतंजलि और वाहीक ग्राम

[लेखक—श्री वासुदेवशरण एम्० ए०]

§ १ वाहीक देश

आधुनिक पंजाब लगभग प्राचीन वाहीक देश का प्रतिनिधि है। सिंधु नद और शतद्रु के बीच का प्रदेश प्राचीन काल में वाहीक कहलाता था। इस देश में पीलु और शमी के वनों की बहुतायत महाभारत-काल में थी और आज भी है। कर्णपर्व में वाहीक देश की भौगोलिक सीमाओं का सुनिश्चित वर्णन आया है। वहाँ लिखा है—

पञ्चानां सिन्धुषष्ठानां नदीनां येऽन्तराश्रिताः।
तान् धर्मबाह्यानशुचीन् वाहीकानपि वर्जयेत् ॥ ७ ॥
पञ्च नद्यो वहन्त्येता यत्र पीलुवनान्युत।
शतद्रुश्च विपाशा च तृतीयैरावती तथा ॥३१॥
चन्द्रभागा वितस्ता च सिन्धुषष्ठा बहिर्गिरेः।
आरट्टा नाम ते देशा नष्टधर्मा न तान् व्रजेत् ॥३२॥
पञ्च नद्यो वहन्त्येता यत्र निःसृत्य पर्वतात्।
आरट्टा नाम वाहीका न तेष्वार्यो द्व्यहं वसेत् ॥४०॥

(कर्णपर्व, अध्याय ४०)

अर्थात् शतद्रु, विपाशा, ऐरावती, चंद्रभागा, वितस्ता (सतलज, व्यास, रावी, चुनाव, झेलम), इन पाँच नदियों के और छठी सिंधु के

बीच का देश वाहीक कहलाता था। इसी का दूसरा नाम 'आरट्ट' भी था। हिमालय की बहिर्गिरि-शृंखला के दक्षिण ओर का प्रदेश उपर्युक्त छः नदियों का क्रीड़ास्थल था। श्रीयुत जयचंद्रजी विद्यालंकार ने इस पहचान को स्थापित किया है कि हिमालय की गौरीशंकर, धवलागिरि, नंदादेवी आदि बड़ी चोटियों की रेखा से मैदान के सिरे तक की चौड़ाई तीन दरजों में बाँटी जा सकती है। इसमें फैली हुई पहाड़-पहाड़ियाँ नीचे से ऊपर की ओर क्रम से बाहरी शृंखला, भीतरी शृंखला और गर्भ-शृंखला कहलाती थीं। प्राचीन भारतवासी अपने यहाँ के इस महत्त्वपूर्ण भौगोलिक विभाग को पहचानते थे। बाहरी शृंखला अर्थात् मैदान से मिला हुआ उपत्यका-प्रदेश प्राचीन काल में उपगिरि कहलाता था। उसके ऊपर हिमालय की कम ऊँची चोटियाँ, जिन्हें पर्वतराज की निचली सीढ़ियाँ कहना चाहिए, जैसे कश्मीर की पीरपंचाल और हरमुक या हरमुकुट नामक चोटियाँ, काँगड़ा की धौलाधार, गढ़वाल की नागटिब्बा चोटी और नैपाल की महाभारत शृंखला, ये सब हिमालय की भीतरी शृंखला के अंतर्गत हैं। इन्हीं को छोटा हिमालय समझना चाहिए। इनका प्राचीन नाम बहिर्गिरि था। बहिर्गिरि के उत्तर में लगभग उसके समानांतर हिमालय की ऊँची चोटियों की शृंखला है जिसे गर्भ-शृंखला कहना चाहिए और जिसका प्राचीन नाम अंतर्गिरि था। कांचनजंघा, गौरीशंकर, गोसाँईथान, धवलागिरि, नंदादेवी, केदारनाथ, बंदरपूँछ आदि उत्तुंग भूधरशृंग अंतर्गिरि शृंखला के ही भाग हैं। (देखिए श्रीयुत जयचंद्र विद्यालंकार-कृत 'भारतभूमि और उसके निवासी', पृ० १०९ और ३११।)

महाभारत के सभापर्व में अंतर्गिरि, उपगिरि और बहिर्गिरि इन तीनों विभागों का वर्णन, अर्जुन की दिग्विजय-यात्रा के सिलसिले में, आया है[१] (सभापर्व अध्याय २७ श्लोक ३)। प्रस्तुत लेख के आरंभ में वाहीक देश की भौगोलिक परिभाषा के लिये जो कर्णपर्व का उद्धरण

१ अंतर्गिरिं च कौंतेयस्तथैव च बहिर्गिरिम्।
तथैवोपगिरिं चैव विजिग्ये पुरुषर्षभः ॥—सभापर्व २७।३।

दिया गया है उसमें कही हुई हिमालय की बहिर्गिरि नामक पर्वत-शृंखला का निश्चित भौगोलिक अर्थ ऊपर की व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है। एक ओर बहिर्गिरि और दूसरी ओर उससे निकली हुई सिंध तथा उसकी पाँच सहायक नदियों के फैले हुए पंजे के बीच का प्रदेश प्राचीन वाहीक भूमि था।

§ २ वाहीक ग्राम

वाहीक देश में स्थित ग्रामों का महत्त्व प्राचीन व्याकरणशास्त्र के ग्रंथों में कुछ प्रत्ययों के संबंध में देखा जाता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में ग्राम शब्द दो अर्थों में आया है। 'प्राचां ग्रामनगराणाम्' (७।३।१४) इस सूत्र में ग्राम और नगर दोनों शब्द साथ साथ पढ़े गए हैं। अवश्य ही यहाँ ग्राम गाँव के लिये और नगर शहर के लिये प्रयुक्त हुआ है। टीकाओं में ग्राम का उदाहरण 'इषुकामशमी' और नगर का उदाहरण 'पाटलिपुत्र' या 'कान्यकुब्ज' दिया हुआ है। कुछ दूसरे सूत्रों में ग्राम शब्द ग्राम और नगर दोनों के लिये प्रयुक्त हुआ है। 'वाहीकग्रामेभ्यश्च' (४।२।११७) इस सूत्र में जो ग्राम पद है वह शहर और गाँव दोनों का वाची है। इसमें प्रमाण यह है कि कास्तीर नामक वाहीक देश के स्थान को पतंजलि ने महाभाष्य में ग्राम कहा है—

'कास्तीरो नाम वाहीकग्रामः' (४।२।१०४)

इसी कास्तीर को पाणिनि ने 'कास्तीराजस्तुन्दे नगरे' (६।१।१५५) इस सूत्र में नगर कहा है। इससे मालूम होता है कि कास्तीर एक अच्छा शहर था और क्योंकि 'वाहीकग्रामेभ्यश्च' सूत्र उसमें लगता है, इसलिये उस सूत्र का ग्राम पद ग्राम और नगर दोनों के लिये प्रयुक्त समझा जाना चाहिए। अतएव वाहीक ग्रामों के जो उदाहरण दिए गए हैं उनमें न केवल ग्राम बल्कि पंजाब के नगर भी सम्मिलित थे।

पाणिनि ने वाहीक देश के ग्रामों का सामान्य वर्णन निम्नलिखित सूत्र में किया है—

'वाहीकग्रामेभ्यश्च' (४।२।११७)

अर्थात् वाहीक ग्रामवाची शब्दों से शेष अर्थ में ठञ् और ञिठ् प्रत्यय होते हैं। इससे अगला सूत्र है—

'विभाषोशीनरेषु' (४।२।११८)

अर्थात् उशीनर देश में जो वाहीक ग्राम हैं उनसे ऊपर कहे हुए प्रत्यय विकल्प से होते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि उशीनर देश पंजाब का ही एक भाग था। पूर्वोक्त सूत्र (४।२।११७) के उदाहरण में काशिकाकार ने शाकल, मांथव इन स्थानों का उल्लेख किया है, और उपर्युक्त सूत्र (४।२।११८) के उदाहरण में अह्वजाल और सुदर्शन नाम दिए हैं जिससे मालूम होता है कि पिछले दो उशीनर प्रदेश में थे।

§ ३ महाभाष्य की सामग्री

वाहीक ग्रामों के संबंध में सब से मूल्यवान् भौगोलिक सामग्री पतंजलि के महाभाष्य में पाई जाती है। 'अव्ययात्त्यप्' (४।२।१०४) इस सूत्र पर कात्यायन ने ३२ वार्त्तिकों में एक लंबा विवेचन किया है। उनमें से तीसरे और छब्बीसवें वार्तिकों के भाष्य में निम्नलिखित वाहीक ग्रामों का वर्णन है—

१. आरात् नाम वाहीकग्रामः।

२. कार्स्तीरो नाम वाहीकग्रामः।

३. दासरूप्यं नाम वाहीकग्रामः।

४. शाकलं नाम वाहीकग्रामः।

५. सौसुकं नाम वाहीकग्रामः।

६. पातानप्रस्थं नाम वाहीकग्रामः।

७. नान्दीपुरं नाम वाहीकग्रामः।

८. कौक्कुडीवहं नाम वाहीकग्रामः।

इनके अतिरिक्त 'जनपदतदवध्योश्च' (४।२।१२४) सूत्र की व्याख्या में पतंजलि ने निम्नलिखित एक नाम और दिया है—

९. मौञ्जो नाम वाहीकेषु ग्रामः।

१०. 'अव्ययात्त्यप्' सूत्र पर तीसरे वार्त्तिक के भाष्य में एक नाम और आता है जिसको स्पष्ट रूप से पतंजलि ने वाहीक ग्राम नहीं

कहा है, परंतु 'वाहीकग्रामेभ्यश्च' इस सूत्र से ठञ् और ञिठ् प्रत्यय लगाकर कारन्तविकी-कारन्तविका, ये दो रूप सिद्ध किए हैं। इससे यह निश्चित होता है कि इन रूपों के पीछे एक वाहीक ग्राम का नाम छिपा हुआ है।

'एङ् प्राचां देशे' (१।१।७५) सूत्र पर काशिकाकार ने देवदत्त नामक एक और वाहीक ग्राम का उल्लेख किया है—

११. देवदत्तो नाम वाहीकेषु ग्रामः।

अब हम ऊपर लिखे हुए प्राचीन स्थानों की यथासंभव भौगोलिक पहचान जानने का प्रयत्न करेंगे।

§ ४ (क) आरात्

पतंजलि की सूची में पहला नाम आरात् है। आरात् शब्द अव्यय भी है और एक वाहीक ग्राम का नाम भी। अव्ययवाची आरात् शब्द दूर और समीप इन दो अर्थों में आता है। वाहीक ग्राम के नामवाला आरात् शब्द अन्वितार्थक प्रतीत होता है। किसी दूसरे नगर के समीप में स्थित होने के कारण आरात् स्थान का यह विशेष नाम पड़ा। इसलिये प्राचीन आरात् नगर की जो भौगोलिक पहचान की जाय उसमें इन दो बातों की पूर्ति होनी चाहिए। एक तो भाषाशास्त्र की दृष्टि से पुराने और नए नामों में उच्चारण का साम्य हो। इस प्रकार का संबंध रहने से वह पहचान अधिक पुष्ट समझी जाती है। दूसरी बात यह कि भौगोलिक दृष्टि से प्राचीन आरात् के समीप में किसी दूसरे प्रसिद्ध नगर का होना आवश्यक है जिसके कारण आरात् यह नाम पड़ा हो।

आरात् = आर

हमारी समझ में प्राचीन आरात् नाम वाहीक ग्राम का वर्तमान प्रतिनिधि आर नामक स्थान है। यदि हम पंजाब के किसी मानचित्र को देखें तो उसमें नमक की पहाड़ी के पास खिउड़ा नामक स्थान मिलेगा। खिउड़े में नमक की सबसे बड़ी खान है। खिउड़े से उत्तर-पूर्व के कोने में १४ मील पर आर नामक स्थान है। तक्षशिला से आर

तक यदि एक सीधी रेखा खींची जाय तो लगभग ७२ मील की दूरी पड़ती है। सड़क के रास्ते से दोनों के बीच का अंतर अधिक है।

नमक की पहाड़ी के बीच के रास्ते

नमक की पहाड़ी के पश्चिमी सिरे पर हंडौत नामक स्थान है और पूर्वी सिरे पर दिलावर। हंडौत से दिलावर तक नमक की पहाड़ी को पार करने के लिये चार प्राकृतिक रास्ते हैं। उत्तर-पच्छिम से आनेवाले लोग इन्हीं में से किसी एक रास्ते से होकर नमक की पहाड़ी को पार करके पंजाब में आते थे। पच्छिम की तरफ से पहला रास्ता हंडौत से शुरू होकर खिउड़े की खान के पास उतरता है। हंडौत से मील भर उत्तर-पच्छिम झेलम नदी के किनारे पिंडदादनखाँ है। खिउड़ा-हंडौत का रास्ता उसी के साथ मिला हुआ है। यही सबसे पच्छिम का रास्ता है। इसके बाद पूरब की ओर को दूसरा रास्ता कुशक के पास से गुजरता है और तीसरा चानूवाला नामक स्थान के समीप से गया है। चौथा या अंतिम रास्ता, जो सबसे पूरब का रास्ता है, हमारे लिये सबसे महत्त्वपूर्ण है। नमक की पहाड़ी के पूर्वी पठार से एकदम उतरकर यह रास्ता बागाँवाला गाँव के पास से होता हुआ झेलम को पार करके नीचे मैदान में उतरता है। इस रास्ते के उत्तरी सिरे पर आर नामक स्थान है। यही प्राचीन आरात् था।

नमक की पहाड़ी के पूर्वी पठार में नंदन का प्रसिद्ध दर्रा है जिसके बीच में होकर आर और बागाँवाला रास्ता गुजरा है। आर से नंदन, नंदन से बागाँवाला और बागाँवाला से हरनपुर होता हुआ यह रास्ता जलालपुर को मिलाता है जो झेलम के किनारे है। जलालपुर से आर लगभग १७ मील की दूरी पर है। सर ऑरेल स्टाइन के मत में यही वह रास्ता है जिसमें से होकर २४०० वर्ष पूर्व सिकंदर की सेना ने सैंधव पर्वत को पार करके झेलम के किनारे छावनी डाली थी। और फिर, उसके १३०० वर्ष बाद इसी रास्ते से महमूद गजनवी ने आकर १०१४ ई० में भीमपाल शाही के साथ युद्ध किया था।

§ ४ (ख) नंदन

ऊपर कहा जा चुका है कि आरात् का नाम चरितार्थ होने के लिये उसके समीप में किसी दूसरे प्रसिद्ध स्थान का होना जरूरी था। इस दूसरे महत्त्वपूर्ण स्थान का नाम नंदन था। नंदन के पहाड़ी दुर्ग के समीप में स्थित होने के कारण ही आरात् का यह नाम पड़ा। नंदन का किला एकदम खड़ी हुई पहाड़ी के ऊपर था। उसकी भौगोलिक स्थिति इतनी मजबूत थी कि जब तक उसकी रक्षा के लिये मनुष्य रहते तब तक उस पहाड़ी दर्रे में से सवार तो क्या पैदलों का आना-जाना भी असंभव था। महमूद गजनवी के हमले को रोकने के लिये भीमपाल शाही ने अपनी सेना को नंदन के दुर्ग में हटा लिया था। मुसलमानी इतिहास-लेखकों ने लिखा है कि नमक की पहाड़ी से गंगा की अंतर्वेदी की ओर आनेवाले रास्ते पर नंदन के नाके का एकछत्र अधिकार था। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि भारतवर्ष के प्राच्य और उदीच्य इन दो विभागों को मिलानेवाला जो राजमार्ग था—जिसका उल्लेख पाणिनि ने उत्तरपथ (उत्तरपथेनाहृते च ५।१।७७) के नाम से किया है—उस पर आरात् और नंदन ये दो स्थान सिंहद्वार के रक्षक की भाँति स्थित थे[१]। नंदन भी प्राचीन नगर था। व्याकरण साहित्य में नंदन का निश्चित और स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, संभवतः उसकी आवश्यकता नहीं पड़ी। परंतु नंदन नाम पाणिनि के समय में प्रचलित हो गया था। यह बात क्षुभ्नादिगण (८।४।३९) में इस वाक्य से ज्ञात होती है—'नंदिन नंदन नगर एतान्युत्तरपदानि संज्ञायां प्रयोजयन्ति।' अर्थात् नंदिन्, नंदन और नगर ये पद नामों के अंत में जुड़ते हैं; जैसे हरिनंदन, गिरिनगर। भगवान् पाणिनि भारतीय अनुश्रुति के अनुसार नंद राजाओं

१—आर और नंदन का विस्तृत भौगोलिक वर्णन डा० ऑरल स्टाइन ने अपनी पुस्तक Archæological Reconnaisance in North-West India and South-Eastern Iran, 1937, के २४-४४ पृष्ठों में किया है। भौगोलिक वर्णन के लिये हम उनके ऋणी हैं। परंतु आरात् और आर की पहचान पहली बार इस लेख में ही सुझाई गई है।

के समकालीन थे। नंद राजाओं के समय में नंदिन् और नंदन इन दोनों पदों का नामों के साथ प्रचार अवश्य हो गया था।

§ ५ कास्तीर

लाहौर जिले का कसूर नामक स्थान प्राचीन कास्तीर जान पड़ता है। कास्तीर नाम का जो तीर पद है वह इस बात को सूचित करता है कि यह स्थान कभी नदी के किनारे के समीप हो था। कसूर सतलज के दाहिने किनारे से केवल ३–४ मील हटा हुआ है। अमृतसर से कराची को सतलज के किनारे किनारे जानेवाली रेल लाइन कसूर होकर गई है। कसूर की वर्तमान स्थिति व्यास नदी की एक छोड़ी हुई पुरानी धार पर है। संभव है, व्यास का सतलज के साथ संयोग पहले इसी स्थान पर होता रहा हो।

§ ६ शाकल

पतंजलि ने जिन वाहीक ग्रामों का उल्लेख किया है उनमें शाकल सबसे प्रसिद्ध था। महाभारत के अनुसार शाकल आपगा नदी पर स्थित था। मद्र देश की राजधानी यहीं थी। श्रीयुत कनिंघम ने शाकल की पहचान साँगल-वाला-टीबा स्थान से की थी। यह जगह पंजाब के झंग जिले में रावी के पच्छिम है। उनके अनुसार इसके आस-पास का प्रदेश आज तक मद्र देश कहलाता है। परंतु शाकल की दूसरी पहचान वर्तमान स्यालकोट (सिआलकोट) के साथ की गई है और यही अधिक संभव जान पड़ती है।

§ ७ सौसुक

सौसुक का नाम महाभाष्य के अतिरिक्त कात्यायन के एक वार्तिक में भी आया है —

'अकेकांतग्रहणे कोपधग्रहणं सौसुकाद्यर्थम्।'

(सूत्र ४।२।१४१ का भाष्य)

सौसुक के रहनेवाले को सूचित करने के लिये प'जलि ने 'सौसुकीय' पद सिद्ध किया है। सौसुक की पुरानी पहचान के संबंध में यूनानी भूगोल-लेखक टालमी के आधार पर कुछ कुछ टोह मिलती है। इतना

कहा जा सकता है कि यह स्थान सिंधु नद के किनारे था। टालमी ने सिंधु नद के किनारे बारह शहरों के नाम गिनाए हैं। यथा—

१. एंबोलिम (Embolima)। ७. पर्दबोथ् (Pardabothra)।
२. पेंटाग्रम्म (Pentagramma)। ८. पिस्का (Piska)।
३. असिग्रम्म (Asigramma)। ९. पसिपद (Pasipeda)।
४. टिआँसा (Tiansa)। १०. सौसिकन (Sousikana)।
५. अरिस्टोबोथ् (Aristobothra)। ११. बनिस् (Bonis)।
६. अज़िक (Azika)। १२. कोलक (Kolaka)।

इन बारह नामों में से पंचग्राम और असिग्राम प्रत्यक्ष ही संस्कृत के अति निकट हैं। अरिस्टोबोथ् की पहचान अरिष्टपुत्र या अरिष्टपुर के साथ होना संभव है। पाणिनि में अरिष्टपुर का उल्लेख है। बौद्ध-साहित्य में शिवि देश की राजधानी अरिट्ठपुर का बहुत बार उल्लेख है। अन्य नामों के संबंध में भी प्राचीन साहित्य से खोज होना बाकी है। चौथा नाम टिआँसा है। इसकी स्थिति सिंधु नद के किनारे निश्चित है। वर्तमान टौंसा नगर डेरागाजीखाँ से कुछ कम ५० मील उत्तर सिंध के दाहिने तट पर है। विहोवा, लूणी और संगर नदियों की धाराएँ सुलेमान पर्वत-शृंखला को बीचोबीच से चीरकर आती हुई सम्मिलित होकर जहाँ सिंध में मिलती हैं वहाँ टौंसा नगर है। प्राचीन टिआँसा का यही प्रतिनिधि है। इसका संस्कृत नाम अभी हमारी दृष्टि में नहीं आया। पर अवश्य ही यह कोई प्रसिद्ध स्थान रहा होगा।

टालमी का दसवाँ नाम सौसिकन है। स्पष्ट ज्ञात होता है कि यही प्राचीन सौसुक नगर है। इसका उल्लेख टौंसा के बाद है। इसलिये टौंसा से नीचे उतरकर कहीं सिंध नद के किनारे सौसुक की स्थिति रही होगी। पाणिनि ने अरीहणादि गण (४।२।८०) में सौसायन की गिनती की है। उससे 'सौसायनक' नाम सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है सौसायन का बसाया हुआ नगर या स्थान। टालमी का सौसिकन सौसायनक के अधिक निकट है। गणरत्नमहोदधि के कर्ता वर्धमान ने सौसायन पद को सौस में आयन (=फण् प्रत्यय)

जोड़ कर सिद्ध किया है[१]। यही मूल सौस शब्द सौसुक में भी पाया जाता है। प्रत्ययभेद से सौसायनक और सौसुक एक ही स्थान के नाम जान पड़ते हैं।

§ ८ पातानप्रस्थ

पाणिनि ने भौगोलिक स्थानों के नामों के अंत में आनेवाले कुछ विशेष शब्दों की गणना की है, जैसे—कन्था, पलद, नगर, ग्राम, ह्रद, प्रस्थ, पुर, वह, तीर, रूप्य, कच्छ, अग्नि, वक्त्र, गर्त और अर्म।[२] इनमें से प्रस्थ एक है। यही पातानप्रस्थ के अंत में है। प्रस्थ को अलग करने से मूल नाम पातान बचता है। पंजाब में पठानकोट एक प्रसिद्ध स्थान है। देखने में यह नाम मध्ययुग का जान पड़ता है। परंतु वास्तविक बात ऐसी नहीं है। केवल 'कोट' उत्तरपद मध्यकालीन है। शेष नाम पठान बचता है। उसका पठान जाति से कोई संबंध नहीं है। कनिंघम साहब ने अनुसंधान करके लिखा था[३]—

"पठान का उच्चारण पैठन भी है। रोह या अफगानिस्तान के पठानों से इस नाम का कुछ संबंध नहीं है।" अपनी प्रसिद्ध पुरातत्त्व-रिपोर्टों की पाँचवीं जिल्द में उन्होंने विशेष रूप से लिखा है—

"पठानकोट का प्राचीन किला मेरी समझ में पंजाब के सब से प्राचीन स्थानों में है। ऊपरी पहाड़ी प्रदेशों और नीचे के मैदानों के

१—'क्रौष्ठ-धैामत-सौमैन्दु-सौस-कौदाः फणन्तकाः।'—गणरत्नमहोदधि, श्लोक २८६।

२—(१) 'प्रस्थपुरवहान्ताच्च।' ४।२।१२२।
(२) 'प्रस्थोत्तरपदपलद्यादिकोपधादण्।' ४।२।११०।
(३) 'तीररूप्योत्तरपदाञ्ञौ।' ४।२।१०६।
(४) 'कच्छाग्निवक्त्रगर्तोत्तरपदात्।' ४।२।१२६।
(५) 'कन्थापलदनगरग्रामह्रदोत्तरपदात्।' ४।२।१४२।
(६) 'अर्मे।' ६।२।६०-६१।

३—"The name is also written Paithan and is quite unconnected with that of the Pathans of Roh." [A.S.R., XIV, p. 116]

बीच में आवागमन के मार्ग पर होने से पठानकोट की स्थिति व्यापारिक मंडी बनने के लिये विशेष अनुकूल थी। व्यास और रावी नदी जहाँ मैदान में उतरी हैं, वहाँ उनके बीच में जो १६ मील चौड़ी घाटी है उसी के मध्य में पठानकोट बसा है। काँगड़ा और चंबा के पहाड़ी इलाकों और लाहौर-जालंधर के मैदानों के बीच का यही बड़ा बाजार बन गया था। इस स्थान के नाम का अफगानी पठानों से कुछ वास्ता नहीं है। यह ठेठ हिंदू शब्द है जो 'पथन' (=मार्ग) से बना है; क्योंकि यहाँ मुख्य मुख्य मार्ग आकर मिलते थे[१]।"

कनिंघम का यह कहना महत्त्वपूर्ण है कि पठान का एक उच्चारण पैठन या पैथन भी था और यह नाम ठेठ हिंदू-युग का है। मार्गवाची 'पथन' शब्द से उसकी व्युत्पत्ति न करके हमारी समझ में 'पातान' से पठान या पथान का संबंध अधिक संभव और ऐतिहासिक दृष्टि से उचित जान पड़ता है। उस दशा में प्राचीन पातानप्रस्थ ही वर्तमान पठानकोट हो सकता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में व्यापारी मंडी के

१—"The old fort of Pathankot is, I believe, one of the most ancient sites in the Punjab, as its position is especially favourable as a mart for the interchange of produce between the hills and plains. Situated in the middle of the narrow neck of land, only 16 miles in width which divides the valleys of the Beas and Ravi, at the point where they leave the hills, Pathankot naturally became the great emporium between the two rich valleys of Kangra and Chamba in the hills, and the great cities of Lahore and Jalandher in the plains. The name of the place is said to have no reference to the Pathan Afghans, but is a genuine Hindū word derived from Pathan—a road—as if it was intended to describe the great meeting of the roads which here takes place." (Arch. Survey Report, Vol. V. p. 153)

लिये संस्कृत शब्द 'पत्तन' आता है (अर्थशास्त्र पृ० १२६)। पत्तन और पातान एक ही मूल शब्द से बने जान पड़ते हैं।

पठानकोट प्राचीन औदुंबर राज्य की राजधानी थी। श्री जयचंद्रजी ने यूनानी लेखकों के Patalene (आधुनिक हैदराबाद) के साथ पातानप्रस्थ की समता की है ('भारतीय इतिहास की रूपरेखा', भाग २, पृ० ५४३), पर क्योंकि पातानप्रस्थ वाहीक ग्राम था, इसलिये यह पहचान मान्य नहीं कही जा सकती। पंजाब की पहाड़ी रियासतों में एक नूरपुर है जो लगभग प्राचीन औदुंबर जनपद की जगह है। इस रियासत का राजवंश अभी तक 'पठानिया' कहलाता है। साथ ही वे यह भी मानते हैं कि इस शब्द का अथवा उनका कुछ भी संबंध पठानों के साथ नहीं है। डा० कुमारस्वामी का अनुमान था कि शायद प्राचीन प्रतिष्ठान से पठानिया निकला हो (Rajput Paintings in Boston Museum, Catalogue, Vol. V, p 6, footnote), परंतु हमारे मत में पातान नामक वाहीक ग्राम से ही, पठन या पठानिया आदि नाम अधिक संभव मालूम पड़ते हैं।

§ ९ कौक्कुडीवह

कौक्कुडीवह में 'वह' उत्तरपद है। वाहीक की तरह 'वह' का संबंध भी नदी के प्रवाह से जान पड़ता है। नदी-तट के पासवाले स्थानों के नामों के आगे 'वह' पद का जोड़ा जाना संभव है। कौक्कुडीवह का अपभ्रंश वर्तमान कहरोड़ प्रतीत होता है। यह एक प्राचीन स्थान है। कहा जाता है, यहाँ पर शक और शालिवाहन राजाओं का युद्ध हुआ था। कहरोड़ सतलज की एक पुरानी धार पर है जिसे अब भटिआरी नाला कहते हैं। यह स्थान वर्तमान सतलज के दाहिने किनारे से आठ मील हटा हुआ है। परंतु प्राचीन काल में यह सतलज के किनारे पर ही था जिससे इसके अंत का 'वह' पद चरितार्थ होता था।

§ १० कारंतु

ऊपर कहा जा चुका है कि 'अव्ययात्त्यप्' (४।२।१०४) सूत्र के तीसरे वार्त्तिक के भाष्य में पतंजलि ने कारंतविकी, कारंतविका (कारंतु की रहनेवाली स्त्री) उदाहरण दिए हैं। उन्होंने 'वाहीकग्रामेभ्यश्च' सूत्र से इस शब्द में ठञ् और ञिठ् प्रत्यय किए हैं। इसलिये ये रूप (४।२।११७) अवश्य ही किसी वाहीकग्रामवाची शब्द से बने हैं।

महाभारत वनपर्व में एक महत्त्वपूर्ण श्लोक में कुरुक्षेत्र की सीमाएँ बताई गई हैं—

तरन्तुकारन्तुकयोर्यदन्तरं रामह्रदानां च मचक्रुकस्य च।
एतत् कुरुक्षेत्रसमन्तपञ्चकं पितामहस्योत्तरवेदिरुच्यते॥

—वनपर्व, अ० ८३, श्लोक २०८।

अर्थात् तरंतु और कारंतुक के तथा रामह्रद और मचक्रुक के बीच का जो प्रदेश है वह कुरुक्षेत्र है। इसी को समंतपंचक भी कहते हैं। यही ब्रह्मा की उत्तरवेदि है।

इसमें वर्णित कारंतुक या कारंतु ही वह वाहीक ग्राम है जिससे पतंजलि ने कारंतविकी सिद्ध किया है। तरंतु और कारंतु दोनों में स्वार्थवाची क प्रत्यय जोड़कर तरंतुक और कारंतुक भी रूप बन सकते थे। महाभारत में बताए चार नामों की पहचान, संभव है, कुरुक्षेत्र-माहात्म्य-ग्रंथों के द्वारा की जा सके। तरंतु शायद तरैन हो, जहाँ पृथिवीराज और मुहम्मद-बिन-साम का युद्ध हुआ था। यह स्थान पानीपत से ३० मील उत्तर है। श्रीयुत जयचंद्रजी ने लिखा है कि तरैन नाम अशुद्ध है, इसका ठीक नाम तरावड़ी है। ('भारतभूमि', पृ० ५३, पादटिप्पणी)

§ ११ अन्य नाम

दासरूप्य, नांदीपुर, मौंज और देवदत्त इन वाहीक ग्रामों की भौगोलिक पहचान अभी हमारे ध्यान में नहीं आई है। पाणिनि ने

पलद्यादिगण (४।२।११०) में गौष्ठी और नैतकी नाम भी पढ़े हैं। काशिकाकार के अनुसार ये दो नाम भी वाहीकग्रामवाची हैं—

'पलद्यादिषु यो वाहीकग्रामस्ततष्ठञ्ञिठयोरपवाद:, यथा गौष्ठी नैतकीति।'

अर्थात् पलद्यादि गण में जो वाहीक ग्रामों के नाम पढ़े गए हैं उनसे ठञ् ञिठ् प्रत्यय का निषेध पलद्यादि सूत्र से होगा, जैसे गौष्ठी नैतकी में। इससे सिद्ध हुआ कि ये दो वाहीक ग्राम थे। पर इनकी भी भौगोलिक पहचान अभी अपेक्षित है।

महाकवि कल्हण कृत राजतरंगिणी

[लेखक—श्री विजयबहादुर श्रीवास्तव, बी० एस्-सी०, एल्-एल० बी०]

भारत के प्राचीन इतिहास के आधार केवल कुछ ताम्रपत्र तथा शिलालेख, सिक्के, यात्रियों के वर्णन, पुराणों की कथाएँ, किंवदंतियाँ और काव्यग्रंथ हैं। इतिहास की दृष्टि से लिखे गए ग्रंथ बहुत थोड़े ही हैं। उनमें राजतरंगिणी अथवा कश्मीर का (आदिकाल से सन् ११५१ के आरंभ तक का) इतिहास सर्वश्रेष्ठ है।

इसका लेखक महाकवि कल्हण तत्कालीन महाराज विजयसिंह के मंत्री चंपक का पुत्र था। उसने सन् ११४८ से लेकर सन् ११५१ के आदि तक लगभग दो वर्ष में इस ग्रंथ की रचना की। संपूर्ण ग्रंथ काव्य-गुणों से ओत-प्रोत है तो भी उसमें ऐतिहासिक तथ्यों का बहुत संरक्षण किया गया है।

ग्रंथ आठ बड़े बड़े खंडों में विभाजित है। ये तरंगें कही गई हैं। इनमें श्लोकों की संख्या इस प्रकार है:—प्रथम—३७३; द्वितीय—१७१; तृतीय—५३०; चतुर्थ—७२०; पंचम—४८३; षष्ठ—३६८; सप्तम—१७३२; अष्टम—३४४९: योग—७८२६।

प्रथम तीन तरंगों में बहुत प्राचीन काल से लेकर कर्कोटक नाग-वंश के राजाओं का इतिहास है। चौथी तरंग केवल कर्कोटक-वंश से संबंध रखती है। इस वंश में ललितादित्य और जयापीड दो महा-प्रतापी राजा हुए हैं। पाँचवीं तरंग में 'वर्मन्' नामांतक राजाओं का इतिहास है। इनमें प्रथम राजा अवंतिवर्मन् और द्वितीय शंकरवर्मन् उल्लेखनीय हैं। छठी तरंग यशस्कर नामक एक ब्राह्मण राजा से आरंभ होती है और दिद्दा नाम की एक रानी से समाप्त होती है। इनके अतिरिक्त अभिमन्यु नामक एक राजा और उल्लेखनीय है। सातवीं तरंग में वर्णित राजाओं में अनंत, कलश और हर्ष के चरित अपने ढंग

के निराले हैं। अंतिम तरंग में उच्चल, सुस्सल और विजयसिंह के इतिहास ने अधिकांश ले लिया है।

पूरी पुस्तक में, आरंभ के प्रागैतिहासिक-कालीन बावन राजाओं को छोड़कर, सबका राज्य-काल वर्षों, महीनों और दिनों तक में सतर्कता से दिया गया है। संवत्सर पहली चार तरंगों में नहीं दिए गए, किंतु चतुर्थ तरंग के श्लोक ७०३ से लौकिक संवतों का उल्लेख करते हुए घटनाएँ वर्णित की गई हैं। अत: संपूर्ण घटनाओं तथा व्यक्तियों का समय सुविधा और पर्याप्त शुद्धि से निश्चय किया जा सकता है। किंतु पहली तीन तरंगों में अनेक राजाओं का जो राज्यकाल दिया गया है वह अवश्य बहुत अशुद्ध है।

श्री शंकर पांडुरंग पंडित एम्० ए० ने सन् १८८७ में वाकपति के प्राकृत महाकाव्य 'गड्डवहो' का संपादन करते समय वाक्पति का समय निश्चित करने में राजतरंगिणी का सहारा लिया था। उस संबंध में उन्होंने कर्कोटकवंशोद्भव महाराज ललितादित्य का समय निकाला और राजतरंगिणी की संपूर्ण काल-योजना पर विद्वत्तापूर्वक गंभीर विचार किया। अपनी भूमिका के ७४ से ७६ और ८६ से ६१ पृष्ठों में विवेचन करने के उपरांत उन्होंने दो सूचियाँ दी हैं। ये ऐतिहासिक काल मात्र से संबंध रखती हैं और ईसवी पूर्व ११८४ से लेकर ईसवी सन् ११५१ तक का समय लेती हैं। इन्हीं तिथियों को, सम्मान करते हुए, श्री रणजीत सीताराम पंडित ने अपने ग्रंथ River of Kings में उद्धृत किया है।

इस सूची पर दृष्टि डालते हुए एक नाम बहुत परिचित प्रतीत होता है। वह है मिहिरकुल अथवा त्रिकोटक। राजतरंगिणी में पहली तरंग के २८९ से ३२४ वें श्लोक तक इसकी निष्ठुरता और दुराचारों का वर्णन किया गया है। इसे म्लेच्छवंशज तथा प्रचंड शैव बतलाया गया है। यह भी वर्णन है कि इसने कर्नाट, चोल तथा लंका तक अपनी विजय-पताका फहराई। इसके द्वारा तीन करोड़ मनुष्यों का वध होने से इसे 'त्रिकोटक' नाम दिया गया था।

इनमें से बहुत-सी घटनाएँ और नाम प्रसिद्ध हूणराज मिहिरकुल से मिलती-जुलती हैं और अनेक विद्वानों ने इसे तोरमाण का पुत्र प्रसिद्ध मिहिरकुल हूण ही माना है। किंतु जब समय पर ध्यान देते हैं तो वह बहुत अशुद्ध मिलता है। श्री पंडित की गणना के अनुसार वह ईसवी पूर्व ७०७ से ६३७ तक आता है[१]। किंतु इतिहासकारों ने अन्य आधारों से उसे ई० सन् ५२८ के लगभग निश्चित किया है। अतः लगभग बारह सौ वर्षों का अंतर पड़ जाता है।

यही हाल प्रागैतिहासिक राजाओं का है। उनमें अशोक और कनिष्क के नाम उल्लेखनीय हैं। ये दोनों राजतरंगिणी में बौद्ध-धर्म के प्रसिद्ध स्तंभ के रूप में ही वर्णित हैं। कनिष्क को प्रसिद्ध दार्शनिक नागार्जुन का समकालीन बतलाया गया है (त० १, श्लो० १७३)। अशोक के द्वारा प्रसिद्ध श्रीनगर तथा बहुत से विहार, चैत्य और स्तूपों की रचना का उल्लेख है। यहाँ तक सब ठीक है। किंतु जब हम उनके समय पर दृष्टि डालते हैं तो ऐतिहासिक गोनंद तृतीय के चार पीढ़ी पूर्व अशोक और दो पीढ़ी पूर्व कनिष्क आते हैं। यह असंभव है; क्योंकि गोनंद तृतीय का राज्यकाल ई० पूर्व ११८४ से ११४९ तक निकलता है। वे कोई अन्य अशोक और कनिष्क भी नहीं हो सकते; क्योंकि उस प्राचीन काल में तो भगवान् बुद्ध तक का जन्म नहीं हुआ था फिर राजतरंगिणी के अशोक और कनिष्क बौद्ध कैसे हो सकते थे? यह समय-संबंधी भूल ही है।

अशोक के संबंध में यह भी उल्लिखित है कि उसने विजयेश और अशोकेश्वर नामक दो शिव-मंदिर बनवाए (त० १, श्लो० १०६) और उसने भूतेश की कठिन तपस्या की जिसके फल-स्वरूप एक पुत्र पाया (त० १, श्लोक १०७)। प्रसिद्ध महाराज अशोक विख्यात होते हुए शिव की तपस्या में मग्न हों यह संदेहास्पद है। इसके

१—स्टीन के गणनानुसार मिहिरकुल का समय ई० पू० ७०४ से ६३४ तक है। इससे लगभग बारह सौ वर्ष का अंतर पड़ता है।

अतिरिक्त राजतरंगिणी में किए गए वर्णन से ऐसी ध्वनि निकलती है कि अशोक कश्मीर में ही निवास करते थे। यह भी असंगत है; क्योंकि उनकी पैतृक राजधानी पाटलिपुत्र थी जहाँ उनके महल शताब्दियों तक विद्यमान रहे। अशोक के पितामह का नाम शकुनि बतलाया है किंतु हम जानते हैं कि वे महाराज चंद्रगुप्त के पौत्र थे।

कनिष्क के राज्यांतर्गत जहाँ नागार्जुन का उल्लेख किया है वहीं कल्हण ने यह भी बतलाया है कि शाक्यसिंह को निर्वाण पाए तब केवल एक सौ पचास वर्ष हुए थे। नागार्जुन ईसा की पहली शताब्दी में था। अत: उक्त डेढ़ सौ वर्षों का उल्लेख भी त्रुटिमय है। इसी प्रकार रणादित्य को तीन सौ वर्षों का जो समय दिया गया है वह भी अमान्य है। बहुत सी घटनाएँ अंधविश्वास से भरी हुई तथा असंभव दिखती हैं। ये पहली तीन तरंगों में प्रचुरता से हैं। किंतु इनके उपरांत हम आश्चर्यजनक परिवर्तन पाते हैं।

जब हम कल्हण के आधारों और समय पर विचार करते हैं तब ये भूलें क्षम्य दिखती हैं और वे राजतरंगिणी की ऐतिहासिक उपयोगिता में बाधक नहीं होतीं।

मंगलाचरण के उपरांत इतिहासकार ने कविगुण वर्णन किए हैं। उनमें कवि की निष्पक्षता तथा यथार्थ गुण-दोष-निर्देश पर बहुत जोर दिया है। सातवें श्लोक में स्पष्ट कहा है कि केवल वही व्यक्ति प्रशंसा का पात्र है जो न्यायाधीश के समान निष्पक्ष होकर गत घटनाओं का यथार्थ वर्णन करे। तदुपरांत आठवें श्लोक से चौबीसवें तक अपनी आधारभूत सामग्री का वर्णन किया है। इनमें सुव्रत, क्षेमेंद्र, ग्यारह अन्य विद्वान्, नीलमतपुराण तथा हेलाराज नामक पाशुपति का उल्लेख है। अंतिम की पार्थिवावली, बारह हजार श्लोकों का बृहत् ग्रंथ, भी श्लोक नं० १७–१८ में उल्लिखित है और यह भी उल्लेख है कि इसका उपयोग पद्ममिहिर नाम के एक अन्य इतिहासकार ने किया था। अशोक से अभिमन्यु तक राजाओं का ज्ञान उसे छविल्लाकार नामक कवि से (तथा संभवत: अन्य आधारों से भी)

प्राप्त हुआ था। किंतु उनका समय वह निश्चित नहीं कर सका। और इसी लिये आरंभ के भूले बावन नरेशों में इन्हें दूसरों के ही अनुसार सम्मिलित करना पड़ा। इनके अतिरिक्त दान-पत्रों और शिला-लेखों का भी उसने अध्ययन किया और फिर बहुत तर्क-वितर्क के उपरांत यह ग्रंथ लिखा। संभवत: पहली चार तरंगों में उल्लिखित राजाओं के विषय में उसे कोई संवत् प्राप्त नहीं हुए और पहली तीन तरंगों की सामग्री के लिये ठीक से राज्य-काल भी नहीं मिला। जो कुछ भी मिला उसके संशोधन के लिये उसके पास यथेष्ट साधन नहीं थे। अत: कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं। इतना होने पर भी कल्हण की सतर्क दृष्टि, उसके घोर परिश्रम तथा अनेक ग्रंथों के अध्ययन पर विचार करते हुए जो कुछ भी प्राप्त है वह बहुत है। उसमें सत्य का अंश और आधार बहुत होना चाहिए। जब हम कल्हण के ही मुँह से सुन लेते हैं कि उसका उद्देश्य इतिहास ही लिखने का था और उसने इतिहासकार का ही दृष्टिकोण आरंभ से अंत तक रखा है, तब ग्रंथ की बहुमूल्यता और भी बढ़ जाती है।

कल्हण द्वारा दिए गए लेखकों के नामों तथा उनके ग्रंथों के उल्लेखों से पता चलता है कि कश्मीर में इतिहास-लेखन की प्रथा बहुत पहले से प्रचलित थी और इस विषय पर उत्कृष्ट ग्रंथ थे। राज-तरंगिणी को देखने से इतिहास-विषयक ज्ञान, कला और अभिरुचि का अच्छा पता चलता है। लोगों में इतिहास-प्रेम बहुत बढ़ा-चढ़ा था। अन्यथा इतने इतने बड़े ग्रंथों का आदर कौन करता?

ग्रंथ के विषय-प्रवेश के पहले एक बात और जान लेना आवश्यक है। वह यह कि यद्यपि ग्रंथ इतिहास का है किंतु काव्य-शैली होने के कारण उसमें जहाँ-तहाँ कवि-कल्पना, रस, अलंकार और भावों के समावेश हुए हैं। फलत: कहीं कहीं अत्युक्ति, अति-शयोक्ति आदि दोष दीख पड़ते हैं जिनसे ग्रंथ के मूल उद्देश्य को हानि होती है। इन्हीं के साथ साथ तत्कालीन विचारधारा और संकुचित भौगोलिक तथा वैज्ञानिक ज्ञान की भी छाप उसमें लगी है जिसके कारण

अनेक वर्णन असंगत और त्रुटिपूर्ण हैं। किंतु इन्हें पढ़कर हम सच्चे निष्कर्ष पर सरलता से पहुँच जाते हैं। ये बातें हम प्राय: सभी प्राचीन इतिहासकारों में पाते हैं। फिरिश्ता और अबुल-फजल तक इनसे अछूते नहीं हैं। फिर कल्हण तो उनसे सैकड़ों वर्ष पूर्व थे।

कल्हण ने अपने ग्रंथ के एक छोर से लेकर दूसरे तक सर्वत्र अपने विषय को अच्छी तरह से निबाहा है। उसके प्रतिपादन में उसने राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक पहलुओं पर दृष्टि रखी है। प्रत्येक राजा की वार्ता में उसने उसके युद्ध-संबंधी, धर्म-संबंधी, प्रजोपकारी तथा व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं का वर्णन किया है। यह भी बतलाया है कि प्रजा की ओर उसकी नीति कैसी रही और प्रजा पर उसका क्या प्रभाव पड़ा तथा समय समय पर जो क्रांतियाँ हुईं उनका सच्चा चित्र खींचा है। राजतरंगिणी में तत्कालीन समाज का अच्छा चित्र मिलता है और वह भी भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से। विद्वानों की परिस्थिति, मान अपमान, उनमें के प्रसिद्ध लोगों के नाम, उनका राजा से संबंध, उनके विचार और ग्रंथों के नाम तक उसमें उल्लिखित हैं। किंतु यह सब बतलाते बतलाते कल्हण एकाएक सैकड़ों, हजारों वर्ष पुराने पारस्परिक वार्तालाप तथा स्वगत चिंतन का सूक्ष्म वर्णन करने लगता है तब उसके कथन पर संदेह होने लगता है। किंतु उनसे ऐतिहासिक तथ्य के समझने में कोई बाधा नहीं होती। वे केवल व्यक्तिविशेष की मानसिक परिस्थिति का बोध कराने को रखे गए हैं।

राजतरंगिणी के राजाओं में हम आदि से लेकर अंत तक कुछ बातों में एकरूपता पाते हैं। प्रत्येक राजा राज्य प्राप्त करने के उपरांत या तो स्वदेश में ही उद्दंड आश्रितों के दमन में लग जाता है अथवा दिग्विजय की इच्छा से विदेश को जाता है। यह प्रवृत्ति हम समय के आरोह के साथ साथ घटती पाते हैं और उसके स्थान में आंतरिक कलह की वृद्धि देखते हैं। इन बातों के उपरांत राजागण मंदिर बनवाने और नगर बसाने में लग जाते हैं। यह प्रथा कुछ ऐसी चल पड़ती है कि नए नगरों की संख्या बहुत बढ़ती दिखती है और

पुरानों की गिरती जाती है। कुछ राजा अपने नए नगरों को सजाने के लिये पुरानों का धन, सौंदर्य और व्यापार बलात् छीनते हैं। केवल राजा ही नई रचनाएँ नहीं कराते प्रत्युत उनकी रानियाँ और मंत्रिगण भी उनसे बिलकुल पीछे नहीं रहना चाहते। अत: यदि एक विहार या मंदिर राजा बनवाता है तो दस रानियों और मंत्रियों के बनवाए मंदिरों या विहारों का योग हो जाता है। प्राय: प्रत्येक ही उनका नाम अपने नाम के अनुसार रखाता है।

कुछ इने-गिने राजाओं को छोड़कर शेष सब प्रजोपकारी कार्यों की उपेक्षा करते हैं। बहुधा प्रजा पर कड़े कर लगाए जाते हैं और उसका पीड़न किया जाता है। राजा अधिकतर भोग-विलास में लिप्त रहता है। उसके अनेक पत्नियाँ होती हैं। इनमें से कुछ नीच कुछ ऊँच सभी जातियों की मिलती हैं। कुछ उदाहरणों में रानियाँ बहुत बलवती मिलती हैं और राजा के जीवनकाल में ही अपने प्रभुत्व से अनेक राजनैतिक परिवर्तनों की कारण होती हैं। किसी किसी में व्यभिचार-वृत्ति भी बहुत बढ़ी दिखती है। किंतु ऐसे उदाहरण इने-गिने ही हैं।

साधारण प्रजा राज-कार्य तथा राजनैतिक उत्थान-पतनों से उदासीन दिखती है। जैसे जैसे हम निम्न श्रेणी में जाते हैं, यह प्रवृत्ति बढ़ती देखते हैं, किंतु ऊपर की ओर इसकी क्षति होती जाती है। डामर-संज्ञायुक्त संपन्न ग्रामीण बहुधा राजाओं के भय के कारण होते हैं और ये अनेक बार राजाओं को गद्दी पर बिठालने और हटाने में सफल हुए मिलते हैं।

प्रजा पर (विशेषकर डामरों की ओर) राजाओं का रुख बहुधा कड़ा रहता था। ललितादित्य ने अपने राजनीति के उपदेश में स्पष्ट बतलाया है कि लोगों के साथ ऐसा व्यवहार किया जाए जिससे कि वे धन एकत्र करके डामर (संपन्न कृषक) न बन पाएँ। जहाँ तक हो, उनके पास मोटी-मोटी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अन्न, वस्त्र तथा बैल आदि से अधिक सामग्री न हो पाए। जब कभी धनवान् होने

का संदेह हो, राजा को उन पर जुर्माना करके उनका धन अपहरण कर लेना चाहिए इत्यादि (त० ४, श्लो० ३४६ से ३५३ तक)।

प्रजा भी, जहाँ तक हो सकता था, अवसर मिलने पर राजा का विरोध करने में नहीं चूकती थी। ब्राह्मण लोग उनके मुखिया रहते थे। अनेक अवसरों पर हम उन्हें स्पष्ट शब्दों में राजा को धमकियाँ देते हुए पाते हैं। जयापीड से नाराज होकर उन्होंने कुछ उसके विरुद्ध व्यंग्यात्मक श्लेषमय सूत्रों की रचना की थी जिनका वे पतंजलि के महाभाष्य के साथ ही साथ उच्चारण करते थे (त० ४, श्लो० ६३५ से ६५२)। कभी कभी ये राज-क्रोध में पड़कर अत्यंत पीड़ा पाते थे। जयापीड ने प्रतिदिन सौ ब्राह्मण कत्ल करने का प्रण कर लिया था (त० ४, श्लो० ६३३); किंतु इस उत्पीडन से उनकी शक्ति घटी नहीं। वह बढ़ती ही गई। हम आरंभ से लेकर अंत तक उन्हें ऊँचे से ऊँचे आसनों पर पाते हैं और राजा को अपने इच्छानुसार चलाते देखते हैं। कई अवसरों पर तो राज्यसिंहासन उनके हाथ में आ जाता है और वे उस पर राज्य स्थापित करते हैं। महाराज यशस्कर को गद्दी इसी प्रकार मिली थी (तरंग ५, श्लोक ४७७ से ४८३ तक)।

प्राचीन कश्मीर में जाति-बंधन कुछ विशेष कड़ा प्रतीत नहीं होता। राजवंश से हम अनेक क्षत्रियेतर जातियों का संबंध पाते हैं। तीसरी तरंग के अंत में महाराज बालादित्य ने अपनी पुत्री अनंगलेखा का विवाह एक कायस्थ—दुर्लभवर्द्धन—से कर दिया है। अवंतिवर्म्मन् (त० ५) की उत्पत्ति एक कलवार स्त्री से हुई थी जिसे उसके पिता ने अपनी रानी बना लिया था। सुइया नामक प्रसिद्ध शिल्पी और मंत्री (तरंग ५ श्लोक ७३ से १२०) एक चांडाल स्त्री के द्वारा पाला गया था और संभवतः वह उसका पुत्र भी था। चांडाल सेना में भरती होते और अत्यंत भयानक माने जाते थे। जयापीड के प्रतिद्वंद्वी जिज्जा का वध श्रीदेव नाम के एक चांडाल ने ही किया था। यहाँ वहाँ और भी उदाहरण मिलते हैं जिनसे जाति-बंधन की शिथिलता ज्ञात होती है।

इस शिथिलता का कारण संभवत: बौद्धधर्म का प्रभाव था। हम पहली चार तरंगों में जहाँ तहाँ बौद्ध-भिक्षुओं, राजाओं और संस्थाओं का उल्लेख पाते हैं। बहुत से राजा पशु-हत्या बिलकुल बंद कर देते हैं। बहुधा ब्राह्मण इसका घोर विरोध करते हैं। एक-दो स्थानों पर उन्हें शांत करने के लिये राजा ने अपने आपको बलि के लिये प्रस्तुत किया है। किंतु जैसे जैसे बौद्धों का प्रभाव घटता जाता है, जाति-बंधन दृढ़ सा होता दिखता है। तो भी थोड़ी सी जातियों के नाम हमें सुन पड़ते हैं। चमार, चांडाल, डोम, श्वपाक कलार, राज-पुत्र, क्षत्रिय, डामर, एकांग, तंत्री और ब्राह्मणों के नाम बार बार आए हैं। कायस्थों का भी कई स्थानों में उल्लेख है किंतु वे किसी जाति-विशेष के व्यक्ति प्रतीत नहीं होते। लिखने-पढ़नेवाले तथा हिसाब-किताब रखनेवाले राजकर्मचारी कायस्थ कहे गए हैं। ये सब विभागों और सब स्थानों में दिखते हैं और प्रजा इनसे बहुत अप्रसन्न दिखती है। तो भी ये नीच नहीं माने जाते। प्रसिद्ध कर्कोटक वंश की उत्पत्ति एक कायस्थ से ही हुई थी और लोगों ने उसका बिलकुल ही विरोध नहीं किया।

अनेक स्थानों में ब्राह्मणों के अनशन (उपवास) का उल्लेख है। अन्य लोग भी राजद्वार में उपवास करते थे और राजा तब शीघ्र ही उनके कष्ट-निवारण की चिंता करता था। प्रतीत होता है कि जनमत द्वारा राजा को प्रेरित करने का यह अच्छा साधन था। किंतु ब्राह्मण इसे अनेक बार धन के लोभ से काम में लाते थे और घूस मिल जाने पर अपने घर चले जाते थे। साधारण प्रजा, विशेषकर कृषकों के हाथ में राजा को बाध्य करने का कोई भी साधन नहीं दिखता। वे बहुधा अत्याचार में पिसते रहते थे। हमें बहुत कम ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ राजा के अत्याचार से पीड़ित होकर प्रजा ने विद्रोह किया हो। जितने भी विद्रोह हुए हैं वे सेनाओं और सेनापतियों के षड्यंत्र सफल बनाने अथवा किसी व्यक्ति-विशेष का पक्ष पुष्ट करने के लिये हुए हैं। इससे प्रजा की असंगठित तथा हीनावस्था का पता

लगता है। कोई कहे कि लोग बहुत सुखी थे तो यह बात नहीं थी; क्योंकि कल्हण ने लोगों की दरिद्रता और उनके पीड़न का अनेक स्थानों में चित्र खींचा है।

कभी कभी प्रजा के लाभ के लिये बड़े बड़े कार्य भी किए गए हैं। इसके लिये ललितादित्य और अवंतिवर्मन् के राज्य-काल उल्लेखनीय हैं। ललितादित्य ने बाढ़ से बचाने के लिये नहरों का प्रबंध किया, जल-मार्ग साफ करवाए तथा सिँचाई के लिये जगह जगह जल-चक्र आदि की योजनाएँ कीं। इनसे बहुत सी ऊसर भूमि उपजाऊ हो गई। किंतु इस दिशा में अवंतिवर्मन् के मंत्री सुइया ने विशेष कार्य किया। उसने झेलम नदी में बाँध बनवाए। उसके किनारे किनारे सात योजन (छप्पन मील) तक पत्थर की दीवाल बनवाई जिससे उसका जल किनारे न फोड़ सके। उसने उसका मार्ग ही बदल दिया। महापद्म झील (ऊलर) का जल वह अपने नियंत्रण में ले आया और सैकड़ों वर्गमील भूमि जल से निकालकर सूखी बना दी। सिँचाई के लिये उसने उत्तम प्रबंध किया। गाँव गाँव में आवश्यकता के अनुसार जल भेजा। प्रत्येक गाँव की मिट्टी की परीक्षा की और उसके सूखने के समय के अनुसार उसे सींचने को जल देने का निश्चय किया। समस्त देश में उसने बाढ़ का भय मिटा दिया और दलदलों को सुखा दिया। उसके प्रयत्न से अनाज का भाव घट गया। पहले जितना धान दो सौ दीनारों में मिलता था, सुइया के प्रयत्न से छत्तीस दीनारों में मिलने लगा। इससे प्रतीत होता है कि देश की उपज लगभग साढ़े पाँच गुनी बढ़ गई थी।

पढ़ने-लिखने और विद्या-प्रचार के कश्मीर में अच्छे साधन थे। आर्यदेश (हिंदुस्तान) से अनेक विद्यार्थी यहाँ अध्ययन को आते थे। बहुत से राजाओं द्वारा उनके ठहरने के लिये विश्राम-गृह तथा मठ बनवाए जाने का उल्लेख है। यशस्कर के राज्यकाल में तो वर्णाश्रम पर अधिक जोर दिए जाने के कारण ब्राह्मण पठन-पाठन छोड़कर अन्य कार्य कर ही नहीं सकते थे। विद्वत्ता और विद्या-प्रेम के कारण

मंत्री तथा अन्य पद ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य लोगों को कठिनाई से प्राप्त होते थे।

व्यापार में बहुत उन्नति थी। बाहर से बहुत से वणिक् आते थे। रोहितक के एक बनिए की अटूट संपत्ति का उल्लेख है। कश्मीरी व्यापारियों का अनेक स्थानों में वर्णन है। राज-मार्ग और ऊँची दूकानें कई स्थानों में बतलाई गई हैं। व्यापारी लोग नियमानुसार खाता-बही रखते थे और बीस-पच्चीस साल के बाद भी उनके खातों से छोटे छोटे लेन-देन का पता लग जाता था। छठी तरंग में (श्लोक १४ से ४१) एक बनिया की बेईमानी उसकी बही के निरीक्षण से पकड़े जाने की एक मनोरंजक कथा है।

उक्त कथा में स्थावर संपत्ति के क्रय-विक्रय का अच्छा वर्णन है। प्रतीत होता है कि उस समय विक्रय-पत्र इत्यादि आजकल जैसे नियमानुकूल लिखे जाते थे और उनको लिखने के लिये अर्जीनवीस भी रहते थे जिनका पेशा और कुछ नहीं होता था।

राजतरंगिणी में स्त्रियों का स्थान समाज में बहुत ऊँचा नहीं दिखता। वे केवल भोग्य-दृष्टि से देखी गई हैं। कल्हण ने अनेक स्थानों पर इसी दृष्टि से उन्हें चित्रित किया है। किंतु सती स्त्रियों का बहुत सम्मान किया जाता था। उच्च कुलों और धनिकों में विलासिता के कारण बहुविवाह प्रचलित थे। अतः व्यभिचार की भी मात्रा बढ़ी हुई पाई जाती है। बाल-विवाह की प्रथा का प्रचार नहीं दिखता और सती भी स्त्रियाँ अपने इच्छानुसार होती थीं। रानियों को सती होने के लिये राजमंत्री से आज्ञा लेनी पड़ती थी। कुछ स्त्रियाँ विशेष योग्यता की भी थीं, किंतु साधारण स्त्री-समाज पिछड़ा हुआ ही था।

अंत में दो शब्द कश्मीर के दिग्विजेताओं के विषय में भी कह देना उचित होगा। इनमें महाराज ललितादित्य अग्रगण्य माने जाते हैं। इनका राज्यकाल ई० सन् ६९५ से ७३२ तक निश्चित किया गया है। इसी समय में कन्नौज में यशोवर्मन् नामक एक प्रतापी

राजा था। ललितादित्य ने उसे परास्त किया और फिर वहाँ से गौड़, बंग, कर्नाट, मलय, सातों कोंकण, बहुत से समुद्री द्वीप, द्वारका, अवंति (मालवा), विंध्यदेश को जीतते हुए वे स्वदेश लौटे। कुछ दिन के उपरांत फिर उन्होंने हिमालय के उत्तर तथा अन्य सीमांत देशों में प्रवेश किया। कांबोज, गांधार, इत्यादि को जीतने के उपरांत वे मध्यएशिया में गोबी के मरुस्थल तक गए और वहीं उनका प्राणांत हो गया।

ललितादित्य के विषय में कहीं कहीं उनकी प्रशंसा के लिये कुछ अत्युक्ति की गई है। किंतु अधिकांश वर्णन विश्वसनीय है। उनके जीते देशों में स्त्री-राज्य नामक एक देश का उल्लेख है। इसका पता नहीं चलता कि वह कौन सा देश था। दूसरे, समुद्री द्वीपों को जीतना भी ठीक नहीं दिखता। एक स्थान में उसकी सेना में सवा लाख पालकियों का होना लिखा है। इसके अतिरिक्त पदचर और अश्वारोही अलग होंगे। फलतः पूरी सेना में लगभग दस-बारह लाख आदमी होने चाहिएँ। यह अविश्वसनीय है। इसी प्रकार जयापीड की सेना की संख्या भी अतिशयोक्तिपूर्ण है। उसके द्वारा दिए जानेवाले एक लाख घोड़ों के दान की चर्चा भी ऐसी ही है।

जयापीड ललितादित्य का पौत्र था। उसने भी अपने पितामह के समान दिग्विजय की तैयारी की, किंतु उसे सफलता नहीं मिली। उसकी सेना में असंतोष फैल गया इसलिये उसे वापस भेजना पड़ा। उसकी राजगद्दी भी उसके साले जिज्जा ने छीन ली। अतः उसे अकेला ही जाना पड़ा। उसके विषय में अनेक आश्चर्य-पूर्ण घटनाओं का उल्लेख है। उसने बहुत से राजाओं और गढ़ों को अपनी बुद्धिमत्ता से जीता और आपत्ति में फँस जाने पर वह युक्ति से निकल आया। उसने अपने ससुर जयंत के लिये गौड़ देश के पाँच राजाओं को जीता। फिर उसने नैपाल पर चढ़ाई की और वहाँ के राजा को खदेड़ता हुआ वह समुद्र के किनारेवाली एक नदी के तट पर पहुँच गया जिसे पार करते समय उसकी सेना पानी में डूब गई और वह कैद हो गया।

नैपाल से समुद्र की दूरी बहुत काफी है। वह कम से कम तीन सौ मील अवश्य होगी। इसलिये यह विश्वास नहीं होता कि जयापीड वहाँ तक नैपालियों का पीछा करता गया हो। फिर नैपालियों को वहाँ जाने की आवश्यकता नहीं थी। हिमालय की पहाड़ियों में ही अधिक सुभीते से हटकर वे जयापीड़ का सामना कर सकते थे। नैपाल के राजा का नाम ग्रंथ में अर्मुडी दिया है किंतु उसकी राजधानी तथा अन्य स्थानों का कुछ भी उल्लेख नहीं है। ऐसे ही ललितादित्य के दिग्विजय में देशों के नाम तो गिनाए हैं; किंतु यशोवर्मा और रट्टा को छोड़कर उसके विरोधियों के विषय में और कुछ नहीं बतलाया गया है। इतिहास में भी अन्य स्वतंत्र आधारों से, राजतरंगिणी में वर्णित, ललितादित्य की दिग्विजय का कहीं समर्थन नहीं मिलता। अत: उक्त उल्लेख की सत्यता जाँचने में बड़ी कठिनाई होती है।

शंकरवर्मन् (सन् ८८४-९०३) के विषय में भी यही बात है। किंतु उसके दिग्विजय के वर्णन में कुछ नाम दिए गए हैं जो सत्य प्रतीत होते हैं। उसने दार्वाभिसार के राजा को हराया और फिर नौ लाख पदचर, तीन सौ हाथी और एक लाख घोड़े लेकर वह त्रिगर्त के राजा पृथ्वीचंद्र को पराजित करता हुआ गुर्जर-नरेश अलखान पर जा चढ़ा। वह दरद और तुर्क लोगों को भी दबाए रहा तथा अन्य बहुत से छोटे-मोटे राजाओं को उसने अपने वश में किया।

इन सब वर्णनों से पता चलता है कि कश्मीर शंकरवर्मन् के समय में अत्यंत शक्तिशाली था और भारतवर्ष की राजनीतिक परिस्थिति को कुछ अंशों में निर्धारित कर सकता था।

शंकरवर्मन् के उपरांत कोई ऐसा प्रतापी राजा नहीं हुआ जो दिग्विजय को निकलता। वे सब अपने घरेलू झगड़ों में ही फँसे रहे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकवि कल्हण ने लगभग डेढ़ हजार वर्ष का इतिहास प्रशंसनीय सतर्कता तथा सूक्ष्मता से दिया है और सच्चे इतिहासकार के समान जीवन के प्रत्येक अंग पर दृष्टि डाली है। उसके ग्रंथ में घटनाओं का वर्णन इतना सजीव है कि वह उपन्यास सा

मनोरंजक है। काव्य-माधुर्य से भरा होने पर भी वह इतिहास के अन्वेषण में बहुत उपादेय सिद्ध होता है। सचमुच में राजतरंगिणी हमारे गौरव की वस्तु है।

क्या मगध के गुप्त सम्राट् मूल रूप में चीन-निवासी थे ?

[लेखक—श्री परमेश्वरीलाल गुप्त]

चीन के पश्चिमी भाग में यूची जाति के लोग निवास करते थे परंतु कालांतर में उन लोगों ने अपना देश छोड़ दिया था और वे आमू (आक्सस) नदी की घाटी में आकर बस गए थे। पहली शताब्दी के लगभग उन्होंने किसी क्यूल कदाप्स (कुजूलो कदाफिसस) नामक व्यक्ति के नेतृत्व में बैक्ट्रियन और पह्लव लोगों को पराजित किया और काबुल तथा गांधार पर अधिकार जमा लिया, पश्चात् उसके बेटे ओमियो कदाफिसस ने, जिसे हम विम कदाप्स के नाम से पुकारते हैं, शक और पह्लव सम्राटों को हराया और पंजाब, राजपूताना तथा उत्तरी भारत के कुछ भागों पर अधिकार जमा लिया। यही नहीं, उसने रोम और चीन से भी अपना कुछ संबंध स्थापित किया। कनिष्क उसका उत्तराधिकारी हुआ, जिसने अपने शासन के ४५ वर्षों के भीतर ही प्राय: कुल उत्तरी भारत और अन्य देशों के कुछ प्रांतों को भी अपना लिया। पश्चात् हुविष्क और वासुदेव उसके उत्तराधिकारी हुए, जो चीनी निवासी होकर भी भारत के कुशन शासकों के नाम से प्रसिद्ध हुए। शासन के आरंभिक काल में उनकी राजधानी पुरुषपुर अर्थात् वर्तमान पेशावर थी। पश्चात् वासुदेव के शासनकाल में यह राजधानी पेशावर से उठकर मथुरा चली आई थी। वासुदेव के पश्चात् भारतीय इतिहास के अंधकार-कालीन युग का आरंभ होता है। हमें उसके उत्तराधिकारियों के बारे में नाम मात्र का ज्ञान है। कुछ मुद्राओं को देखने से ज्ञात होता है कि इस वंश में अन्य दो वासुदेव और एक कनिष्क रहे होंगे।

कुशन साम्राज्य का पतन वासुदेव प्रथम के शासनकाल में आरंभ हुआ और थोड़े ही दिनों के भीतर यह साम्राज्य लुप्त हो गया

अथवा, जहाँ तक भारत का संबंध है, वह छोटे छोटे टुकड़ों में विभक्त हो गया। इसके बाद हमें महीधर, विरूठक, भृगु और करद नामक शासकों की मुद्राएँ प्राप्त होती हैं, जिनके कुशन-वंशज होने की अधिक संभावना है। इनके बाद भी इसी प्रकार के और बहुत से छोटे छोटे शासकों की मुद्राएँ मिलती है जिन पर चंद्र, भद्रपासन, वर्चन, सैथ, सिथ, सेन, चू, आदि बहुत से नाम मिलते हैं। वे भी संभवतः छोटे छोटे कुशन शासक थे जो पंजाब तथा युक्तप्रांत अर्थात् विन्ध्य के उत्तरी भाग के छोटे छोटे भागों पर शासन करते थे।

अब मगध की ओर आइए। कण्व वंश के शासकों के पश्चात् लगभग तीन शताब्दियों तक मगध साम्राज्य के संबंध में कुछ भी ज्ञात नहीं होता। किंतु चौथी शताब्दी के आरंभ अर्थात् ३१९ ई० में मगध में चंद्रगुप्त नामक एक नगण्य राजा द्वारा साम्राज्य स्थापित किए जाने का पता लगता है, जो उसके जीवनकाल में पश्चिम में प्रयाग तक विस्तृत हो गया था। उसका यह उत्थान लिच्छवि वंश की एक राजकुमारी से विवाहित होने के पश्चात् होता है। उसके पुत्र समुद्रगुप्त के, जिसे लोग भारतीय नेपोलियन के नाम से पुकारते हैं, कवि, योग्य सैनिक, गायक तथा विद्वान् होने के अतिरिक्त उसमें अन्य असंख्य गुण विद्यमान थे। उसने विजय द्वारा अपने साम्राज्य का विस्तार किया। वस्तुतः वह गुप्त वंश का संस्थापक कहा जा सकता है। उसके संबंध में तद्युगीन विद्वानों द्वारा लिखित सामग्री के अतिरिक्त उसका स्वलिखित इतिहास भी प्राप्त है।

जिस प्रकार हमें वासुदेव प्रथम के बाद कुशन शासकों के संबंध में उपर्युल्लिखित मुद्राओं में अंकित शासकों के नामों के अतिरिक्त कुछ भी ज्ञात नहीं है, ठीक उसी प्रकार गुप्त वंश के संबंध में चंद्रगुप्त प्रथम से पूर्व—इसके अतिरिक्त कि चंद्रगुप्त के पिता का नाम घटोत्कच और दादा का श्रीगुप्त था, जो जमींदार सदृश छोटे शासक थे—कुछ भी ज्ञात नहीं। इन दो वंशजों को एक सूत्र में संगठित करने की सामग्री अब तक के ज्ञात भारतवर्ष के इतिहास में प्राप्य नहीं है।

वर्षों के अंतर होने और लिखित सामग्री के अभाव के अंधकार में यह रहस्य छिपा हुआ है। अब तक हम यही मानते आ रहे हैं कि भारत के कुशन शासक चीनी थे और अब तक ऐसा कोई भी विचार हमारे समक्ष नहीं है जिससे हम कह सकें कि गुप्त वंश के शासक भारतीय के अतिरिक्त कुछ और भी थे।

प्राचीन मुद्राओं के देखने से ज्ञात होता है कि सिकंदर के आक्रमण के पश्चात् लगभग ५० यूनानी (बैक्ट्रियन) शासकों ने उत्तरी भारत के कुछ अंशों पर शासन किया था। वे अथवा उनके पार्श्ववर्ती अपने परिवार सहित यहाँ पर रहते अवश्य रहे होंगे। किंतु आज हम एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं पाते जो अपने को उन प्राचीन यूनानियों का वंशज कहने को तैयार हो। साथ ही यह भी विश्वसनीय नहीं कि उनके वंशजों में से समस्त नष्ट हो गए या भारत छोड़ अन्यत्र चले गए। इसका कारण स्पष्ट है। उन्होंने हमारे धर्म को ग्रहण किया और हमने उन्हें अपने समाज में मिला लिया। फिर समयांतर में ये हिंदू समाज में घुल मिल गए। विजेता, सैनिक एवं विद्वान् होने के कारण कालांतर में वे या तो ब्राह्मण बन गए अथवा राजपूत; अपने देवी-देवताओं तथा रीतिरिवाजों को भूल कर वे हमारे समाज के अनुरूप बन गए और अब उनमें यूनानी या बैक्ट्रियन होने का कोई चिह्न शेष नहीं रह गया। यही कारण है कि आज हम किसी को अपने को प्राचीन यूनानी या बैक्ट्रियन वंश का कहते नहीं पाते।

ठीक यही अवस्था कुशन लोगों की भी हुई। जब क्यूल कदाफ्स (कुजूलो कदाफिसस) ने काबुल और गांधार पर विजय प्राप्त की तो उसने जो मुद्राएँ प्रचलित कीं, उन पर मैसीडोनिया की सेना, अगस्तस का मस्तक, यूनानी विजय-देवी, बुद्ध और जुपिटर के चित्र अंकित किए। किंतु उसने ऐसा इसलिये नहीं किया कि वे उसके अपने देवता थे, वरन् इसलिये कि उसने इस देश को बैक्ट्रियन शासक हरमाय से जीता था और संभवत: वे देवता विजित लोगों के थे। जब विम कदाफ्स

ने पंजाब, राजपूताना आदि को अपने साम्राज्य में सम्मिलित किया तो उसने अपनी मुद्राओं पर शिव की मूर्ति अंकित की। कनिष्क और हुविष्क ने तो उत्तरी भारत और उत्तर-पश्चिमीय अन्य देशों के शासक होने के कारण ईरानी, यूनानी और भारतीय देवी-देवताओं के, जो कि उनकी प्रजा के देवता थे, चित्र अंकित कराए। उनकी यह धार्मिक सहानुभूति धीरे धीरे उन देवताओं की उपासना के रूप में परिवर्तित होती गई और अंततोगत्वा उनका परिवार उनके सहयोगी और उनके जाति-बन्धु, अपनी प्रजा में घुल मिल गए। वे ही क्यों, यही दशा शक, पारद (पारथियन), पह्लव, हूण आदि भारत में आनेवाली सभी जातियों की हुई।

यदि शाकद्वीपी ब्राह्मणों के पूर्वज शक और विभिन्न वंशी राजपूतों के पूर्वज बैक्ट्रियन, पारद या हूण रहे हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या। इसी प्रकार यदि अनुमान किया जाय कि कुशन साम्राज्य के पतन के पश्चात्, जब वह छोटे छोटे टुकड़ों में छिन्न-भिन्न हो गया तो, किसी कुशन शासक के उत्तराधिकारियों में असंतोष का भाव फैल गया हो और उनमें से कोई मगध चला आया हो और उसका शासन-क्षेत्र नगण्य रह गया हो तो आश्चर्य का कोई कारण नहीं जान पड़ता। यह भी हो सकता है कि कोई कुशन-कुमार किन्हीं कारणों से भाग कर मगध में आ बसा हो, उसने अपना परिचय छिपाकर गुप्त रहना ही उचित समझा हो और पीछे उसी के वंशजों को लोगों ने 'गुप्त' नाम से पुकारना आरंभ कर दिया हो और अंत में वह उनकी वंशगत उपाधि बन गई हो। आज भी विचित्र विचित्र कारणों से वंशगत उपाधियों की सृष्टि होती रहती है। ऐसे उदाहरणों में घोड़ी-चोर, बाघमारे आदि महाराष्ट्रीय नामों का उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा।

यदि गंभीरता-पूर्वक गुप्त-वंशीय और कुशन-वंशीय शासकों की मुद्राओं की तुलना की जाय तो गुप्तवंशीय शासक कुशनवंशीय शासकों के वंशज थे इस मत पर काफी प्रकाश पड़ सकता है।

कुशन और गुप्त वंश के शासकों की सुवर्ण मुद्राएँ बहुत अंशों में सादृश्य रखती हैं। कुशन-वंशीय सुवर्ण मुद्राओं का निर्माण रोमन

माप पर हुआ था। कुछ लोगों के कथनानुसार उनका आधार मेसीडोनियन माप भी था। जो हो, गुप्त शासकों की मुद्राएँ भी उसी माप पर निर्मित हैं। किंतु इस समानता से उपर्युक्त कथन का समर्थन नहीं हो पाता। कोई भी यह कहकर इस बात का समाधान सरलता से कर सकता है कि दोनों शासकों के समय रोम, मेसीडोनिया आदि अनेक विदेशी स्थानों से भारत का बृहत् व्यापार होने के कारण दोनों ने विदेशों में प्रचलित तत्कालीन मुद्राओं के माप को ग्रहण कर लिया हो, क्योंकि माप का अनुकरण बहुत पूर्व से ही प्रचलित था और विश्वास किया जाता है कि २५० से ३०० ई० पू० के अर्थेस की मुद्राएँ (एटिक टेट्राड्राम) एशियाई अनुकरण की हैं। अथवा यह भी संभव है कि गुप्त शासकों ने यह विचार कर कि देश में कुशन शासकों द्वारा स्थापित मुद्राओं का प्रचलन अधिक संख्या में है इसलिये नवीन मुद्राओं का माप परिवर्तित कर आर्थिक अवस्था पर आघात करना उचित न होगा, उसी को अपना लिया हो।

प्राय: समस्त कुशन मुद्राओं पर शासकों की जो आकृतियाँ हैं उनमें वे खड़े हैं और बाईं ओर मुँह किए हुए हवनकुंड में आहुति दे रहे हैं जो कि बाईं ओर रखा हुआ है। ठीक उसी प्रकार का हवन-कुंड और उसी रूप में शासक की आकृतियाँ गुप्तवंश के समुद्रगुप्त की कुछ सुवर्ण मुद्राओं पर भी प्राप्त होती हैं, जो साधारण रूप में प्रचलित थीं। हवनकुंडवाली आकृतियाँ कुछ अन्य गुप्त शासकों की मुद्राओं पर भी प्राप्य हैं। अंतर केवल इतना है कि दोनों वंशों के शासकों के पहरावे भिन्न हैं। कुशन मुद्राओं के देखने से ज्ञात होता है कि कुशन लोग भारी शिरस्त्राण, लंबे लबादे, पाजामे और भारी जूते पहनते थे। ऐसा इसलिये था कि वे लोग शीत-प्रदेश के निवासी थे और हाल ही में वहाँ से आए थे। किंतु हम ऐसा अनुमान करते हैं कि भारत जैसे उष्ण देश में अधिक दिनों रहने के पश्चात्, जहाँ भारी वस्त्रों की आवश्यकता नहीं है, उन्होंने स्थानानुकूल अपने वस्त्र अवश्य परिवर्तित कर दिए होंगे। किंतु हम देखते हैं कि गुप्त शासक,

विशेषत: प्रथम तीन-चार शासक, अपनी मुद्राओं पर भारतीय वस्त्रों में नहीं अंकित हैं। विशेषत: समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय तो यूनानी ढंग का कोट और पायजामा पहने हुए हैं, जो कि भारत में चौथी शताब्दी में साधारणतया प्रचलित न था। अस्तु, यह सोचा जाना स्वाभाविक है कि यदि गुप्तवंशजों का संबंध कुशनवंशजों से था तो उन्होंने अपने वस्त्र देश के जलवायु के अनुकूल परिवर्तित कर दिए और ऐसे लोगों के वस्त्र ग्रहण कर लिए जो लोग संभवत: उन दिनों उच्च समझे जाते थे अथवा जिनके संपर्क में कुशन लोग सर्वप्रथम आए थे। गुप्तवंशजों के यूनानी पहरावे का यह भी कारण हो सकता है कि उन दिनों प्राचीन संसार पर यूनान का प्रबल प्रभाव था। दोनों परिवारों की मुद्राओं पर अंकित हवन-कुंड के अस्तित्व का समाधान यों करके हमारे विचारों का खंडन किया जा सकता है कि उन दिनों दोनों परिवारों के युगों में वैदिक रीत्यनुसार हवन प्रचलित था अथवा वह उस अग्नि-पूजा का प्रतीक है जो कि ईसा से कुछ शताब्दी पूर्व फारस के डेरियस द्वारा भारत-विजय के समय से ही प्रचलित थी।

कुशन वंश की मुद्राओं पर विभिन्न ईरानी, यूनानी और हिंदू देवी-देवताओं की आकृतियाँ हैं, किंतु गुप्तवंश की अश्वमेधयज्ञादि विशेष अवसरों पर प्रचारित मुद्राओं के अतिरिक्त साधारण मुद्राओं पर केवल लक्ष्मी की ही आकृति है। इस विभिन्नता को लेकर उपर्युक्त कथन का खंडन किया जा सकता है। किंतु मेरे विचार में इस विभिन्नता को किसी भी प्रकार अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। दोनों युगों में जन-साधारण पर धर्म का अटल प्रभाव था। कुशन सम्राटों ने शासित जनता के धर्म के स्वीकार करने की नीति का अनुसरण किया और यह आवश्यक समझा कि प्रत्येक वस्तु को धार्मिक रूप दिया जाय। इसी लिये उन्होंने आवश्यकतानुसार विभिन्न धार्मिक आकृतियों को ग्रहण किया था। किंतु गुप्त-वंशजों के सम्मुख शासित जनता के धर्म को ग्रहण करने जैसा कोई प्रश्न नहीं था, क्योंकि यदि वे कुशनवंशीय थे तो बहुत दिनों तक यहाँ रहकर भारतीय बन चुके थे। इसके अतिरिक्त वे अधिक

शिक्षित और सुधरे विचारों के थे। उन्होंने केवल लक्ष्मी को ही अपनी मुद्राओं पर इसलिये स्थान दिया कि उनके विचारानुसार लक्ष्मी ही एक ऐसी देवी थीं जो कि मुद्रा के लिये अधिक उपयुक्त हो सकती थीं, क्योंकि वे धन की देवी थीं।
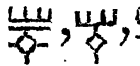
दोनों परिवारों के नामों में इस अर्थ में समानता दीखती है कि वे साधारणतया उपाधि को छोड़कर बहुत ही संक्षिप्त हैं—यथा कुशन-वंश के नाम विम, कनिष्क, हुविष्क, वर्चन, सैथ, सिथ, चू, चंद्र और गुप्त-वंश के श्री, चंद्र, समुद्र, कुमार, स्कंद, पुर, जय आदि हैं। किंतु यह समानता भी उपर्युक्त कथन की अधिक पुष्टि नहीं करती।

इन तथा अन्य छोटी-मोटी बातों द्वारा पक्ष और विपक्ष दोनों ओर का समर्थन किया जा सकता है। इस कारण इनके द्वारा किसी परिणाम पर पहुँचना सुरक्षित नहीं हो सकता। ये इतने दृढ़ नहीं कि तर्क के सामने अविचल रूप से स्थिर रह सकें और अपना समर्थन कर सकें। इन बातों को केवल विचारार्थ ही उपस्थित किया गया है। इनसे भिन्न एक और प्रमाण है जिसके अटल होने का दावा अभी तो नहीं किया जा सकता पर इतना अवश्य है कि उसमें तथ्य है, विचार की सामग्री है और बल है।

पहली और दूसरी शताब्दी और उनसे कुछ पूर्व के विदेशी शासकों की मुद्राओं पर कुछ ऐसे चिह्न अंकित हैं जो या तो उनके व्यक्तिगत चिह्न हैं अथवा वंशगत, जो उनके व्यक्तिगत अथवा वंशगत परिचय को व्यक्त करते हैं। किन्हीं अवस्थाओं में वे उन शासकों अथवा उनके वंशों की मुहरें भी हो सकते हैं। उदाहरण के लिये, सिल्यूकस प्रथम और एंटीओशस प्रथम की मुद्राएँ जिन पर (△) ऐसे चिह्न हैं (रोडियन टेट्राड्राम २७३ से २८१ ई० पू०) वा एंटी-ओशस प्रथम के पुत्र सिल्यूकस के रोडियन टेट्राड्राम (२७५ से २२६ ई० पू०) जिन पर (△) ऐसे चिह्न हैं वा एंटिक स्टेटर (२८१ से २६१) जिन पर (△) ऐसे चिह्न हैं वा एंटीओशस द्वितीय के एंटिक

स्टेटर (२६६ से २४६ ई० पू०) जिन पर (△) ऐसे चिह्न हैं अथवा एटिक टेट्राड्राम (२६१ से २४६ ई० पू०) जिन पर (△) ऐसे चिह्न हैं, ली जा सकती हैं।

विशेष रूप से ध्यान देने की बात यह है कि ईसा से पूर्व तथा उसके पश्चात् के स्वतंत्र भारतीय शासकों की मुद्राओं पर उपर्युक्त प्रकार के चिह्न अथवा मुहरें नहीं हैं। अस्तु, ये चिह्न भारतवर्ष में या तो विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा लाए गए अथवा लोगों ने उन विदेशी मुद्राओं का अनुकरण किया। एरन (मध्यप्रांत), कौशांबो (प्रयाग), अहिच्छेत्र (पांचाल) मथुरा, अयोध्या आदि की मुद्राएँ उदाहरणार्थ देखी जा सकती हैं।

कनिष्क, हुविष्क, वासुदेव आदि प्राय: सभी कुशन शासकों की मुद्राओं की पीठ पर ऐसे चिह्न पाए जाते हैं, जो प्राय: एक से हैं। ये चिह्न यूनानी, चीनी, बौद्ध अथवा ब्राह्मण धर्म में से किसी के भी चिह्न नहीं जान पड़ते। यदि ये धार्मिक चिह्न ही हों तो किसी ने इनकी प्रतिलिपि इस प्रकार की है जिस प्रकार कि विभिन्न धर्मावलंबी शासकों की मुद्राओं पर स्वस्तिक अंकित हैं। प्रथम कुशन शासक क्यूल कारा कदाप्स की मुद्राओं पर ऐसा चिह्न है। इसके संबंध में कहा जा सकता है कि ऊपरी भाग त्रिशूल या त्रिरत्न का प्रतीक है और नीचे का भाग धर्म-चक्र है, अत: इसका संबंध शिव से है। विम कदाप्स की कुछ मुद्राओं की पीठ पर भी शिव की आकृति के साथ साथ यह चिह्न है; किंतु इसके अतिरिक्त सामने की ओर और शासक की आकृति की ओर ऐसा चिह्न भी है। परंतु यह त्रिशूल सरीखा चिह्न वासुदेव की मुद्राओं पर शिव की ओर अंकित नहीं है। अत: अनुमान किया जा सकता है कि उस शासक के समय इसका कोई धार्मिक महत्त्व न था। यदि हम कनिष्क और हुविष्क की बहुरूपी मुद्राओं को देखें तो ज्ञात होगा कि उन सब के पीछे हिंदू, यूनानी और ईरानी विभिन्न देवी-देवताओं की आकृतियाँ अंकित हैं और उन सब पर

की ओर एक-से चिह्न अंकित हैं। मुद्रांकित देवता के साथ उसमें कोई भी परिवर्तन नहीं है। अस्तु, यह अनुमान करना कि ये चिह्न कोई धार्मिक चिह्न हैं बहुत ही कठिन है। और वस्तुत: बात भी यही है कि ये किसी भी धर्म में धार्मिक चिह्न के रूप में नहीं समझे जाते।

कुछ लोगों का कहना है कि जिस प्रकार मुगल सम्राटों ने अपने सिक्कों पर विभिन्न प्रकार के फूल, छाते कटार, स्वस्तिक आदि के चिह्न सौंदर्य-वृद्धि के लिये रखे थे उसी प्रकार ये चिह्न भी सौंदर्य-वृद्धि की दृष्टि से ही रखे गए थे। किंतु ऐसा समझना संगत नहीं है। यदि इन चिह्नों का एक मात्र उद्देश्य सौंदर्य-वृद्धि ही होता तो ये सदैव एक ही आकार और रूप के न होते। कनिष्क और हुविष्क के समय में तो उनकी मुद्राओं पर पीछे की ओर २० से ३० देवी-देवताओं की आकृतियाँ अंकित हैं और सामने की ओर ३ से ६ तक अथवा अधिक रूपों में शासक की आकृति है। यदि कोई हुविष्क के सौ सुवर्ण अथवा ताँबे की मुद्राओं की परीक्षा करे, जो एक दूसरे से किसी न किसी रूप में भिन्न हैं, तो वह यह विश्वास नहीं कर सकता कि सौंदर्य-वृद्धि के लिये अंकित उन पर का चिह्न सदैव एक सदृश ही बना रहेगा। अस्तु, ये चिह्न किसी प्रकार सौंदर्य-वृद्धि के लिये भी नहीं हो सकते।

यदि कुछ लोग अनुमान करें कि ये किसी प्रकार के ग्रह-चिह्न हैं तो वस्तुत: यह भी संभव नहीं है, क्योंकि भारतीय ज्योतिष बहुत प्राचीन विज्ञान है और उसके किसी ग्रह का चिह्न इनके सदृश नहीं मिलता।

अत: स्पष्ट है कि ये चिह्न कुशन शासकों के वंश-चिह्न हैं और ये उनकी मुद्राओं पर इस उद्देश्य से रखे गए थे कि वे अन्य वंशों के शासकों की मुद्राओं से भिन्न ज्ञात हों। यही मत कैनिंग कालेज लखनऊ के प्रोफेसर स्वर्गीय मि० ब्राउन का भी था।

गुप्त-वंश की सुवर्ण मुद्राओं की परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि उन पर अथवा उनमें से अधिकांश बहुप्रचलित मुद्राओं, विशेषत: समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की मुद्राओं, पर पीछे की

ओर बाईं तरफ ठीक उसी प्रकार के चिह्न ( ) हैं जिस प्रकार के कि कुशन शासकों की मुद्राओं पर हैं और जिन्हें हम ऊपर उनके वंशगत चिह्न बता आए हैं। भारतीय इतिहास में गुप्तकाल बुद्धिमत्ता और विद्वत्ता का युग कहा जाता है। समुद्रगुप्त जैसे विद्वान् तथा चंद्रगुप्त विक्रमादित्य जैसे योग्य शासकों के संबंध में यह कल्पना नहीं की जा सकती कि वे किसी विदेशी वंश के चिह्नों को अपनी मुद्राओं पर अंकित करेंगे, प्रत्युत इन्हें अपने लिये अपमान का कारण समझकर वे किसी भी अवस्था में स्वीकार न करते। किंतु हम देखते हैं कि ये चिह्न उनकी मुद्राओं पर अंकित हैं।

गुप्त-वंश के संस्थापक चंद्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवि वंश की राजकुमारी से विवाह किया था और इस संयोग को दृढ़तर करने के उद्देश्य से उसने अपनी मुद्राओं पर 'लिच्छवयः' शब्द अंकित किया था। जब एक व्यक्ति अपनी मुद्राओं पर उस परिवार तक को अंकित करके महत्त्व देने के लिये उत्सुक है जिसमें उसने विवाह किया था तो यह स्वाभाविक है कि वह अपने वंश को उद्घोषित करने के लिये अपनी मुद्राओं पर अपने वंशगत चिह्नों को अवश्य अंकित करे। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय ने अपनी मुद्राओं पर अपने पूर्वज कुशन शासकों के प्राचीन वंश-चिह्न अपनाए हों।

कुछ विद्वानों ने यह बताने की चेष्टा की है कि ये चिह्न टकसाली (मिंट-मेकर) के चिह्न हैं। इन चिह्नों को टकसाली के चिह्न बताना एक थोथी दलील सी है। यह विश्वास करना असंभव है कि कुशन-कालीन टकसाली समुद्रगुप्त के समय तक, लगभग तीन सौ वर्ष की अवधि के बाद भी, जीवित रहे और गुप्त-वंशजों ने इतने वर्ष बीत जाने और नाना प्रकार के परिवर्तनों के हो जाने के बाद भी इन्हीं टकसालियों को अपने यहाँ रखा होगा। इसी प्रकार यह भी कल्पना करना उचित नहीं कि ये चिह्न किसी व्यवसाय-समिति (ट्रेडगिल्ड अथवा चेंबर आव कामर्स) के चिह्न हैं जो दोनों युगों में

जाग्रत थी, क्योंकि यह निर्विवाद है कि उन दिनों मुद्राओं का प्रचलन सम्राट् द्वारा होता था, किसी संस्था द्वारा नहीं। रेप्सन अपने 'कैंब्रिज हिस्ट्री आव इंडिया' में लिखते हैं—

"Most of the coins which Gondopharnes struck either alone or with his nephew Abdagases, and all of those which he struck in association with his commander-in-chief Aspverma and Sasas bear the symbol ♉ which is so characteristic of his rule that it is usually called by his name and as this symbol is found countermarked on coins of the Parthian Kings Oredes I (57-38 B. C.) and Artabanus III (10-40 A. D.) it is not improbable that Gondopharnes might have conquered some of the Parthian dominion. There can be little doubt that under his sway the Pahalwa power attained its height and it appears probable this power was now controlled by a single Suzerain who reigned both over Iran and North West India." (Vol I, Chapter 23, page 578)

अर्थात् गुदूफर (गंदोफार्नीस) की अधिकांश मुद्राएँ जिन्हें उसने स्वयं अथवा अपने भतीजे अबदगस के सहयोग से निर्मित किया था, तथा उन सब मुद्राओं पर, जिसे उसने अपने सेनापति अस्पवर्मा और ससस के सहयोग से निर्मित किया था, ♉ ऐसा चिह्न है जो कि उसके शासन का प्रतीक है और उसी के नाम से प्रचलित है। और चूँकि यह चिह्न ओरोदीस प्रथम (५७ से ३२ ई० पू०) और अर्तबानू तृतीय (१० से ४० ई० पू०) नामक पारद शासकों की मुद्राओं पर भी अंकित मिलता है, यह असंभव नहीं कि गुदूफर ने कुछ पारद साम्राज्य पर भी विजय प्राप्त की हो। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि उसके शासन में पहलव शक्ति का उत्थान हुआ और ऐसा जान पड़ता

है कि संभवत: उस समय तक ईरान और उत्तरी-पश्चिमी भारत पर जो शासन करता था उसी सम्राट् द्वारा वह भी अनुशासित होता रहा।

यदि रेपसन गुदूफर की मुद्राओं पर अंकित चिह्न को देखकर इस निष्कर्ष तक जा सकते हैं कि गुदूफर के अधीन कुछ पारद शासक अवश्य रहे होंगे, तो कुशन और गुप्त-वंशीय मुद्राओं पर एक सदृश चिह्न देखकर यह कहना भी अनुचित नहीं है कि कुशन शासकों के चिह्नों को गुप्त शासकों ने इसलिये अपनाया कि वे दोनों एक ही वंश के थे। कोई कारण भी नहीं जान पड़ता कि इस तथ्य की उपेक्षा की जाय।

अत: यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि कुशन साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने पर उस वंश का कोई राजकुमार मगध में बड़े जमींदार अथवा छोटे शासक के रूप में जीवित रहा और उसी के उत्तराधिकारी चौथी शताब्दी में फिर प्रभुत्व में आए और उन्होंने गुप्त साम्राज्य की स्थापना की। इस प्रकार अनुमान से यह सिद्ध होता है कि मगध के गुप्त सम्राट् कुशन-वंशज ही थे और इस नाते मूल रूप में चीन-निवासी थे।

पृथ्वीराजरासो की एक पुरानी प्रति और उसकी प्रामाणिकता

[लेखक—श्री दशरथ शर्मा]

पृथ्वीराजरासो की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ मेरे देखने में आई हैं। कई बहुत लंबी और कई बहुत छोटी हैं। प्रतियाँ जितनी पुरानी हैं उतनी ही छोटी और जितनी नई प्राय: उतनी ही बड़ी हैं। इससे स्पष्ट है कि रासो आरंभ में दीर्घकाय ग्रंथ नहीं था। अनेक स्थानों में अनेक कवियों ने उसमें इधर-उधर की सामग्री भरकर उसकी ऐतिहासिकता को प्राय: नष्ट कर दिया है। यह भी संभव है कि रासो को ऐतिहासिक रूप में प्रख्यात देखकर अनेक राजाश्रित चारणों ने उसमें अपने संरक्षकों का महिमागान इतस्तत: लगा दिया हो। रासो भाषा की भी एक सी नहीं है, कहीं काफी प्राचीन और कहीं बिलकुल नवीन है। रासो में प्रक्षिप्त भाग कितना है, यह बतलाना आसान काम नहीं है। परंतु प्रक्षिप्तांश की मात्रा का कुछ साधारण ज्ञान निम्नलिखित तालिका से हो जायगा—

प्रति	समय	ग्रं० सं०
(१) बीकानेर-फोर्ट लाइब्रेरी की राय-सिंहजी के समय की प्रति	लगभग १६५७ सं०	४००४
(२) नाहटा संग्रह की प्रति	१७९२ सं०	१०३६०
(३) नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित	१७३२ सं०	१,००,०००

अत: बीकानेर पुस्तकालय की प्रति को ही सबसे प्राचीन मानना उचित होगा और उसका विषय-विश्लेषण ही मैं आपके सम्मुख रखूँगा। इस पुस्तक के केवल १९ खंड हैं और ग्रंथ-संख्या एक लाख नहीं, चार हजार है।

प्रथम खंड :—

(१) गणेशवंदन। (३) शिववंदन।

(२) सरस्वतीवंदन। (४) दशावतारवंदन।

दशावतारवंदन में कंस-वध पर्यंत कृष्णचरित सम्मिलित है। भाषा कहीं कहीं बिलकुल नवीन है। उदाहरण-स्वरूप कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं:—

(क) सुनौ तुम चंपक चंद चकोर, कहौ कहँ स्याम सुनौ खग मोर।
किथो हम मान तज्यो उन संग, सह्यो नहीं गर्व रह्यो नहीं रंग॥

(ख) सकल लोक व्रजवासि जहँ, तहँ मिलि नंदकुमार।
दधि तंडुल मंजुल मुखहिं, किय बहु विद्धि अहार॥

द्वितीय खंड :—

(१) भरत, नलचरित-रचयिता हर्ष, कालिदास, दंडमाली आदि सात कवीश्वरों का वंदन।

(२) चहुवान-वंश-वर्णन।

इसमें केवल इतने राजाओं का वर्णन है—

(क) ब्रह्मा के यज्ञ से उत्पन्न चहुवान मानिकराय। (ङ) आनल्ल।

(ख) अनेव। (च) जयसिंह।

(ग) धर्माधिराज। (छ) आनंद।

(घ) वीसल। (ज) सोम।

(झ) पृथ्वीराज।

(३) निधि-प्राप्ति।

(४) दिल्ली-प्राप्ति।

वशिष्ठ के अग्निकुंड से उत्पत्ति की कथा इस पुस्तक में नहीं है। चौहान राजाओं का वर्णन भी संक्षिप्त ही है और झूठ-मूठ बीच में राजाओं के नाम इसमें नहीं भरे गए हैं। मुझे तो यह भी संदेह है कि अनेव और धर्माधिराज राजाओं के नाम हैं या नहीं। इस संक्षिप्त वर्णन में धर्माधिराज माणिक्यराय का विशेषण मात्र और अनेव अनेक का पर्यायवाची प्रतीत होता है। इस प्रकार वंशावली का रूप कुछ इस प्रकार का हो जाता है—

(क) अनेक अनुजयुक्त धर्माधिराज माणिक्यराय
(ख) वीसल
(ग) आनल्ल
(घ) जयसिंह
(ङ) आनंद
(च) सोम
(छ) पृथ्वीराज

यदि वीसल को विग्रहराज तृतीय मान लिया जाय और प्रबंध-कोश के अंत की वंशावली में भी स्त्री-लंपट बताया गया है, तो बात बहुत कुछ साफ हो जाती है। शिला-लेखों से प्राप्त वंशावली इस प्रकार है—
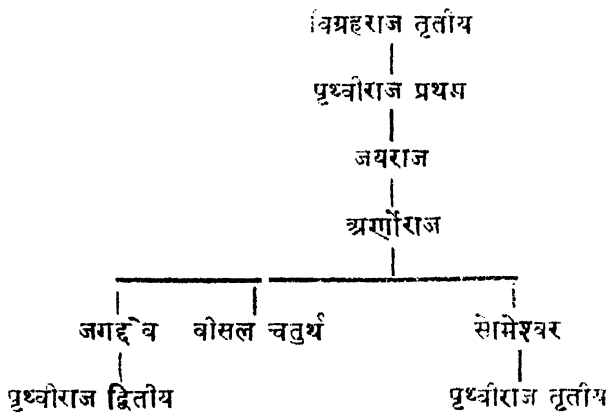
यदि हमारी प्रति के आनल्ल को पृथ्वीराज प्रथम का दूसरा नाम मानें और केवल पृथ्वीराज एवं पृथ्वीराज के पिता एवं दादा आदि को वंशावली में शामिल करें तो यह वंश-परंपरा बिलकुल ठीक बैठती है। आनंद अर्णोराज का भ्रष्ट रूप प्रतीत होता है।

असली रासो द्वितीय खंड से ही आरंभ हुआ होगा। प्रथम खंड के थोड़े से वंदन-श्लोकों को छोड़कर बाकी सब भाग प्रक्षिप्त ही है। द्वितीय खंड के कवि-वंदन के ठीक बाद "कवि एम रच्चैं जु अग्गें सुवंदे, तिनहु पूछि कै कछु कवि चंद छंदे।" ये शब्द भी इस अनुमान को पुष्ट करते हैं। परंतु द्वितीय खंड भी प्रक्षिप्तांश से रहित नहीं है। भाषा की कसौटी पर कसने से दिल्ली-ढिल्ली कथा और मेवाड़पति के यवनराज द्वारा पकड़े जाने की कथा स्पष्टतया प्रक्षिप्त

प्रतीत होती हैं। उनका वास्तव में रासो के मुख्य कथानक से कोई संबंध ही नहीं है।

तीय खंड :—

(१) संयोगिता की उत्पत्ति।

(२) संयोगिता-विषयक भविष्य-वाणियाँ।

भविष्य-वाणियाँ भ्रष्ट संस्कृत में हैं, श्रौर इन्हीं को फिर डिंगल के छंदों में बढ़ाकर दिया गया है :—

सत्ययुगे कासिकाजुद्धं, त्रेतायां च अयोध्यया।
द्वापरे हस्तिनावासं, कलौ कनवज्जिका पुरी॥
अन्यथा नैव पिष्यंति, द्विजस्य वचनं यथा।
प्राप्ते च जुग्गुनोनाथे, संयोगिता तत्र गच्छति॥

चतुर्थ खंड :—

(१) भोला भीम द्वारा आबू-विजय।

(२) सलख पँवार द्वारा शहाबुद्दीन गोरी का पकड़ा जाना।

पंचम खंड :—

(१) जैन अमरसिंह द्वारा कैमास-वशीकरण।

(२) भीम द्वारा नागौर-ग्रहण।

(३) चंद द्वारा दुर्गास्तुति।

स्तुति के श्रंत में लिखा है "चूर्णिका। अयं मंत्रस्तुति संग्रामकाले जपाय भूपालद्वारे। विजयाय स्मरणं कृत्वा गच्छेत्।"

(४) वशीकरण का दूर होना श्रौर कैमास द्वारा भीम का पराजय।

षष्ठ खंड :—

(१) जयचंद द्वारा यज्ञारंभ।

पृथ्वीराज का उत्तर इन शब्दों में दिया है :—

"जानहितं एक जुग्गिनीपुरेस
जरासिंध वंस पृथ्वी नरेस।
निहुँ बार साहि बंधिय जेन
भंजिया भुवप्पति भीमसेन।

संभरि सुदेश सोमेस सुत्त
दानवतिरूप अवतार धुत्त
तिहि कंध सीस किमि जग्य होय ।"

(२) संयोगिता द्वारा पृथ्वीराज-वरण की प्रतिज्ञा । संयोगिता के लिये गंगा-तट पर महल की रचना ।

खंड के प्राय: अंत में संयोगिता द्वारा कहलाया हुआ यह श्लोक है :—

"संवादे च विनोदे च, देव देव तिरच्छति ।
अन्यप्रानैव प्रानैव, प्राणेसो मे दिलीश्वर ॥"

सप्तम खंड :—

(१) कैमास का कर्णाटी से गुप्त प्रेम के कारण वध ।

(२) पृथ्वीराज का चंद बरदाई से प्रश्न और भेद का प्रकाशित होना ।

जिन छंदों का उल्लेख 'पुरातन प्रबंध-संग्रह' की प्रति में जिन-विजय जी ने किया है वे इस प्रति में इस प्रकार हैं :—

"एकु वान पुहमी-नरेस कैंवास हि मुक्कौ ।
उर उप्पर खर हन्यो वीरु कष्षहंतर चुक्कौ ॥
वियो बाँन संधान हन्यौ सोमेसर-नंदन ।
गहौ करि निग्रह्यौ षन्यो रड्यौ संभरि-नंदन ॥"

अष्टम खंड :—

(१) संवत् ११५१ में कन्नौज के लिये प्रस्थान ।

(२) गंगा पर पहुँचना और उसकी प्रशंसा ।

(३) जयचंद के द्वार पर चंद का पहुँचना ।

नवम खंड :—

(१) चंद का जयचंद द्वारा स्वागत ।

(२) चंद के यह कहने पर कि पृथ्वीराज के सिवाय अन्य सब राजा उसके वशीभूत होंगे जयचंद का रोष ।

(३) कर्णाटी का प्रवेश और पृथ्वीराज को देखकर घूँघट करना ।

(४) पृथ्वीराज का पहचाना जाना और लड़ाई का आरंभ।

(५) पृथ्वीराज और संयोगिता का परस्पर दर्शन एवं विवाह।

दशम खंड :—

(१) पृथ्वीराज को पकड़ने का प्रयत्न।

(२) पहले दिन सात सामंतों का मारा जाना।

एकादश खंड :—

(१) सोलह सामंतों का दूसरे दिन मारा जाना।

(२) पृथ्वीराज के मुख्य कार्यों की गणना, मुहम्मद गोरी भीम-चालुक्य आदि का पराजय।

द्वादश खंड :—

(१) भयानक युद्ध।

(२) तीस सामंतों और संयोगिता सहित पृथ्वीराज का दिल्ली-प्रवेश।

इस प्रति के अनुसार युद्ध तीन ही दिन हुआ, न कि दस दिन। युद्ध का वर्णन पर्याप्त है, परंतु दूसरी रासो की प्रतियों के समान अत्यधिक नहीं।

त्रयोदश खंड :—

(१) पृथ्वीराज और संयोगिता का विधिपूर्वक विवाह।

(२) जैतखंभ का आरोपण।

(३) धीर पुंडीर द्वारा शहाबुद्दीन का पकड़ा जाना।

(४) षड्ऋतु-शृंगार-वर्णन।

चतुर्दश खंड :—

(१) चामुंडराय सामंत का बंधमोचन।

(२) शहाबुद्दीन से युद्ध के लिये सामंतों की मंत्रणा।

पंचदश खंड :—

शहाबुद्दीन और पृथ्वीराज के दलों की प्रारंभिक लड़ाई एवं व्यूह-रचना।

षोडश खंड :—

पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन गोरी का युद्ध।

सप्तदश खंड :—

'योगिनी-चिल्ह-गृद्धरूपेण संयोगितां प्रति शूरसमरपराक्रम-वर्णनम् ।'

अष्टादश खंड :—

(१) शूर सामंत पराक्रम वर्णन ।

(२) पृथ्वीराज का पकड़ा जाना ।

(३) जालंधर देवी के स्थान में चंद कवि से वीरभद्र की भेंट ।

नवदश खंड :—

(१) चंद का रूप बदलकर गजनी जाना ।

(२) अंधे पृथ्वीराज को देखकर चंद बरदाई द्वारा उसके पूर्व वीर-कृत्यों का वर्णन ।

(३) गोरी की आज्ञा सुनते ही पृथ्वीराज का बाण चलाना और सुल्तान का वध ।

(४) चंद और राजा का मरण ।

प्रति के अंत में ये पंक्तियाँ हैं—

"मंत्रीश्वर मंडन तिलक वच्छ वंश सुरताण
करमचंद सुत करमचंद भागचंद्र सव जाण
लिखियो सही......पृथ्वीराज-चरित्र
पढ़तां सुख संपति सकल...सुख होवे मित्त"

करमचंद वच्छावत बीकानेर-नरेश महाराज श्री रामसिंहजी के मंत्री थे। उनका देहांत संवत् १६५७ में हुआ और वे संवत् १६४७ के लगभग बीकानेर छोड़ चुके थे। उनके पुत्र १६७६ में काम आए। इसलिये हमारी प्रति कम से कम सं० १६७६ से पूर्व की है। बहुत संभव है कि वह मंत्रीश्वर करमचंद के समय में ही लिखी गई हो। प्रति में प्रक्षिप्तांश की मात्रा और भाषा के भिन्न भिन्न स्वरूप देखते हुए कहा जा सकता है कि रासो उस समय तक काफी पुराना हो चुका था। इससे पूर्व भी संभव है कि रासो के कई संस्करण हो

चुके हों। जिन पद्यों का उल्लेख 'पुरातन प्रबंध-संग्रह' की भूमिका में श्री जिनविजय ने किया था, वे हमारी प्रति में मिलते हैं और बहुत संभव है कि प्राचीनतर प्रतियों में बिलकुल उसी रूप में वर्तमान हों।

हम ऊपर बतला चुके हैं कि इसमें दी हुई वंशावली विशेष अशुद्ध नहीं है। रासे। को प्राय: निम्नलिखित कथानकों के कारण कृत्रिम एवं जाली बतलाया जाता है :—

(१) अग्निवंशी क्षत्रियों की उत्पत्ति-कथा।

(२) पृथाबाई और राणा संग्रामसिंह का विवाह।

(३) भीम के हाथ सोमेश्वर की मृत्यु।

(४) दाहिमा चावंड की बहिन, शशिव्रता एवं हंसावती आदि अनेक कन्याओं से पृथ्वीराज का विवाह।

हमारी प्रति में इन सब कथाओं का अभाव है। सोमेश्वर की स्त्री को अनंगपाल की पुत्री अवश्य बतलाया गया है। परंतु संभव है कि वे पृथ्वीराज की विमाता हों। दिल्ली के बीसलदेव के अधीन होने पर भी तोमर राजाओं का वहाँ रहना संभव है। जिनपालकृत 'खरतरगच्छपट्टावली' में संवत् १२२३ के लगभग मदनपाल नामक एक राजा का नाम दिल्ली के शासक-रूप में मिलता है। समसामयिक ग्रंथ होने के कारण यह पट्टावली अत्यंत प्रामाणिक इतिहास ग्रंथ है। अतएव इसके आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि संवत् १२२० के बाद भी दिल्ली चौहानेतर वंश के शासन में थी।

इसी संस्करण की एक और प्रति राज्य-पुस्तकालय में वर्तमान है। यदि कुछ और प्राचीन प्रतियों को ढूँढ़कर असली रासे। का संस्करण निकाला जाय तो इतिहास का अत्यंत उपकार होगा। मैंने सन् १९२७ में इस ग्रंथ को पहले पहल देखा था। इसके बाद अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ देख चुका हूँ। परंतु मुझे इसके समान प्रामाणिक एवं प्राचीन कोई दूसरी प्रति नहीं मिली है। यदि कोई सज्जन अन्य प्राचीन प्रतियों की सूचना दें तो इन पंक्तियों का लेखक अत्यंत अनुगृहीत होगा।

विक्रम संवत् १३३१ का एक दानपत्र

[ले०—श्री चिंतामणि बलवंत लेले बी० ए० और श्री पुरुषोत्तम त्रिंबक कापशे]

गत जनवरी १६३६ में मद्रास-निवासी पंडित सुब्रह्मण्यजी ओंकार मांधाता क्षेत्र से विक्रम संवत् १३३१ के एक ताम्र-पत्र-लेख की नकल 'हिस्ट्री-आफिस' धार में लाए थे। इस लेख में विष्णु-स्तवन के बाद परशुराम, राम, महादेव प्रभृति की स्तुति, परमार राजाओं की वंशावली और उनके शूरवीर सचिव, सेनापति आदि की स्तुति पर ६७ श्लोक हैं। श्लोकोल्लिखित राजाओं के नाम अनुक्रम से इस प्रकार हैं :—

(१) परमार (इसी के कारण इस वंश को परमार कहने लगे)
(२) धाराधीश
(३) धूमराज
(४) देवसिंहपाल
(५) कनकसिंह
(६) हर्ष (सीयक दूसरा)
(७) जगदेव
(८) कर्ण
(९) शरीरी
(१०) वीरसिंह
(११) वाक्पति
(१२) सीया
(१३) मुंज
(१४) सिंधुराज
(१५) भोज
(१६) उदयादित्य
(१७) नरवर्मा
(१८) यशोवर्मा
(१९) अजयवर्मा
(२०) विंध्यवर्मा
(२१) सुभटवर्मा
(२२) अर्जुनदेव
(२३) देवपाल
(२४) जैतुगीदेव
(२५) जयवर्मा (२)
(२६) जयसिंह

धार स्टेट गजेटियर में उदयपूर की प्रशस्ति के अनुसार दी हुई परमार-वंशावली में और प्रस्तुत लेख की वंशावली में भेद है। हर्ष के पहले जो पाँच नाम लेख में हैं वे गजेटियर में नहीं हैं। इनके बदले उपेंद्र या कृष्णराज, वैरिसिंह (१) सीयक (१) वाक्पतिराज (१) और वैरिसिंह (२) ऐसे पाँच नाम दिए हैं। गजेटियर में लिखा है कि हर्ष के बाद उसके दो पुत्र अनुक्रम से राजगद्दी पर बैठे। प्रस्तुत लेख में हर्ष के बाद पाँच-छः राजपुरुषों के गद्दी पर बैठने के बाद मुंज और सिंधुराज का निर्देश किया गया है। वंशावली के अंतिम राजा जयसिंह का ही उपलक्षण से जयवर्मा (३) ऐसा निर्देश श्लोक ५५ और ५७ में किया मालूम होता है।

श्लोक ५८, ५९, ६० और ६२ में राट, पल्हण, लखणसिंह, और अनयसिंह का निर्देश मिलता है। ये श्री जयवर्मा के सचिव, सेनापति या शूरवीर सरदारों में से होंगे यह "यः स्वामिनि जयश्रियमात्मनि यश एव चाधत्त" इस श्लोक-पंक्ति से प्रतीत होता है।

प्रशस्ति के श्लोकों के बाद ऐसा उल्लेख है—

सराणपूर्वोक्तराजावलिविराजमानेन शक्त्यादिभिः प्रसादितेन श्रीमज्जयवर्मणा धाराधिपेनानुज्ञातः साधनिको जयसिंहदेवो धर्मध्वसम्बद्धबुद्धिर्विजयी वर्धनपुरप्रतिजागरणके कुम्भडाउदग्रामे तथा तत्रैव वालौदग्रामे तथा सप्ताशीतिप्रतिजागरणके वघाडिग्रामे तथा नागदहप्रतिजागरणके नादियाग्रामे समस्तराजपुरुषान् ब्राह्मणोत्तरान् प्रतिनिवासिपट्टकिलजनपदादींश्च बोधयत्यस्तुवः संविदितं यथा मण्डपदुर्गावस्थितैरस्माभिरेकत्रिंशदधिकत्रयोदशसंख्यान्विते [भाद्रपद शु० ७ वि० सं० १३३१ (अर्थात् ई० सन् १२७४) में जयसिंह ३ मांडव में राज करता था।] प्रमाथिनाम्नि संवत्सरे भाद्रपदमासि शुक्लपक्षे सप्तम्यां तिथौ शुक्रदिने मैत्रे नक्षत्रे स्नात्वा भगवन्तं पार्वतीपतिं समभ्यर्च्य संसारस्य असारतां दृष्ट्वा तथा "वाताभ्रविभ्रममिदं वसुधाधिपत्यमापातमात्रमधुरो विषयोपभोगः। प्राणास्तृणाग्रजलबिंदुसमा नराणां धर्मः सखा परमहो परलोकयाने॥" इति सर्वं विमृश्यादृष्टफलमंगीकृत्य च स्वपुत्रैः कमलसिंह,

धारसिंह, जयसिंह, पद्मसिंह इत्येतैः सहितैः नानागोत्रेभ्यो नानानामभ्यो मांधातृब्रह्मपुरीवास्तव्येभ्यो यथा—

टकारीस्थानविनिर्गताय गौतमसगोत्राय आंगिरसावसथ्यगौतमेति त्रिप्रवराय ऋग्वेदशाखाध्यायिने च कमलाधरशर्मणः पौत्राय अवसद्द्विविद्याधरशर्मणः दी० पद्मनाभशर्मणे ब्राह्मणाय पदमेकम् ॥१॥

टकारीस्थानविनिर्गताय गौतमसगोत्राय आंगिरसावसथ्यगौतमेति त्रिप्रवराय ऋग्वेदशाखाध्यायिने व० कमलाधरशर्मणः पौत्राय अव० विद्याधरशर्मणः पुत्राय व० माधवशर्मणे ब्राह्मणाय पदमेकम् ॥२॥

टकारीस्थानविनिर्गताय भारद्वाजसगोत्राय आंगिरसबार्हस्पत्यभारद्वाजेति त्रिप्रवराय ऋग्वेदशाखाप्रवर्धमानाय मिश्रधर्मधरशर्मणः पौत्राय पंचपीठिमिश्रउद्धरणशर्मणः पुत्राय श्रीकण्ठशर्मणे ब्राह्मणाय पदमेकम् पूर्वम् ॥३॥

लखणपुरविनिर्गताय काश्यपसगोत्राय काश्यपावत्सरनैध्रुवेति त्रिप्रवराय वं० भोपतिशर्मणः पौत्राय पं० विद्यापतिशर्मणः पुत्राय ऋग्वेदशाखाप्रवर्धमानाय द्वि० गोवर्धनशर्मणे ब्राह्मणाय पदमेकम् ॥४॥

लोलापोहस्थानविनिर्गताय चन्द्रात्रेयसगोत्राय आत्रेयगाविष्ठिरपूर्वातिथ्वेति त्रिप्रवराय दी० श्रीवत्सशर्मणः पौत्राय दी० देवशर्मणः पुत्राय माध्यंदिनशाखाध्यायिने दी० वामनशर्मणे ब्राह्मणाय पदमेकम् ॥५॥

टकारीस्थानविनिर्गताय वसिष्ठसगोत्राय वासिष्ठशाक्त्यपाराशर्येति त्रिप्रवराय बलभद्रशर्मणः पौत्राय, साधारणशर्मणः पुत्राय माध्यंदिनशाखाध्यायिने अवस्थी अनन्तशर्मणे ब्राह्मणाय पदमेकम् ॥६॥

टकारीस्थानविनिर्गताय भारद्वाजसगोत्राय आंगिरसबार्हस्पत्यभारद्वाजेति त्रिप्रवराय शुक्लप्रद्युम्नशर्मणः पौत्राय द्वि० सीलूशर्मणः पुत्राय माध्यंदिनशाखाध्यायिने द्वि० हरीरामशर्मणे ब्राह्मणाय पदमेकम् ॥ ७ ॥

टेणीस्थानविनिर्गताय काश्यपसगोत्राय काश्यपावत्सारनैध्रुवेति त्रिप्रवराय उपादेवशर्मणः पौत्राय उपा० वीजूशर्मणः पुत्राय माध्यंदिन-शाखाध्यायिने द्वि० महादेवशर्मणे ब्राह्मणाय पदमेकम् ॥८॥

टकारीस्थानविनिर्गताय भारद्वाजसगोत्राय आंगिरसबार्ह-स्पत्यभारद्वाजेति त्रिप्रवराय द्वि० गजाधरशर्मणः पौत्राय अव० वींकूदेव-शर्मणः पुत्राय माध्य ंदिनशाखाध्यायिने द्वि० अनन्तशर्मणे ब्राह्मणाय पदमेकम् ॥९॥

टकारीस्थानविनिर्गताय आत्रेयसगोत्राय आत्रेयगविष्ठिरपूर्वा-तिर्वेति त्रिप्रवराय पा० कृष्णशर्मणः पौत्राय पा० अत्रिशर्मणः पुत्राय माध्यंदिनशाखाध्यायिने पा० योगेश्वरशर्मणे ब्राह्मणाय पदमेकम् ॥१०॥

टकारीस्थानविनिर्गताय वसिष्ठसगोत्राय वसिष्ठाभरद्वस्विन्द्र-प्रमदेति त्रिप्रवराय त्रि० समुद्धरणशर्मणः पौत्राय त्रि० दामोदर-शर्मणः पुत्राय कौथुमशाखाध्यायिने त्रि० नारायणशर्मणे ब्राह्मणाय पदमेकम् ॥११॥

टकारीस्थानविनिर्गताय सावर्णिसगोत्राय भार्गवच्यावनाप्न-वानौर्वजामदग्न्येति पंचप्रवराय व० वासुदेवशर्मणः पौत्राय लक्ष्मी-धरशर्मणः पुत्राय कौथुमशाखाध्यायिने त्रि० पुरुपूशर्मणे (पुरुषोत्तम ?) ब्राह्मणाय पदमेकम् ॥१२॥

टेणीस्थानविनिर्गताय शाण्डिल्यसगोत्राय शाण्डिल्यासितदेवलेति त्रिप्रवरान्वित त्रि० विश्वेश्वरशर्मणः पौत्राय त्रि० महेश्वरशर्मणः पुत्राय कौथुमशाखाध्यायिने त्रि० बाँऊशर्मणे (भाऊ ?) ब्राह्मणाय पद-मेकम् ॥१३॥

वत्सगोत्राय भार्गवच्यावनआप्नवानौर्वजामदग्न्येति पञ्च-प्रवराय चाहमानकुले प्रवर्धमानाय सा० पल्हणदेववर्मणः पौत्राय सा० सलखणसिंहवर्मणः पुत्राय साधनिकनयसिंहवर्मणे क्षत्रियाय पद-द्वयम् ॥१४॥

इससे यह स्पष्ट है कि लेख-निर्दिष्ट दान के कुल सोलह भाग थे। उनमें से चौदह भाग ब्राह्मणों को—जो अलग अलग स्थान के थे और

जिनमें ४ ऋग्वेदी, ७ माध्यंदिनी (यजुर्वेदी) और ३ कौथुमीनाम सामवेदी थे—दिए गए और दो भाग दाता अनयसिंह ने अपने भाई नयसिंह क्षत्रिय को दिए। भाई नयसिंह का जो नाता पल्हण और सलखण से ऊपर संख्या १४ में बताया है वही अनयसिंह का भी उनसे होना श्लोक ५९-६०-६२ से प्रतीत होता है। अब क्षत्रिय के लिये दान करना तो शास्त्रविहित है, किंतु प्रतिग्रह करना भी उतना विहित है या नहीं, यह प्रश्न प्रस्तुत नहीं। लेख इतना ही कहता है कि क्षत्रिय ने अपने क्षत्रिय भाई को दान दिया। ऐसी स्थिति होने पर भी संख्या १४ के आगे 'इति षोडशब्राह्मणेभ्यः' यह तो खोदनेवाले की गलती स्पष्ट रूप से मालूम होती है।

लेख का शेषांश इस प्रकार है—

कुंभडाउदा, बालौदा, वघाटी, वाटिया इति ग्रामचतुष्टयं समग्रं चतुष्कंकटविशुद्धसवृक्षमालाकुलं तत्सम्बद्धगृहगृहस्थानखलखलस्थानं खलु तलात्र्यागौवाटिकाशाकमुष्टितैलपलिका कुम्भपूरका काशोत्पत्तिपातालनिधिनिक्षेपा देवायतनोद्यानतडागवापीकूपादिसहितं साहिरण्यभागभोगसोपरिकरदंडादि सर्वादायसहितं पुण्ययशोभिवृद्धये चन्द्रार्कार्णवक्षितिसमकालं यावत्परयोक्त्या देवब्राह्मणभुक्तिवर्जं शासनेनोदकपूर्वं दं तन्मत्त्वा तन्निवासिपट्टकिलजनपदैर्यदादीयमानभागभोगकरहिरण्यादिकमाज्ञाविधेयैर्भूत्वा सर्वमेतेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः समुपनेतव्यम्। सामान्यं चैतत् धर्मफलं बुध्वा अस्मत्स्वामिवंशजैर्भाविभिः भोक्तृभिरस्मद्दत्तधर्मादायोनुमन्तव्यः पालनीयश्च उक्तं च—बहुभिर्वसुधा भुक्ता राजभिः सगरादिभिः। यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम्॥ स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धराम्। स विष्ठायां कृमिर्भूत्वा पितृभिः सह मज्जति। सर्वानेवं भाविनो भूमिपालान् भूयो भूयो याचते रामभद्रः। सामान्योयं धर्मसेतुर्नृपाणां काले काले पालनीयो भवद्भिः॥ इति कमलदलाम्बुबिन्दुलोलां श्रियमनुचिन्त्य मनुष्यजीवितं च सकलमिदं मुदाहृतञ्च बुध्वा नहि परपुरुषैः परकीर्तयो विलोप्याः॥इति॥ श्रीकण्ठेन नियुक्तेन सभार्या जयवर्मणा। चक्रे कुलक्रमायात्र त्रैविद्यत्वेन शासनम्॥ उत्कीर्णं बरूपकारकान्हाकेन।

लेख-निर्दिष्ट स्थानों में से कुछ अब भी मौजूद हैं—जैसे कि वर्धमानपूर प्रतिजागरणक अर्थात् धार रियासत का बदनावर महाल; कुम्भडाउद अर्थात् बड़ोद; बालौदा अर्थात् बालोदा; नागदह प्रतिजागरणक अर्थात् नागदा रियासत, धार; देवपालपूर अर्थात् देपालपूर परगना, रियासत होलकर और मण्डपदुर्ग अर्थात् मांडव, धार रियासत।

चयन

साहित्य-सम्मेलन के सभापति का भाषण

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के २८वें (काशी-) अधिवेशन के सभापति के पद से पंडित अंबिकाप्रसादजी वाजपेयी ने जो महत्त्वपूर्ण भाषण दिया उसके मुख्य अंश यहाँ उद्धृत हैं—

हिंदी-साहित्य का आरंभ हमारे बहुत से विद्वानों ने चंद के पृथ्वीराजरासौ से माना है, परंतु उसके पहले का जो विशाल साहित्य-भांडार है, उसकी ओर प्राकृत समझकर ध्यान नहीं दिया है। यह प्रश्न बड़ा जटिल है कि प्राकृत का कहाँ अंत और हिंदी का कहाँ प्रारंभ होता है, क्योंकि धीरे धीरे शब्दों के रूपों में परिवर्तन होता रहता है। कभी कोई शब्द और प्रयोग साधु समझा जाता है, तो कभी असाधु। परंतु यह निर्विवाद है कि बहुत से प्राकृत शब्द ज्यों के त्यों आज भी हिंदी में व्यवहृत हो रहे हैं; अंतर यदि कुछ है तो शब्दाक्षर लिखने के प्रकार में। यह भी बड़ी बात नहीं है, क्योंकि प्राकृत का लिखने का प्रकार हमें रामचरित-मानस के समय तक मिलता है। यही नहीं, शब्दों के प्रयोग में भी हमें यही दिखाई देता है। कोई शब्द बिल्कुल हिंदी बन गया है और कोई बन रहा है। प्राकृत में अक्षर लोप करने की जो पद्धति थी, वह कालांतर में जाती रही और हिंदी में तत्सम शब्दों का प्रचार बढ़ा। क्रमशः हमारी हिंदी तद्भव शब्द छोड़कर अर्द्ध-तत्सम और तत्सम शब्दों की ओर झुक पड़ी। यही कारण है कि वर्त्तमान हिंदी संस्कृतमयी कही जाती है। पुरानी हिंदी आजकल के हिंदी के विद्वानों की भी समझ में न आने का एक कारण यह भी है कि तद्भव शब्द लुप्त हुए चले जा रहे हैं और उनके बदले तत्सम शब्द प्रयुक्त हो रहे हैं।

जैसा मैं बता चुका हूँ, हिंदी के बहुत से विद्वान् समझते हैं कि हिंदी-साहित्य का आदि ग्रंथ पृथ्वीराजरासौ है, परंतु यह विचार

भ्रमपूर्ण जान पड़ता है। इसके दो कारण हैं; एक तो रासौ जैसा विविध-विषय-भूषित ग्रंथ किसी साहित्य का आदि ग्रंथ नहीं हो सकता, दूसरे रासौ की-सी बहुत सी कविता सुलभ है, जो अपभ्रंश प्राकृत के नाम से प्रसिद्ध है; और तीसरे चंद ने स्वयं रासौ की भाषा को प्राकृत ही कहा है। समय १ रूपक ३८ में चंद ने अथवा जिस किसी ने उसके नाम से रासौ की रचना की हो, इस श्लोक में बताया है कि इस महाकाव्य में क्या है :—

उक्ति धर्मविशालस्य राजनीति नवं रसम्।
षट्भाषा पुराणञ्च कुरानं कथितं मया ॥

अर्थात् मैंने विशाल धर्म की उक्ति, राजनीति, नवरस, षड्भाषा, पुराण और कुरान कही है। इसमें 'षट्भाषा' में प्राकृत के सभी अवांतर भेद आ जाते हैं। इसलिये जब चंद का ग्रंथ षड्भाषा में होने पर भी हिंदी का कहाता है, तब अपभ्रंश प्राकृत के जो दोहे और छंद सिद्ध हेमचंद्र ने अपनी प्राकृताष्टाध्यायी के चतुर्थ पाद में उदाहरणस्वरूप उद्धृत किए हैं, उन्हें हिंदी मानने में कौनसी बाधा है? या तो दोनों हिंदी हैं या कोई नहीं है। उनकी भाषा में अरबी फारसी के शब्दों के सिवा रासौ की भाषा से कोई प्रभेद दृष्टिगोचर नहीं होता। स्वर्गीय डा० काशीप्रसादजी जायसवाल ने बताया है कि पुरानी पूर्वी हिंदी का लगातार इतिहास और उदाहरण सन् ७५० ईस्वी से आज तक के मिल रहे हैं। पूर्वी हिंदी के पहले कवि सिद्धाचार्य सरह का समय ७५० ईस्वी है। इसने दोहे कहे हैं और दोहे की मात्राओं का जो हिसाब आज है, वही उस समय भी था। इन सिद्ध कवियों ने दोहे के सिवा चौपाई, छप्पय, रोला, कुंडलिया आदि भी रची हैं। इससे यह निर्विवाद है कि हिंदी-साहित्य का आरंभ ७०० ईस्वी से पीछे का नहीं माना जा सकता। शिवसिंहसरोज में जो पुष्प कवि हिंदी का आदि कवि बताया गया है, आश्चर्य नहीं कि वह जैन पंडित पुष्पदंत ही हो, जिसने 'नागकुमार-चरित' लिखा है। अब तक खोज के काम में जितना परिश्रम किया गया है, उससे अधिक मनोनिवेश-

पूर्वक यदि शोध किया जाय, तो ६०० ईस्वी हिंदी का आरंभकाल सिद्ध हो सकता है।

× × ×

उर्दू हिंदी में भेद क्यों है ?

हिंदी और उर्दू एक ही भाषा के दो रूप हैं, क्योंकि दोनों के क्रियापद, विभक्ति-प्रत्यय, अव्यय और सर्वनाम एक हैं और इसलिये दोनों में जितना साम्य है उतना भारत की किन्हीं दो भाषाओं में नहीं है। इससे हिंदीवालों को उर्दू और उर्दूवालों को हिंदी के समझने में कुछ सहूलियत होती है। परंतु अरबी-फारसीदाँ जिन शाइरों के परिश्रम से वर्त्तमान उर्दू-साहित्य का विकास हुआ है, उन्होंने कभी इस बात का विचार नहीं किया कि जिस भाषा में हम साहित्य-रचना करने बैठे हैं उसका एक और जनसमूह से संबंध है, जिसे अरबी-फारसी का ज्ञान नहीं है। इसलिये उर्दू ने आर्य-भाषा होकर भी वैसे ही सामी लिबास पहन लिया जैसे अरबी के प्रभाव से फारसी ने पहना था। फल यह हुआ कि आज उर्दू हिंदी अलग अलग हैं और लाख सिर पटकने पर भी वे एक नहीं हो सकतीं। × × ×

हिंदुस्तानी

इस प्रसंग में यह स्मरण रखना चाहिए कि हिंदी और उर्दूवाले दोनों इस आंदोलन को संदेह की दृष्टि से देखते हैं। उर्दूवाले कहते हैं कि हिंदोस्तानी की आड़ में हिंदी प्रचार करने का विचार हुआ है और हिंदीवाले कहते हैं कि हमारी भाषा नष्ट करने का यह प्रयत्न है। यदि कहा जाय कि हमारे आंदोलन की निरपेक्षता का यही प्रमाण है कि उभय पक्ष इसकी निंदा करते हैं, तो हम पूछते हैं कि यह हिंदुस्तानी आप अपने लिये यदि बनाते हों, तो खुशी से बनाइए; पर यदि हिंदी और उर्दूवालों के लिये बनाते हों, तो क्या यह व्यर्थ परिश्रम न होगा ? क्योंकि आप एक ओर इसे जनता की भाषा बनाने के लिये इसमें ग्राम-शब्दों का समावेश करना चाहते हैं और दूसरी ओर उर्दूवालों से भी इसका व्यवहार करने की आशा करते हैं। मैं आपको अत्यंत नम्रता-

पूर्वक बताना चाहता हूँ कि इस भाषा में वह लोच नहीं है कि यह साहित्यिकों और ग्रामीणों दोनों को संतुष्ट कर सके। फिर जिस समय आप इसमें ग्राम-शब्द भरने लगेंगे, उस समय उर्दूवाले आपसे अबसे कोसों दूर हट जाएँगे। जो उर्दू साहित्यिक नागरी हिंदी के ही शब्दों को मतरूक (अप्रचलित) बना रहे हैं, वे ग्राम-भाषा के शब्दों का व्यवहार कैसे करेंगे? इसलिये जैसे धर्मसंप्रदायों के भेदभाव नष्ट करने के लिये इस देश में अनेक प्रयत्न हुए, पर उनके फलस्वरूप नए संप्रदाय की सृष्टि हो गई, वैसे ही हिंदू उर्दू के साथ एक और भाषा हिंदुस्तानी भी मैदान में न आ जायगी यह कौन कह सकता है? × ×

उर्दू का जिहाद

हम यह नहीं भूल सकते कि हिंदी का ही दूसरा रूप उर्दू है। मैं पहले कह आया हूँ कि दोनों के सर्वनाम, क्रियापद, विभक्ति-प्रत्यय और अव्यय एक हैं। उर्दू ने ये हिंदी से ही लिए हैं, इसलिये हिंदी उसका मूलाधार है। यदि उर्दू से आप इन्हें निकाल डालिए, तो आप एक वाक्य भी न लिख सकेंगे। मुसलमानी अमलदारी में राजभाषा फारसी थी, इसलिये लोग उसे पढ़ते थे और इसलिये हिंदी में फारसी शब्द अधिकाधिक मात्रा में आते थे। फारसी की जगह भूल से हो या अन्य कारण से हो, उर्दू हुई, तब उन स्थानों की भाषा भी उर्दू कर दी गई, जहाँ की भाषा न फारसी थी और न उर्दू। मुसलमानी अमलदारी के कारण ही हैदराबाद की भाषा उर्दू है, नहीं तो वहाँ की प्रजा कनाड़ी, मराठी और तेलुगु बोलती है। इसी प्रकार कश्मीर से फारसी हटी तो उर्दू प्रचलित हो गई। अब यदि वहाँ हिंदी के क्लास खोले जाते हैं, तो उर्दूवाले बड़ा तोबातिल्ला मचाते हैं। उन्हें कश्मीरी के प्रचार पर आपत्ति नहीं है, हिंदी के प्रचार पर है। उर्दू का यह सौतिया डाह हिंदी को भी उसका विरोध करने पर बाध्य करे तो कोई न्यायप्रिय मनुष्य इसे दोष नहीं दे सकता। "अंजुमने तरक़्क़ी उर्दू" नाम की संस्था की ओर से दिल्ली

से "हमारी ज़बान" नाम का पाक्षिक पत्र प्रकाशित होता है। इसके एक अंक में "कश्मीर में एक नया हंगामा" शीर्षक देकर यह टिप्पणी लिखी गई है :—

'अगर हमसे कोई पूछे कि फ़िर्केदाराना नफ़रत और कशीदगी की (तनातनी की) बुनियाद कब पड़ी, तो हम बिलातकल्लुफ़ कह देंगे कि जब से उर्दू से हटाकर मौजूदा हिंदी की बुनियाद डाली गई। इससे दो बड़ी क़ौमों में जो मुद्दतों से मेल-मिलाप और एका चला आता था, कमज़ोर हो गया और इनके दर्मियान एक चौड़ी खाई हायल हो गई और यह खाई आज अफ़सोस के साथ कहना पड़ता है कि बढ़ रही है।"

यदि अपनी संस्कृति और देश से संबंध रखनेवाली भाषा हम पढ़ते और उसका प्रचार करते हैं, तो 'फ़िर्केदाराना नफ़रत' और 'कशीदगी' पैदा करते हैं और यदि उर्दू पढ़ते और सर तेज बहादुर सप्रू की तरह उसे 'मुश्तर्का ज़बान' कहते हैं, तो मेल को मजबूत करते हैं! उर्दू के पक्ष में ऐसा आंदोलन करनेवालों को हम यह बता देना चाहते हैं कि उर्दू खुद 'फ़िर्केदाराना ज़बान' है। वह न कभी देशभाषा थी और न आज है। देश में जब मुसलमानी राज था, तब नौकरी-चाकरी के लिये हिंदू भी उर्दू फारसी सीखते थे। ४०-५० साल पहले लोगों की समझ थी कि उर्दू-फारसी नौकरी दिलाने में अधिक सक्षम है, इसलिये उस समय एक क्लास के तीस लड़कों में से अधिक से अधिक ४-५ हिंदी और संस्कृत पढ़ते थे और शेष हिंदू भी उर्दू फारसी। अब उर्दू फारसी में जब वह शक्ति नहीं रही, तब अवस्था पलट गई। अब हिंदी संस्कृत पढ़नेवाले हिंदू विद्यार्थियों की संख्या २५ होती है तो उर्दू फारसीवालों की अधिक से अधिक ५-६। इसके अतिरिक्त उर्दू फारसी के ज्ञाताओं की संख्या दिनोंदिन घटने का एक कारण यह भी है कि जिन हिंदुओं ने १९वीं शताब्दी में उर्दू फारसी पढ़ी थी, उनकी संसारयात्रा प्रायः समाप्त हो रही है। इस प्रकार उर्दू पढ़ने-वालों के बढ़ने की आशा नहीं की जा सकती, क्योंकि उर्दू में लौकिक लाभ की दृष्टि से हिंदुओं को कोई प्रलोभन नहीं रहा। × × ×

हम तो समझते हैं जो उर्दू पढ़ना चाहें, वे उर्दू पढ़ने के लिये और जो हिंदी पढ़ना चाहें, वे हिंदी पढ़ने के लिये स्वतंत्र हैं। हिंदी प्रचार में कोई 'फ़िर्क़ेदाराना' बात नहीं है, उर्दू में चाहे हो भी।

राष्ट्रभाषा

राष्ट्रभाषा का आंदोलन भी पुराना है और इसको व्यावहारिक रूप देने का श्रेय स्वामी दयानंद सरस्वतीजी को है, जिन्होंने आर्यसमाज से संबंध रखनेवाला समस्त साहित्य हिंदी में प्रकाशित किया था। वे हिंदी को आर्यभाषा कहते थे, यद्यपि संस्कृतप्रसूत होने के कारण सिंधी, पंजाबी, बँगला, उड़िया, मराठी, गुजराती आदि भी आर्य भाषाएँ ही हैं। सिंध, पंजाब, बंगाल, उड़ीसा, महाराष्ट्र, गुजरात आदि में हिंदू-मुसलमान सभी प्रादेशिक बोलियाँ बोलते और उन्हीं में अपना अन्य व्यापार चलाते हैं। ये उत्तर भारत की जो भाषा समझते और समझ सकते हैं, वह हिंदी संस्कृतनिष्ठ भाषा होती है, उर्दू-अरबी फारसी से ओतप्रोत नहीं; क्योंकि इनकी भाषा में जो शब्द प्रयुक्त होते हैं, उनमें तत्सम और तद्भव ही अधिक होते हैं, अरबी फारसी और तुर्की के बहुत कम—नहीं के बराबर होते हैं। इसलिये बहुजन की समझ में आनेवाली भाषा उर्दू नहीं हिंदी है और वही राष्ट्रभाषा बन सकती है। इसी कारण भारत के सब मुसलमानों की भी भाषा उर्दू नहीं है। शब्द-निर्वचन शास्त्र के अनुसार तो उर्दू कोई स्वतंत्र भाषा ही नहीं, पर इसकी चर्चा का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। बंगालियों में डा० राजेंद्रलाल मित्र, औपन्यासिक-सम्राट् बंकिमचंद्र चटर्जी, श्री अरविंद घोष जैसे भाषामर्मज्ञ और देशभक्त तथा लोकमान्य तिलक जैसे प्रसिद्ध नेताओं ने आज से ५० साल पहले ही निश्चय कर दिया था कि देश की कोई एक भाषा हो सकती है, तो वह हिंदी ही है। महाराष्ट्र में तो यह जानने के लिये कि अखिल भारत की कोई एक भाषा हो सकती है या नहीं और हो सकती है तो कौन, निबंध लिखवाए गए थे और निबंध-लेखक को पुरस्कार दिया गया था। ऐसा एक निबंध 'राष्ट्र-

भाषा' नाम से बंबई फ्री चर्च मिशन के पंडित श्री केशव वामन पेठे ने सन् १८६१ में लिखकर पूने की वक्तृतोत्तेजक सभा में पढ़ा था और वह १८६४ में पुस्तकाकार छपा भी था। महाराष्ट्र के नेताओं और मनीषियों ने उसकी बड़ी सराहना की थी। सन् १६०८ में बंगभंग के आंदोलन के अंदर एक भाषा का आंदोलन भी चलाने की चेष्टा की गई थी। इसके संचालक एक महाराष्ट्रीय सज्जन वैद्यशास्त्री भाऊ-राव उर्फ सदाशिवरावजी थे। ये बंगाली संपादकों से हिंदी के पक्ष में टिप्पणियाँ लिखाते और बंगाली युवकों को हिंदी पढ़ाने के लिये क्लास चलाते थे। परंतु यह स्वल्पसाधन-सम्पन्न सज्जन की सेवा थी, संगठित प्रयत्न न था। उस समय परस्पर को लोग संदेह की दृष्टि देखते थे, इसलिये इस काम में किसी प्रकार की सहायता भी नहीं मिली जिससे यह बंद हो गया। १६१५-१६ में यह उद्योग किया गया कि अन्य भाषाओं के पत्रों में कालम दो कालम लेख हिंदी में भी रहा करें। कुछ समय तक महाराष्ट्रीय और गुजराती पत्रों ने यह नियम निबाहा, पर फिर यह काम बंद हो गया। आपके सामने मैंने कुछ विस्तार से राष्ट्रभाषा आंदोलन के इतिहास का यह वर्णन इस-लिये किया है कि आप यह जान लें कि मद्रास में हिंदी-प्रचार के प्रयत्न के पहले से यह आंदोलन उठा था। हाँ, हमें महात्मा गांधी का कृतज्ञ होना चाहिए जिन्होंने उसका दक्षिण भारत में प्रचार किया, जहाँ लाखों स्त्री-पुरुष बच्चे हिंदी लिखते-बोलते हैं। परन्तु इस प्रसंग में यदि मैं कहूँ कि हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ने साहित्यनिर्माण की अवहेलना करके अहिंदीभाषियों में हिंदी प्रचार करके अपने धन और शक्ति का सदु-पयोग नहीं किया, तो आपको अप्रसन्न न होना चाहिए; क्योंकि साहित्य-सम्मेलन का मुख्य कार्य साहित्यिक विवादों का निर्णय और साहित्य भांडार की पूर्त्ति करना है। इस दिशा में हमारा काम नहीं के बराबर हुआ है। यही नहीं, हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के राष्ट्रभाषा के आंदोलन में प्रवृत्त रहने से अहिंदी-भाषी लोगों में यह भावना घर कर गई है कि हम राष्ट्रभाषा का प्रचार विशेष उद्देश्य से कर रहे हैं। × ×

इसलिये आप से मेरी विनीत प्रार्थना है कि राष्ट्रभाषा के आंदोलन को आप 'डोमिनियन स्टेटस' ही नहीं पूर्ण स्वराज्य दे दें और यह घोषित कर दें कि राष्ट्रभाषा वा हिंदी पढ़ने से जो लोग लाभ या सुभीता समझें, वे पढ़ें। इससे हमारा यह लाभ होगा कि हम पर किसी प्रकार की दुरभिसंधि का अभियोग न लगाया जा सकेगा, भाषा के सरल करने की माँग न की जा सकेगी और हम अपनी सारी शक्ति अपने प्रश्नों को सुलझाने में लगा सकेंगे। × × ×

बँगला प्रचार का प्रयत्न

इसी पितृपक्ष में हमारे बंगाली भाइयों ने अपनी मातृभाषा को अखिल भारत की राष्ट्रभाषा बनाने के लिये एक सभा स्थापित की है, जिसके सभापति प्रसिद्ध थियोसोफिस्ट एटार्नी बाबू हीरेंद्रनाथ दत्त वेदांत-रत्न और उप-सभापति 'माडर्न रिव्यू' 'प्रवासी' और 'विशाल भारत' के स्वत्वाधिकारी बाबू रामानंद चटर्जी हैं। हिंदी के मुकाबिले में बँगला अपना दावा कहाँ तक सिद्ध कर सकेगी इस विषय में हमें कोई संदेह नहीं है। शौकिया कुछ लोग पुस्तकी बँगला सीख सकते हैं, पर राष्ट्रभाषा का काम लेने के लिये उसे कोई न सीखेगा, क्योंकि न वह राष्ट्रभाषा है और न हो सकती है। उच्चारण की गड़बड़ी, साधु और चलित भाषाओं की भिन्नता, स्वतंत्र लिपि आदि ऐसी बातें हैं जो लोगों को विरक्त करने के लिये पर्याप्त हैं। पर जब तक ऊँट पहाड़ के नीचे नहीं जाता, तब तक वह अपने से बड़ा किसी को नहीं समझता। इस कहावत के अनुसार जब तक बँगला भाषा के प्रचार का प्रयत्न करके वे विफल न हो जायँगे, तब तक उनका अनुचित अभिमान नष्ट न होगा। × × ×

हिंदी का व्याकरण

हिंदी के व्याकरण के विषय में दो तरह की शिकायतें सुनी जाती हैं। एक तो हिंदी-भाषी तथोक्त विद्वानों की ओर से की जाती

है और वह यह है कि वैयाकरण इसको इतने नियमों से जकड़े देते हैं कि यह संस्कृत बनी जा रही और दूसरी यह है कि हिंदी का व्याकरण विशेषकर उसका लिंगप्रकरण बड़ा कठिन है, क्योंकि वह क्रियापदों तक में घुस गया है। पहले प्रकार के सज्जनों से मेरा यह कहना है कि आपने व्याकरण की सत्ता का विचार किए बिना ही यह आपत्ति उठाई है। व्याकरण तो भाषा नहीं बनाता, उसका काम यह बताना है कि भाषा में जो अमुक बात है, उसका कारण अमुक है। भाषा बनाने का काम तो लोगों का है और वैयाकरण का काम केवल इतना ही है कि उसके लिये वह कारण निर्देश कर दे। व्याकरण के ऐसे विरोधियों के विषय में मैंने स्वर्गीय पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदी को लिखा था। उन्होंने १६-६-१६३३ के अपने उत्तर में अपने दरे-दौलत दौलतपुर से इस विषय में जो कुछ लिखा था, वह आप लोगों की जानकारी के लिये मैं सुनाता हूँ :—

"हिंदी व्याकरण के जो विरोधी किसी की सच्ची बात और सत्परामर्श सुनना और कुछ सीखना चाहते ही नहीं, उनके कथन का खंडन मैं बेकार समझता हूँ। कुछ लोगों का तर्क है कि व्याकरणबद्ध होने ही से संस्कृत मर गई। उनसे कोई पूछे—पाली, प्राकृत, सैक्सन, लैटिन और प्राचीन ग्रीक को किसने मार डाला। समयानुकूल परिवर्त्तन होते होते भाषाएँ मरा ही करतीं और नई नई पैदा होती ही रहती हैं। मेरी राय में संस्कृत-भाषा जो अब भी जीती है, वह अपने व्याकरण की ही बदौलत जीती है। भाई मेरे, मैं इस संबंध में अपनी कोई राय प्रकाशित न करूँगा। कौन व्यर्थ ही बरों के छत्ते को छेड़े। मेरी यह चिट्ठी ही मेरी राय है जिसे मैंने आप पर निजी तौर पर प्रकट कर दिया है।"

दूसरी तरह की शिकायत जो लोग करते हैं, उनमें कुछ तो वे हिंदीभाषी हैं, जिन्होंने अच्छे भाषावेत्ताओं की संगति नहीं की है अथवा जिन्हें व्याकरण के नियम याद नहीं रहते। और कुछ अहिंदी-भाषी हैं जिन्हें यह गोरखधंधा जान पड़ता है। जिन भाषाओं

में दो ही लिंग होते हैं, उन सब में लिंग-निर्णय का काम कुछ कष्टसाध्य होता ही है। परंतु फिर भी जो नियम अच्छे व्याकरणों में बताए गए हैं, उनसे यह कठिनाई दूर हो जाती है। क्रियापदों में लिंग-भेद करने का कारण यह हुआ है कि सर्वनाम शब्द उभयलिंगी हैं और इनके क्रिया-पद ही इनका लिंग बता सकते हैं। जिन्हें संस्कृत में तिङंत कहते हैं, उनका प्रयोग धीरे धीरे बंद हो जाने से कृदंतों से क्रिया-पद बनाए जाने लगे और कृदंत क्रिया-पदों में लिंग-भेद संस्कृत में भी होता है। जिन लखनऊवालों ने तिङंत क्रियापदों की कठिनाइयों का विचार कर कृदंत क्रिया-पद चलाए हैं, उन्होंने प्रशंसनीय कार्य किया है। अहिंदीभाषियों को लिंगनिर्णय के संबंध में इतना ही जान लेना बस है कि संस्कृत में जो पुंलिंग वा नपुंसकलिंग शब्द होते हैं, वे हिंदी में बहुधा पुंलिंग होते हैं और स्त्रीलिंग बहुधा स्त्रीलिंग होते हैं। यदि कोई अहिंदी लेखक इस नियम को याद रखेगा और वह हिंदी नियम के विरुद्ध लिखेगा भी, तो दोषी न समझा जाएगा। मेरी समझ से अहिंदी-भाषियों के लिये इससे अधिक सुभीता हम नहीं दे सकते।

जिन लोगों को 'ने' के प्रयोग पर आपत्ति है, उनका तर्क है कि पहले यह प्रयोग नहीं था, अब होने लगा है, इसलिये इसे हटा देना चाहिए। यह सच है कि 'ने' चिह्न का प्रयोग पहले बहुत कम होता था, परंतु 'ने' न रहने पर भी कर्मणि प्रयोग रासो से लेकर तुलसीकृत रामायण तक में पाया जाता है। हमारी हिंदी शौरसेनी प्राकृत की इस विशेषता को छोड़ नहीं सकती। इसलिये जो हिंदी से इसे निकालना चाहते हैं, खेद है हम उन्हें संतुष्ट करने में सर्वथा असमर्थ हैं। भाषा सीखने में किसी प्रकार की और उलझन हो, जिसका हमारी भाषा के मूल सिद्धांत से कोई संबंध न हो, उसे सुलझाने के लिये हम सदा सन्नद्ध हैं। हाँ, मूल सिद्धांत में कोई परिवर्त्तन नहीं हो सकता। अशुद्ध बोलनेवालों को हम अधिक से अधिक यही दंड देते हैं कि उन पर हँस लेते हैं। जो इससे बचना चाहेंगे, वे अवश्य ही शुद्ध भाषा बोलेंगे। × × ×

बृहत्तर भारत के हिंदीवाले

अब तक मैंने जो कुछ कहा है, उससे स्वदेश के हिंदीवालों का ही संबंध है। परंतु भारत के बाहर जो २५॥ लाख भारतवासी बसे हुए हैं, उनमें हिंदीवालों की संख्या प्रतिशत ८५ से कम न होगी। हमने इन्हें भुलासा रखा है और इसका फल यह हुआ कि हमारी इनके साथ जो दूरता है वह और भी अधिक हो गई है। जो भारतवासी कुली बनकर यहाँ से गए थे, उनमें नागरी हिंदी वा ग्राम-भाषाएँ बोलनेवालों की संख्या ही अधिक थी। परंतु उनके जो पुत्र-पौत्रादि पैदा हुए, वे हिंदी बोलना भूल ही नहीं गए, बल्कि हिंदी बोलने में उन्हें अपमान बोध होने लगा और वे हिंदी को 'कुली लैंग्वेज' (कुली भाषा) कहने लगे! यों तो अन्य उपनिवेशों में भी ऐसे हिंदीवाले अधिक संख्या में हैं, तथापि डच-गायना, ब्रिटिश-गायना, ट्रिनिडाड आदि के हिंदीभाषी लोगों के उत्तराधिकारियों की संख्या बहुत अधिक है। इन्हें इनके पूर्वजों की भाषा और संस्कृति की शिक्षा की अत्यंत आवश्यकता है, नहीं तो कालांतर में इनसे हमारा कुछ भी संबंध न रह जाएगा। अभी भारत परतंत्र है, इसलिये हमने इन उपनिवेशों की ओर ध्यान तक नहीं दिया है। परंतु जब भारत स्वतंत्र होगा, तब ये हमारे उपनिवेश होंगे। एक बार सम्मेलन ने सांस्कृतिक दूतमंडल थाईलैंड (स्याम), यवद्वीप (जावा) आदि भेजने का निश्चय किया था, परंतु फिर यह विचार त्याग दिया गया। इसकी इतनी आवश्यकता भी न थी, जितनी सांस्कृतिक दूतमंडल दक्षिण अमेरिका के इन उपनिवेशों तथा फिजी, मारिशस आदि में भेजकर अपने बिछुड़े हुए इन भाइयों को अपनी संस्कृति और भाषा का संदेश सुनाने की है। एक समय था जब भारतीय संस्कृति का प्रचार देश-देशांतरों में बसी हुई आर्येतर जातियों में भी था, परंतु अब दुर्भाग्यवश हम अपने ही लोगों को भारतीय संस्कृति का स्वरूप समझाने में समर्थ नहीं हैं। हिंदी भाषा के विकृतरूप का ही क्यों न सही, कई उपनिवेशों में व्यवहार होता है। परंतु दक्षिण अमेरिका के जिन स्थानों की बात मैंने कही है, उनमें

हिंदी बोलने और समझनेवाले लोगों की संख्या नहीं के बराबर है। मेरा विचार है कि उपनिवेशों के हिंदी के इन पुत्रों का हिंदी और हिंदुस्तान से संबंध बना रहना आवश्यक है और इसके लिये यहाँ से एक प्रचारक दल वहाँ भेजने का प्रयोजन है। आशा है, आप इस विषय पर भी विचार कर कुछ निश्चय करेंगे। × × ×

सम्मेलन का भावी कार्यक्रम

मैंने सम्मेलन की उन्नति के उपायों पर बहुत विचार कर एक कार्य-क्रम बनाया है। हमारे कई मित्र दशवर्षीय योजना की बात सोच रहे हैं जिससे मेरी भी सहानुभूति है। उन्हें अपनी योजना सम्मेलन में रखनी चाहिए। उसके कार्य में परिणत होने से मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी। मैं नहीं कह सकता कि मेरा कल्पित कार्यक्रम आपको कहाँ तक रुचिकर होगा, पर आप महाशयों की सेवा में मैं उसे उपस्थित कर देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। मेरा तो विश्वास है कि यदि आप इसको व्यावहारिक रूप देंगे, तो सम्मेलन अनायास अपना उद्देश्य सिद्ध कर सकेगा। वह कार्य-क्रम इस प्रकार है—

१—हिंदी-भाषी नामी विद्वानों से, जो अपने विषय के विशेषज्ञ हों, प्रार्थना की जाए कि वे अगले सम्मेलन से कम से कम ३ मास पहले एक ग्रंथ सम्मेलन को भेंट करें। ऐसे मौलिक ग्रंथों की संख्या १० से कम न हो। ये ग्रंथ सम्मेलन प्रकाशित करे और यदि संभव हो, तो सम्मेलन की परीक्षाओं में पाठ्य-पुस्तक नियत किए जाएँ।

२—मंगलाप्रसाद पारितोषिक उन्हीं ग्रंथों पर दिया जाए, जो सम्मेलन की तिथि से १५ महीने के अंदर प्रकाशित हुए हों।

३—योग्य विद्वानों से विविध विषयों के कम से कम दस ग्रंथों का भाषांतर कराया जाए।

४—एक इंग्लिश-हिंदी डिक्शनरी तैयार कराई जाय, जिसमें वर्त्तमान अँगरेजी में प्रयुक्त होनेवाले शब्द भी आ जाएँ। इसमें बँगला, मराठी, गुजराती, नैपाली, पंजाबी और उर्दू आदि भाषाओं की डिक्श-

नरियों से भी सहायता ली जाय। ऐसी डिक्शनरी की आवश्यकता पर मत-भेद नहीं हो सकता।

५—हिंदी के इतिहास का शोध कराया जाए। अभी तक जो इतिहास निकले हैं, वे अधूरे हैं। गद्य के इतिहास में Fort William College Journal से अच्छी सहायता मिल सकती है।

६—हिंदी के प्राचीन ग्रंथ पढ़ाने की योग्यता रखनेवालों का पता लगाया जाए और उनकी सहायता से उनके सभाष्य संस्करण प्रकाशित किए जाएँ।

७—हिंदी की प्राचीन कविता—डिंगल और पिंगल दोनों के ज्ञाता खोज-खोजकर शिक्षा-कार्य में नियुक्त किए जाएँ।

८—हिंदी पठन-पाठन की जो व्यवस्था शिक्षालयों वा विश्वविद्यालयों में है, उसकी जानकारी प्राप्त की जाय और यदि कहीं त्रुटियाँ हों, तो उन्हें दूर कराने का प्रयत्न किया जाय। कलकत्ते के स्कूल-कालेजों में हिंदी-शिक्षा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता, जिसके फलस्वरूप बी० ए० के बहुत कम परीक्षार्थी शुद्ध भाषा लिख पाते हैं। इस अवस्था को सुधारने की अत्यंत आवश्यकता है।

९—हिंदी के ग्रंथों की सूची बनाई जाए, जिसमें (अ) पुस्तक का नाम, (आ) लेखक का नाम, (इ) विषय, (ई) रचनाकाल, (उ) मुद्रित या हस्त-लिखित, (ऊ) कहाँ से मिली, (ए) प्रतियाँ मिल सकती हैं तो मिलने का ठिकाना और (ऐ) दाम लिखे हों। लागत मात्र पर यह सूची बेची जाए।

१०—एक विद्वत् परिषद बनाई जाय, जो समय समय पर हिंदी भाषा, वर्णन (Spelling या हिज्जे) आदि के संबंध में विचार किया करे और जिसका निर्णय अंतिम हो तथा जिसका आधार वोटों की अपेक्षा तर्क हो।

कार्य कैसे होगा ?

ग्रंथ-लेखकों को प्रणामी (Honorarium), अनुवादकों को पारिश्रमिक, डिक्शनरी का काम करनेवालों को वेतन, शोधकों को

वृत्ति, सूची बनानेवालों को वेतन तथा ग्रंथ-प्रकाशन के व्यय आदि कामों के लिये बहुत बड़ी रकम की आवश्यकता है। यह कहाँ से आवेगी यह प्रश्न हमारे सामने है। हिंदी का प्रत्यक्ष संबंध चार प्रदेशों से है। पंजाब, युक्तप्रदेश, बिहार और मध्यप्रदेश की सरकारों से प्रार्थना की जाए कि ये सम्मेलन के कार्य में सहायता करें। इसी प्रकार हिंदी-भाषी राज्यों के नरेशों से प्रार्थना की जाए कि वे इस महान् कार्य में पुण्य के भागी बनें। मैं समझता हूँ कि ग्वालियर और इंदौर राज्य साहित्यिकों को प्रोत्साहन देने के लिये कुछ रकम हर साल दिया करते हैं। इससे भूयसी दक्षिणा सी बाँटी जाती है, इसलिये कोई ठोस काम नहीं होता। सभी हिंदी राज्यों से हमें यह कहना होगा कि हम साहित्य की सृष्टि ही नहीं करते, शिक्षा के प्रचार और विस्तार में लगे हुए हैं। इसलिये नरेशों, प्रदेशों और सेठ-साहूकारों सब का कर्त्तव्य है कि धन देकर हमारे कार्य को अग्रसर करें। मेरा विश्वास है कि कुछ ही समय बाद सम्मेलन अपना कार्य-क्रम चलाने के लिये अपने पैरों पर खड़ा हो सकेगा। सम्मेलन राजनीतिक संस्था नहीं है, इसलिये हिंदी और हिंदी-साहित्य की उन्नति चाहनेवालों को ही नहीं, शिक्षाप्रेमियों को भी इसकी सहायता करनी चाहिए; यहाँ कोई भेद-भाव नहीं है। मैंने आप महानुभावों के सामने मोटे तौर पर अपने विचार रखे हैं। आपको इनमें कुछ सार दिखाई दे तो एक उपसमिति बना दीजिए, जो धन की आवश्यकता और उसके संग्रह करने के उपायों पर विचार करे।

राष्ट्रभाषा-परिषद् के सभापति का भाषण

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के २८वें (काशी-) अधिवेशन के अंतर्गत जो राष्ट्रभाषा-परिषद् हुई थी उसके सभापति डाक्टर राजेंद्र-प्रसादजी का महत्त्वपूर्ण भाषण यहाँ उद्धृत है—

आज हमारे बीच में इस बात पर बहुत विचार हो रहा है कि राष्ट्रभाषा का क्या रूप हो। इस बात का तसफिया करते समय हमें

यह याद रखना चाहिए कि हम राष्ट्रभाषा किस काम के लिये चाहते हैं और उसके प्रचार में हमें किन किन कठिनाइयों का सामना करना है।

हिंदुस्तान में आज कई भाषाएँ बोली जाती हैं और कइयों में किताबें लिखी जाती हैं व समाचार-पत्र छापे जाते हैं। इनमें से मुख्य मुख्य भाषाएँ बँगला, आसामी, उड़िया, हिंदी, उर्दू (अगर इन दोनों को अलग अलग भाषाएँ मानें), गुजराती, मराठी, तेलुगु, तामील, कन्नड़, मलयालम और सिंहली हैं। सिंहली को तभी हम इन भाषाओं के साथ स्थान दे सकते हैं जब हम लंका या सिंहलद्वीप को भी हिंदुस्तान का हिस्सा समझ लें। इनके अलावे केवल बोली जानेवाली बोलियाँ तो हमारे यहाँ अनगिनत हैं। आज एक बोली बोलनेवाले या एक भाषा जाननेवाले को दूसरी बोली बोलनेवाले या दूसरी भाषा जाननेवाले से आपस में बातें करना हो तो या तो उसको अपने साथी की बोली जाननी चाहिए या किसी तीसरी भाषा का आश्रय लेना चाहिए जिसे वे दोनों समझते हों। अगर किसी एक प्रांत का आदमी सारे देश के लोगों के साथ विचार-विनिमय करना चाहे तो उसको इन सब भाषाओं को जानना चाहिए। किसी भी मनुष्य के लिये यह बात नामुमकिन नहीं तो मुश्किल जरूर है। कोई आदमी इन तमाम भाषाओं को सीखने का ख्याल भी नहीं कर सकता। उसके लिये कोई एक ऐसी भाषा जरूर चाहिए जो सभी जगहों में बोली और समझी जा सके। जब से हिंदुस्तान में अँगरेजी शिक्षा का प्रचार हुआ, अँगरेजी जाननेवालों के लिये अँगरेजी ने ही इस सार्वदेशिक भाषा की जगह ले ली। मगर हिंदुस्तान जैसे बड़े देश में अँगरेजी जाननेवालों की तादाद तो मुट्ठीभर ही है, या हो सकती है। इसलिये यह देखा गया कि न तो अँगरेजी और न दूसरी ही कोई विदेशी भाषा इस देश में सार्वदेशिक भाषा का काम दे सकती है, क्योंकि उस हालत में सारे देश के लोगों को उसे सीखना होगा। तब यह सवाल होता है कि क्या देशी भाषाओं में कोई ऐसी है जिसे हम

यह सार्वदेशिक स्थान दे सकते हैं ? उत्तर भारत में जो बोली बोली और समझी जाती है उसका सारे देश में और सब बोलियों और सब भाषाओं से कहीं अधिक प्रचार है। यह भी देखा गया है कि दूसरे प्रांतों में भी उसको जाननेवाले और समझनेवाले कुछ न कुछ तो हैं ही और उसी का प्रचार सबसे ज्यादा आसान है।

इस राष्ट्रभाषा की जरूरत इसलिये पड़ी कि एक सूबे का रहने-वाला दूसरे सूबे के लोगों के साथ अपने व्यवहार कर सके। इसका यह उद्देश्य नहीं है कि किसी भी सूबे की भाषा को वहाँ से उठा दिया जाय या उसे कमजोर कर दिया जाय। राष्ट्रभाषा के प्रचार का एकमात्र उद्देश्य यह है कि यदि भारतवासी अपनी भाषा के अलावा एक और भाषा सीख लें तो सारे देश में उनको अपना कारोबार चलाने में किसी तरह की कठिनाई न आवे और सारे देश को अपने व्यवहार के लिये एक भाषा मिल जाय।

मैंने ऊपर ही कहा है कि ऐसी भाषा की जगह उत्तर में बोली जानेवाली भाषा को ही मिल सकती है, इसी का प्रचार भी किया जा रहा है। इस भाषा के भी दो रूप उत्तर भारत में हो गए हैं। एक तो वह जिसको हम हिंदी कहते हैं और जिसमें संस्कृत के शब्द बहुता-यत से आते हैं—और दूसरी वह भाषा जिसमें अरबी और फारसी के शब्द ज्याद:तर इस्तेमाल होते हैं। मैं इस झगड़े में नहीं पड़ना चाहता हूँ कि पहले उर्दू का प्रचार हुआ या हिंदी का और किसका साहित्य अधिक पुराना है। यह भी हमारे विषय के लिये अनावश्यक है कि हम इस बात की खोज करें कि इन दोनों भाषाओं में कब से भेद पड़ने लगा—और दोनों को अलग करने में किसका कसूर है। आज हमको यह मान लेना होगा कि आज की हिंदी और उर्दू में फर्क पड़ गया है और वह फर्क बढ़ता जा रहा है। दोनों का व्याकरण, कायदा और गठन एक है और होना चाहिए। मगर आज उसमें भी भेद पड़ता जा रहा है और जैसे जैसे अरबी और फारसी के 'लफजों' की भरमार उर्दू में होती जा रही है उसी तरह फारसी और अरबी के प्रयोग

और मुहाविरे भी घुसते जा रहे हैं। उसी तरह हिंदी में भी संस्कृत-शब्दों के साथ साथ संस्कृत व्याकरण का भी अनुकरण होने लगा है। पर इतना कहना सच है कि हिंदी और उर्दू का गठन एक है और दोनों की उत्पत्ति हिंदुस्तान में ही हुई है और दोनों के मूल में संस्कृत नहीं तो प्राकृत जरूर है। दोनों के व्याकरण की नींव भी इसी कारण से संस्कृत के व्याकरण में ही पड़ी है। मगर अब दोनों ने अपना व्याकरण भी बना लिया है जो संस्कृत के व्याकरण से भी अलग है और जिसमें फारसी या अरबी के व्याकरण का कोई दखल नहीं है और नहीं होना चाहिए। भाषा का असली रूप उसके व्याकरण में ही पाया जाता है। शब्द घटते बढ़ते रहते हैं, दूर दूर से भी लाए जा सकते हैं मगर उनको भी व्याकरण का जामा पहनना पड़ता है और कुछ दिनों के बाद वह इस तरह घुल मिल जाते हैं कि उनका अलग कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता। अब हमारी भाषा के कितने ऐसे शब्द हैं जिनको हम व्यवहार से निकाल नहीं सकते और जिनके बारे में यह किसी का ख्याल भी नहीं होता होगा कि यह कहीं बाहर से आए। कौन कह सकता है कि "रोटी" जिसके बिना हम रह नहीं सकते हिंदुस्तान में कहाँ से आई और इसका असली रूप क्या था? सुना है कि यह तुर्की शब्द है। इसी तरह कौन सोचता है कि "आग" और "पानी" संस्कृत से निकले हैं। अब उनको कौन उर्दू से निकाल सकता है? साथ ही यह भी जाहिर है कि "रोटी" तुर्की व्याकरण और "आग" "पानी" संस्कृत व्याकरण का सहारा अब नहीं ले सकते। उनको तो हिंदी उर्दू के रास्ते पर ही चलना है। कुछ मुहावरे, कुछ कायदे भी शायद फारसी से आ गए होंगे लेकिन उनकी भी अब अलग हस्ती नहीं रह गई है। वह भी हिल-मिल गए हैं और उनको हम अलग नहीं कर सकते हैं। इसलिये यह कहना बेजा नहीं है कि हिंदी और उर्दू की जड़ एक है, रूप-रेखा एक है और दोनों को अगर हम चाहें तो एक बना भी सकते हैं, गर्चे आज बदकिस्मती से दोनों दो तरफ रुख करके भागते जाने की कोशिश कर रही हैं।

राष्ट्रभाषा सारे देश के लिये चाहिए इसलिये वह ऐसी नहीं होनी चाहिए और न हो सकती है जिसे हिंदी या उर्दू जाननेवाले भी न समझें। इन दोनों को हम अलग मान भी लें तो राष्ट्रभाषा तो ऐसी ही हो सकती है कि जिसको हिंदी और उर्दू वाले दोनों मान लेवें। ऐसा नहीं हुआ तो एक मुशकिल को हल करने में दूसरी मुशकिल हम पैदा कर देते हैं। बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात और दक्खिन में हिंदी या उर्दू का प्रचार करके क्या होगा अगर उत्तर में ही लोग एक दूसरे को न समझ सकें और हिंदी जाननेवालों के लिये उर्दू वैसी ही हो जाय जैसी उसके लिये मराठी है या उर्दू जाननेवालों के लिये हिंदी वैसी ही हो जाय जैसे उसके लिये बँगला है। इसलिये हिंदी और उर्दू दोनों के लिये यह जरूरी है कि राष्ट्रभाषा बनने का दावा करते करते वह अपने रूप को ऐसा न बना लेवें कि वह एक दूसरे को ही न पहचान सकें और उत्तर भारत में भी जहाँ के लोगों के लिये नई राष्ट्रभाषा बनाने की जरूरत नहीं पड़ती है वहाँ भी नई जरूरत खड़ी हो जाय। अगर उत्तर की भाषा ही राष्ट्रभाषा होनेवाली है तो उर्दू और हिंदी को आपस का झगड़ा इतना तेज नहीं बनाना चाहिए कि और भाषाओं के जाननेवाले कह बैठें कि इन दोनों में कोई भी राष्ट्रभाषा के लिये मंजूर नहीं की जा सकती। इसलिये इस विचार से राष्ट्रभाषा का रूप कुछ कुछ निर्धारित हो जाता है। वह न तो संस्कृत शब्दों का बहिष्कार कर सकती है और न अरबी-फारसी के शब्दों को ही निकाल सकती है। जो शब्द आते हैं चाहे वह संस्कृत के हों या फारसी, अरबी और किसी दूसरी विदेशी भाषा के भी क्यों न हों निकाले नहीं जा सकते हैं। हाँ, नए अनगढ़ अप्रचलित शब्दों की भरमार भी अनावश्यक और हानिकर है। हिंदी उर्दू के घरेलू झगड़े का निपटारा हमको कर लेना है। तभी हम हिंदी के लिये राष्ट्रभाषा का दावा कर सकते हैं।

अगर राष्ट्रभाषा सारे देश के लिये चाहिए तो हमको इस पर विचार करना होगा कि अन्य भाषा-भाषियों के लिये कौन सी सुविधा

हम दे सकते हैं और उनकी कठिनाइयों को हम किस तरह कम से कम कर सकते हैं। बँगला, गुजराती, मराठी, आसामी और उड़िया में, जो आर्य भाषाएँ हैं, संस्कृत के शब्द बहुत आते हैं। इसलिये उनकी और हिंदी की शब्दावली बहुत अंशों में एक है और हो सकती है। इसी प्रकार दक्षिण की भाषाओं पर भी संस्कृत का प्रभाव तो पड़ा ही है और ऐसे बहुतेरे शब्द जो हिंदी में आते हैं उन भाषाओं में भी पाए जाते हैं। हाँ, कहीं कहीं शब्दों के अर्थ में अंतर पड़ गया है और एक ही शब्द हिंदी और उन भाषाओं में अलग अलग अर्थ रखता है। इसलिये अगर ऐसे शब्द जो उन भाषाओं में भी पाए जाते हैं राष्ट्र भाषा में रखे जाएँ तो जाहिर है कि उन भाषाओं में बोलनेवालों के लिये राष्ट्रभाषा सीखने में बड़ी सुविधा हो जाए। इसी प्रकार पंजाब और सीमाप्रांत में अरबी-फारसी के बहुत शब्द वहाँ की स्थानीय बोलियों में आ गए हैं। अगर ऐसे शब्द राष्ट्रभाषा में ले लिए जाएँ तो वहाँ के लोगों को राष्ट्र-भाषा सीखने में बहुत सुविधा हो जाय। राष्ट्रभाषा को अन्य भाषा-भाषियों के लिये सुगम बनाने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि उसकी शब्दावली ऐसी बने कि सारे देश के लोगों के लिये उसके सीखने में सुविधा हो जाए। यह बात बहिष्कार की नीति से नहीं हो सकती। इसका एक मात्र उपाय ग्रहण और संचय की नीति ही है। अर्थात् शब्दों को उनकी उत्पत्ति के कारण निकाला न जाए बल्कि प्रचार के कारण उनको ग्रहण किया जाए और राष्ट्रभाषा में उनको स्थान दिया जाए।

इस तरह राष्ट्रभाषा की शब्दावली बहुत बड़ी हो सकती है और जब एक ही अर्थ के बहुतेरे शब्द राष्ट्रभाषा में होंगे तो समय पाकर उन शब्दों के अर्थ में भी कुछ बारीक फर्क पड़ता जाएगा और भाषा धनी होती जाएगी। इसके अलावा गाँवों में अनेक बोलियाँ बोली जाती हैं, जिनमें न तो कोई पुस्तक लिखी जाती है और न जिनका लिखा हुआ कोई व्याकरण ही पाया जाता है। इन बोलियों में बहु-तेरे ऐसे शब्द पाए जाते हैं जो बहुत मानी रखते हैं और जो भावों को

बहुत स्पष्टता से प्रगट करते हैं। हमारी जरूरत की बहुतेरी ऐसी चीजें हैं जिनके नाम ग्रामीण भाषा में पाए जाते हैं, मगर उनको न जानने के कारण हम आज बड़े बड़े शब्द ढूँढ़कर निकालने का प्रयत्न करते हैं। इन ग्रामीण बोलियों से भी शब्दों को लेना चाहिए और आज की नई नई चीजों के लिये जो कल कारखानों में देखने में आती हैं उनका इस्तेमाल किया जा सकता है और यदि कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों से दरियाफ्त किया जाए तो बहुतेरी चीजों के वे देशी नाम बता देंगे जिनके लिये हम केवल अँगरेजी या विदेशी नाम ही जानते हैं और किसी देशी भाषा में फारसी या संस्कृत से ही मदद लेकर हम नाम दे सकते हैं। इस प्रकार से राष्ट्रभाषा की शब्दावली समृद्धिशाली बनाई जा सकती है और राष्ट्रभाषा सभी प्रांतीय भाषाओं से धनी बनाई जा सकती है।

मेरा तुच्छ विचार है कि जहाँ शब्दों के लेने में हमें उदारता बरतनी चाहिए और शब्द चाहे कहीं से आया हो अगर प्रचलित हो गया है तो उसे बहिष्कृत नहीं करना चाहिए, वहाँ व्याकरण के संबंध में हमें बाहर नहीं जाना चाहिए और अपने व्याकरण को ही काम में लाना चाहिए। लिखने की शैली भी राष्ट्रभाषा की अपनी होनी चाहिए। यद्यपि शैली लिखनेवाले पर भी बहुत कुछ निर्भर रहती है तो भी भाषा के गठन का प्रभाव तो उस पर पड़ता ही रहता है। राष्ट्रभाषा का व्याकरण अन्य भाषा-भाषियों के लिये कुछ कठिन होता है। उन कठिनाइयों को जहाँ तक हो सके कम करने का प्रयत्न करना चाहिए न कि बढ़ाने का। लिंगभेद का झगड़ा अन्य भाषा-भाषियों के लिये बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित करता है। अब मैं देखता हूँ कि हिंदी के कुछ लेखक उसे और भी जटिल कर रहे हैं। कितने ही संस्कृत के ऐसे शब्द हिंदी में आ गए हैं जो पुल्लिंग और स्त्रीलिंग दोनों ही में एक रूप रखते हैं पर कुछ लोग उनके भी अलग अलग रूप अब काम में लाने लगे हैं। यह अनावश्यक है। हिंदी और उर्दू की वाक्य-रचना में फर्क है। एक का उद्गम संस्कृत है और दूसरी का फारसी है। मगर

जो लोग इस भेद को नहीं जानते वे दोनों को आसानी से समझ सकते हैं और दोनों में कोई भेद नहीं पाते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों को भी राष्ट्रभाषा में प्रचलित कर देने में कोई हानि नहीं दीखती। इसलिये जहाँ तक हो सके अपने ही व्याकरण मुहावरों को काम में लाना चाहिए पर इनमें भी अगर कोई चीज चल गई है तो उसका भी बहिष्कार नहीं होना चाहिए। मेरी राय में कहीं बहिष्कार की नीति का अवलंबन नहीं करना चाहिए। अगर किसी चीज का प्रचार हो गया है और वह चीज ग्राह्य हो गई है तो उसका संग्रह ही वांछनीय है।

मैंने जो विचार उपस्थित किए हैं उनसे यह नतीजा निकलता है कि राष्ट्रभाषा बहुत समृद्ध धनी और प्रचलित होगी। अगर फारसी, अरबी, संस्कृत और ग्रामीण बोलियों के प्रचलित शब्द राष्ट्रभाषा में ले लिए जाएँगे तो उससे बढ़कर धनी और समृद्ध दूसरी कोई भाषा हिंदुस्तान में हो ही नहीं सकती है। इतना बड़ा शब्दभांडार और किसी भी भाषा का होगा ही नहीं। पर इस राष्ट्रभाषा की शब्दावली जैसे जैसे बढ़ती जाएगी, नवसिखों के लिये उसके सीखने की कठिनाई भी वैसे वैसे बढ़ती जाएगी, क्योंकि उन्हें अधिक शब्दों को भी सीखना पड़ेगा। यह कठिनाई होगी, मगर मैं समझता हूँ कि वह इतनी बड़ी नहीं होगी जितनी लोग समझते हैं। अगर एक ही अर्थ के कई शब्द हैं तो किसी के लिये सभी शब्दों का जानना जरूरी नहीं है। अगर इन शब्दों में एक को भी कोई जान ले तो उसका काम चल जाएगा।

मामूली कारबार के लिये एक ऐसा कोष बन सकता है जिसमें अधिक से अधिक प्रचलित शब्द हों और जिनके द्वारा सारे देश में काम चलाया जा सकता है। राष्ट्रभाषा की इस खूबी को हमें कभी भूलना नहीं चाहिए। उसका सबसे बड़ा और मुख्य गुण यह होना चाहिए कि वह प्रचलित हो और जहाँ नहीं प्रचलित हो वहाँ भी आसानी से उसे चलाया जा सके—उसका प्रचार किया जा सके।

एक और भी प्रश्न होता है। क्या इस प्रचलित भाषा में, जिसमें मामूली कारबार आसानी से किया जा सकता है, ऊँचे दर्जे की

कविता, चाहे वह पद्य में हो चाहे गद्य में लिखी जा सकती है? क्या इसमें ऊँचे दार्शनिक विचार व्यक्त किए जा सकते हैं? क्या इसमें आज-कल के वैज्ञानिक शब्द मिलते हैं? क्या कल-पुर्जों के लिये काफी शब्द पाए जाते हैं? इसके संबंध में हमें मानना पड़ेगा कि पारिभाषिक शब्द या इस्तेलाही लफ्जों की कमी होगी और उनको संस्कृत या फारसी के आधार पर ही बनाया जा सकता है या युरोपीय भाषाओं से जहाँ मुनासिब हो लिया जा सकता है। मगर यह बात भी है कि इस तरह के पारिभाषिक और वैज्ञानिक शब्द सभी भाषाओं के बोलचाल की भाषा में नहीं पाए जाते हैं। अगर चिकित्साशास्त्र की कोई अँगरेजी में लिखी पुस्तक अँगरेजी में एम० ए० पास किए हुए व्यक्ति के सामने भी रख दी जाय तो उसको वह नहीं समझ सकेगा। इसी प्रकार उच्चकोटि की कोई वैज्ञानिक पुस्तक को भी मामूली आदमी जिसका उस भाषा पर पूरा अधिकार है नहीं समझ सकता है। इसलिये अगर हिंदी में भी वैज्ञानिक पुस्तकों की भाषा कुछ अलग रहे तो कोई आश्चर्य या हानि की बात नहीं होगी। यही हाल सभी पारिभाषिक शब्दों का होता है, वह कहीं न कहीं से लिए जाते हैं या गढ़े जाते हैं, मामूली प्रचलित भाषा में पाए नहीं जाते हैं। राष्ट्रभाषा-प्रचारकों का यह काम नहीं है कि ऐसे पारिभाषिक शब्दों का खोज करते रहें या उनका प्रचार करते रहें—जब वे बन जाएँगे तो खुद बखुद उनका प्रचार हो जाएगा। ऊँचे साहित्य के शब्दों के संबंध में भी यही विचार लागू होते हैं। अगर राष्ट्रभाषा सारे देश में प्रचलित होने के अलावा सभी दूसरी भाषाओं से अधिक समृद्ध भी हो जाय तो इससे बढ़कर और क्या हो सकता है, यह तो सोने में सुगंध है। मगर राष्ट्रभाषा का सबसे बड़ा गुण उसकी आसानी से चलने की शक्ति है। अगर उसका भांडार कम भी है तो वह पूरा हो जाएगा। इस समय उसका प्रचार ही हमारा ध्येय है और प्रचार के रास्ते में जो बाधाएँ हैं उनका हटाना ही हमारा उद्देश्य होना चाहिए। प्रचलित हो जाने पर वह दूसरी भाषाओं के द्वारा प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकती। नए

शब्द इसमें आते ही जाएँगे, नए प्रयोगों का उपयोग बढ़ता ही जाएगा और हो सकता है कि व्याकरण में भी कुछ हेर-फेर होता जाय। उत्तर भारत में रहनेवालों का सौभाग्य है कि सारे देश ने उनकी भाषा को ही राष्ट्रभाषा मान लिया है, और उसके प्रचार के लिये बहुत प्रयत्न भी किया जा रहा है। यह हमारे लिये गौरव की बात है। पर साथ ही हमारी जवाबदेही भी बहुत बढ़ती जा रही है। क्या हम हिंदी-उर्दू के झगड़े को इस हद तक ले जाएँगे कि अन्य भाषा-भाषी इससे ऊबकर यह कह बैठें कि इन दोनों में कोई भी राष्ट्र-भाषा नहीं बन सकती? बुद्धिमानी इसमें है कि इसको हम कम करें और अन्य प्रांतों में इसको न पहुँचने देवें। मैं मानता हूँ कि यह झगड़ा भी सभी झगड़ों की तरह एकतरफा नहीं है। ताली बजने के लिये दोनों हाथों का टकराना जरूरी है। हमारा काम है कि इस संघर्ष को, जहाँ तक हो सके, कम करें। हमारे लिये आवश्यक है कि हम उदारता से काम लें, संकीर्णता को छोड़ दें। जो संकीर्ण होता है वह अपने को ही छोटा करता जाता है। हमारी नीति ऐसी होनी चाहिए कि जो हमसे मिलना चाहता है उसे हम मिला लेवें। जुटाने की नीति होनी चाहिए, बिलगाने की नहीं। पवित्र गंगा में हजारों छोटी-मोटी नदियों का जल आता है। सबको वह पवित्र बना लेती है और उसका अलग अस्तित्व नहीं रहने देती है। पटने में मैं देखा करता हूँ कि सोन और गंगा के संगम पर सोन का गँदला-लाल पानी और गंगा का श्वेत जल संगम के बाद कुछ दूर तक अलग अलग बहते हुए पहचाने जाते हैं। उसी प्रकार प्रयाग के संगम पर यमुना का काला जल गंगा के स्वच्छ जल से कुछ दूर तक विलग ही रहता है। पर कुछ दूर आगे तक बहते रहने पर सभी मिलकर एक रंग और एक रूप हो जाते हैं। सोन और यमुना भी अपना अलग रूप नहीं रख सकती है, सभी मिलकर गंगा ही हो जाती हैं। इसी प्रकार हमारी राष्ट्रभाषा की पावन गंगा में भी सुंदर और स्वच्छ गंदे और गँदले देशी और विदेशी सभी प्रकार के शब्द मिल-जुलकर एक

हो जाएँगे। हो सकता है कि कुछ देर या दूर तक वह अपना अस्तित्व रखें, पर वह हमेशा अलग रह नहीं सकते हैं और थोड़े ही अरसे में उनको घुलमिल जाना है। इससे राष्ट्रभाषा-भाषियों को गौरव और अभिमान होना चाहिए। साथ ही उनका कर्तव्य होना चाहिए और जिम्मेदारी भी है कि राष्ट्रभाषा को इस योग्य बनाएँ कि वह सबको हजम कर सके और अपने शरीर के रक्त-मांस और हड्डी में उनको मिला ले।

मैं एक चेतावनी भी देना चाहता हूँ। सारा देश राष्ट्रभाषा खोज रहा है। राष्ट्रीयता का यह तकाजा है कि हम विदेशी भाषा का भरोसा छोड़ दें। अगर हम चाहते हैं कि हिंदी को वह स्थान मिले तो हम हिंदी-भाषियों को समय के अनुकूल चलना होगा। हम अपना खीमा अलग कायम करके उसके अंदर से सारे भारतवर्ष पर विजय नहीं प्राप्त कर सकेंगे। हमारे लिये आवश्यक है कि हम सभी लोगों से मिलते-जुलते रहें—यहाँ तक कि गाँवों की गलियों में भी घूमते फिरते रहें। जहाँ से जो कुछ मिले उसका संग्रह करते रहें। अगर हमने ऐसा नहीं किया और उत्तर भारत में भी आपस के झगड़े बढ़ाते ही गए तो यह केवल संभव ही नहीं अनिवार्य हो जाएगा कि राष्ट्रभाषा न हिंदी हो न उर्दू बल्कि अन्य भाषा-भाषी लोग एक तीसरी ही भाषा गढ़ लें जो इन दोनों से अलग हो। मैं यहाँ हिंदी साहित्य-सेवियों से सानुरोध निवेदन करना चाहता हूँ कि हिंदी को वह राष्ट्रभाषा बनने का गौरव प्राप्त करने दें और यह तभी हो सकता है जब वह उदारतापूर्वक संग्रह की नीति ग्रहण करेंगे। अगर हम दुर्भाग्यवश ऐसी नीति ग्रहण करें कि चाहे अन्य भाषा-भाषी जो कुछ भी हो बकते रहें हम तो अपने ही रास्ते चलेंगे और अपनी भाषा और भावों को उन पर लादेंगे तो हमें यह मान लेना चाहिए कि हिंदी राष्ट्रभाषा नहीं हो सकेगी क्योंकि दूसरे लोग इस बोझ को नहीं सह सकेंगे। मेरे कहने का यह अर्थ नहीं है कि हम हिंदी को बिगाड़ दें, उसकी शब्दावली अन्य भाषाओं के शब्दों से भर दें, उसका व्याकरण और

शैली विकृत कर दें। नहीं; मैं इतना ही कहता हूँ कि हम हर छोटे-मोटे नियम को ढोते न रहें, हम हर विदेशी शब्द को निकालते न रहें और हम जैसा विस्तार चाहते हैं वैसा ही अपना हृदय भी विशाल बनावें।

१८वें हिंदी साहित्य-सम्मेलन में स्वीकृत कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण निश्चय

(१)

ताँबे के और चाँदी के सिक्कों पर भारत सरकार ने अभी तक भारतवर्ष की मुख्य लिपि नागरी को स्थान नहीं दिया है। भारत सरकार की इस लापरवाही और कल्पना की कमी पर यह सम्मेलन अपना तीव्र असंतोष प्रकट करता है और भारत सरकार का ध्यान उसके इस कर्तव्य की ओर दिलाता है कि सिक्कों पर उस लिपि का होना आवश्यक है जो भारत की जनता में सबसे अधिक पढ़ी और समझी जाती है।

(२)

इस सम्मेलन का निश्चित अभिप्राय है कि बच्चों की शिक्षा के लिये प्रारंभिक अवस्था में उनकी कोमल मति पर दो लिपियों का बोझ डालना हानिकारक है। अतएव युक्तप्रांत की सरकार से सम्मेलन की प्रार्थना है कि नरेंद्रदेव समिति की इस सिफारिश को स्वीकार न करे कि प्रारंभिक दर्जों में नागरी और फारसी दोनों लिपियाँ अनिवार्य रूप से सिखाई जायँ। सम्मेलन की सम्मति है कि बच्चों को अथवा उनके संरक्षकों को स्वतंत्रता दी जाय कि दोनों लिपियों में से किसी एक को शिक्षा के लिये पसंद कर लें।

(३)

(क) बिहार प्रांत की गवर्नमेंट की संरक्षकता में प्रकाशित रीडरों और 'होनहार' मासिक पत्र तथा 'मास लिटरेसी' के मुख पत्र 'रोशनी'

की भाषा की ओर यह सम्मेलन उस गवर्नमेंट का ध्यान दिलाता है। इन रीडरों में हिंदुस्तानी की आड़ में देशी और तद्भव शब्दों का बहिष्कार करके अरबी-फारसी शब्दों और मुहावरों को जबरदस्ती स्थान दिया जा रहा है। इससे हिंदी जनता में बहुत असंतोष और क्षोभ फैल रहा है। सम्मेलन का निश्चित मत है कि यह नीति राष्ट्रीय भाव की घातक है। बिहार सरकार से सम्मेलन का साग्रह अनुरोध है कि वह इस नीति को त्याग दे और बिहार तथा समस्त हिंदी भाषा-भाषी जनता में बढ़ते हुए असंतोष को शांत करे।

(ख) बिहार में वहाँ की गवर्नमेंट ने जिस हिंदुस्तानी कमेटी की योजना की है उससे सम्मेलन का अनुरोध है कि वह कोई ऐसी नीति न ग्रहण करे जिससे आशंका हो कि ऐसी भाषा का प्रचार किया जाएगा जो प्रांत की जनता के लिये अस्वाभाविक होगी। सम्मेलन के विचार में पारिभाषिक शब्दों के संबंध में उचित नीति यह होगी कि वे संस्कृत और प्राकृत के क्रम पर ढाले जाएँ जिससे वे सभी भारतीय भाषाओं के उपयोग में आ सकें और भारतीय परंपरा के प्रतिकूल न हों। उक्त कमेटी के कोष में अरबी, फारसी, अँगरेजी आदि विदेशी भाषाओं से केवल रूढ़ सर्वग्राह्य सुलभ शब्द ग्रहण किए जाएँ और मूल शब्दभांडार परंपरागत संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश पर निर्भर रहे। कमेटी द्वारा निर्धारित व्याकरण भी प्रचलित भाषा का ही आधार लेकर बनाया जाए।

सम्मेलन के विचार में ऊपर निर्देश की हुई कार्यशैली से ही ऐसी भाषा का प्रचार हो सकेगा जो प्रांत की बहुसंख्यक जनता को मान्य हो। साथ ही यह काम मुख्यत: ऐसे लोगों को सौंपना चाहिए जो उपर्युक्त भाषापरंपरा के माने हुए विद्वान् हों।

(४)

यह सम्मेलन बनारस राज्य की शासन परिषद् से प्रार्थना करता है कि राज्य की सारी कार्यवाही नागरी लिपि और हिंदी भाषा द्वारा की जाए तथा राज्य के स्टैंपों पर भी नागरी लिपि को स्थान दिया जाए।

(५)

राष्ट्रभाषा, उसका प्रचार और उसकी योजना आदि के संबंध में हिंदी साहित्य-सम्मेलन की क्या नीति हो इसके निर्धारित करने के लिये यह सम्मेलन निम्नलिखित सज्जनों की समिति नियुक्त करता है जो तीन मास के भीतर अपनी रिपोर्ट सम्मेलन की स्थायी समिति के सामने उपस्थित करे और स्थायी समिति को अधिकार देता है कि वह अपनी राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति को अपने निर्णय के अनुसार कार्य करने के लिये आदेश दे।

१—श्री राजेंद्रप्रसाद

२— " पुरुषोत्तमदास टंडन

३— " बाबूराव विष्णु पराड़कर

४— " अंबिकाप्रसाद वाजपेयी

५— " रामचंद्र शुक्ल

६— " श्रीनारायण चतुर्वेदी

७— " बाबूराम सक्सेना (संयोजक)

(६)

(क) सम्मेलन को इस बात पर दुःख है कि रेडियो विभाग द्वारा ऐसी भाषा का प्रचार किया जाता है जिसमें आवश्यकता से कहीं अधिक विदेशी शब्द रहते हैं और जिसके समझने में भारतीय जनता को बड़ी कठिनाई होती है। सम्मेलन इस विभाग से अनुरोध करता है कि रेडियो-विस्तार की भाषा सीधी सादी हिंदी हुआ करे। यदि इस ओर रेडियो विभाग ने ध्यान न दिया तो सम्मेलन उक्त विभाग के विरुद्ध आंदोलन करने के लिये बाध्य होगा।

(ख) जिन्हें रेडियो-विस्तार के लिये कहा जाता है उनसे भी सम्मेलन अनुरोध करता है कि यदि हिंदी में रेडियो-विस्तार का विरोध किया जाय तो वे रेडियो में भाषण करने के लिये न जायँ।

—कृ

समीक्षा

दादा श्री जिनकुशल सूरि—लेखक श्री अगरचंद नाहटा, श्री भँवरलाल नाहटा; प्रकाशक श्री शंकरदान शुभैराज नाहटा; ५-६, आरमेनियन स्ट्रीट कलकत्ता; पृ० सं० ११४; मूल्य ।)।

श्वेतांबर जैन संप्रदाय में दादा श्री जिनकुशल सूरि एक प्रसिद्ध व्यक्ति हो गए हैं। उन्हीं का चरित इस पुस्तक में वर्णित है, जो प्रायः ऐतिहासिक तथ्यों से पूर्ण है। पुस्तक के परिशिष्ट में उनकी जो एक कृति दी गई है, उसके अवलोकन से ज्ञात होता है कि मारवाड़, मेवाड़, मालवा आदि देशों में इनके स्तूप बने हुए हैं। उनकी कृतियों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि संस्कृत, प्राकृत और देशभाषा के वे अच्छे पंडित थे। ऐसे पुण्य पुरुष का जीवनचरित निबद्ध करने के लिये नाहटा-बन्धु धन्यवाद के पात्र हैं। भाषा तथा छपाई आदि अच्छी हैं। पुस्तक पढ़ने के योग्य है।

ऐतिहासिक जैन-काव्य संग्रह—संपादक श्री अगरचंद नाहटा, श्री भँवरलाल नाहटा; प्रकाशक श्री शंकरदान शुभैराज नाहटा; ५-६ आरमेनियन स्ट्रीट कलकत्ता; पृ० सं० ५०० से अधिक; मूल्य १।।)।

प्रस्तुत संग्रह में सैकड़ों गीत संगृहीत किए गए हैं। ये गीत किसी समय अपने अपने स्थानों में विशेष लोकप्रिय रहे हैं। इनका विषय धार्मिक और ऐतिहासिक दोनों है, इसी से संग्रह-नाम 'ऐतिहासिक जैन-काव्य संग्रह' रखा गया है। गीत विभिन्न रागों में हैं और इनसे अनेक ऐतिहासिक घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है। यद्यपि वे घटनाएँ अधिकतर संप्रदाय-विशेष से संबंध रखती हैं, फिर भी इतिहास-प्रेमियों के लिये मनोरंजक हैं। उनसे पता चलता है कि कई जैनाचार्यों ने मुसलमान बादशाहों पर अपना अपूर्व प्रभाव डालकर उनसे लोकहित के कार्य कराए थे। यदि ऐतिहासिक घटनाओं को सांप्रदायिक समझ-

कर दृष्टि से ओझल भी कर दिया जाय तो भी इस संग्रह का जो एक महत्त्व किसी भी तरह उपेक्षणीय नहीं है, वह है इसकी भाषा। इसमें बारहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक के गीतों का संग्रह है, जो भिन्न भिन्न समय के भाषा के रूपों के परिवर्तनों पर प्रकाश डालता है। हिंदी के क्रमविकास पर उनसे यथेष्ट प्रकाश डाला जा सकता है। यथार्थ में हिंदी भाषा की जननी अपभ्रंश भाषा तथा उसके बाद के रूपों का विकास जैन साहित्य में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है और इस तरह से हिंदी भाषा की उत्पत्ति में जैन साहित्यिकों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। किंतु अभी तक हिंदी के क्षेत्र में उन्हें उतना भी महत्त्व नहीं दिया गया, जितने के वे वस्तुत: पात्र हैं। इस संग्रह के अवलोकन से हिंदी भाषा का इतिहास और भी विकसित करने में सहायता मिल सकेगी। प्रारंभ में प्रो० हीरालालजी की एक छोटी सी प्रस्तावना है। गीतों का सार भी दे दिया गया है। पुस्तक में बहुत से चित्र तथा हस्तलिपियों के फोटो भी हैं। अंत में कई परिशिष्ट हैं। छपाई आदि भी अच्छी है, किंतु ६ पेज का शुद्धिपत्र खटकता है। पुस्तक उपादेय है। आशा है, हिंदी संसार इसे अपनाकर नाहटा-बंधुओं का उत्साह बढ़ाएगा।

—कैलाशचंद्र शास्त्री

कवितावली—संपादक श्री माताप्रसाद गुप्त एम० ए०, एल्-एल० बी०; प्रकाशक हिंदी-साहित्य-सम्मेलन; प्रयाग; पृष्ठ-संख्या ३१ + १४९; मूल्य (?)

जब से स्वर्गीय लाला भगवानदीनजी ने कवितावली की टीका प्रकाशित कराई तब से इसके न जाने कितने सटीक और सटिप्पण संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। तुलसी की यह पुस्तक कई स्थानों पर पाठ्यपुस्तक के रूप में चलती है, यही कारण है कि इसके संस्करण धड़ाधड़ निकल रहे हैं। परंतु किसी में कोई अपनी विशेषता नहीं है। प्राय; लालाजी का ही अनुगमन सब करते हैं। पर कवितावली के

इस सटिप्पण संस्करण में भूमिका इसकी अपनी विशेषता है। गुप्तजी ने तुलसी के जीवनवृत्त के संबंध में कुछ छानबीन की है, इसलिये आपने इसमें वृत्त बहुत सावधानी के साथ लिखा है, वेणीमाधवदास के नाम से प्रकाशित जाली मूल गोसाईंचरित पर विश्वास करके धोखा नहीं खाया है। किंतु तुलसी की काव्यगत विशेषताओं का उद्घाटन वैसा नहीं बन पड़ा है। अधिकतर मुग्धभाव से लिखी हुई वाक्यावली ही मिलेगी। फिर भी यह कहा जा सकता है कि कवितावली के अन्य संस्करणों से यह कहीं अच्छा है।

पार्वती-मंगल—संपादक श्री माताप्रसाद गुप्त एम० ए०, एल्-एल० बी; प्रकाशक हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग; पृष्ठ १६ + २८ + १६; मूल्य (?)

तुलसी के पार्वती-मंगल का यह भी एक सुसंपादित संस्करण है। आरंभ में भूमिका है, जिसमें तुलसीदासजी की जीवनी और पार्वती-मंगल का काव्यगत-सौंदर्य दिखलाया गया है। बीच में पाद-टिप्पणियों से अलंकृत मूल पुस्तक है और अंत में छायानुवाद जोड़ दिया गया है। भूमिका सावधानी के साथ लिखी गई है। टिप्पणी एवं छाया-नुवाद में उतनी सावधानी नहीं रखी गई है। 'उमहिं बोलि ऋषि पगन मातु मेलति भई' में 'मेलति भई' का अर्थ 'मिलाया' किया गया है, जो ठीक नहीं है। 'मेलना' का अर्थ 'डाल देना', 'फेंकना' आदि होता है। यहाँ 'डाल देना' अर्थ है। इसी प्रकार और भी कुछ भूलें रह गई हैं। छायानुवाद में भी एक बहुत पुरानी भूल स्पष्ट नहीं की गई है। कम से कम शब्दावली ऐसी है कि ठीक अर्थ भासित नहीं होता। 'जो सोचहि ससिकलहि सो सोचहि' का पहले के टीकाकारों ने अधिकतर यह अर्थ किया है—"जो (शिव) चंद्रकला का सोच (परवाह) करता है वह आपका सोच (परवाह = चिंता) क्या करेगा?" गुप्तजी ने अर्थ किया है—"यदि कोई चंद्रकला का सोच करे तो आपका भी सोच करे।" इससे यह तो

स्पष्ट है कि आपका अर्थ भिन्न है, पर 'जो' का अर्थ आप 'यदि' करते हैं। वस्तुत: 'जो' यहाँ पर सर्वनाम है। इस पंक्ति का अर्थ होना चाहिए—"जो (शिव के मस्तक पर) चंद्रकला (के होने) का सोच कर रहा है वह आपके लिये (भी उनसे विवाह करने की बात पर) सोच करेगा। अर्थात् कपाली और कुरूप शिव के संसर्ग में चंद्रकला ऐसी दिव्य और सुंदर वस्तु के लिये तो लोग सोच कर ही रहे थे अब आप ऐसी रूपवती स्त्री के लिये भी उन्हें सोच करना पड़ेगा, क्योंकि चंद्रकला की भाँति आप भी उनके अनुरूप नहीं हैं।"

पूर्वोक्त पंक्ति 'कुमारसंभव' के निम्नलिखित श्लोक के आधार पर बनी है—

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥

एकाध स्थल पर और भी ऐसी ही गड़बड़ी रह गई है। पर इसके अतिरिक्त अन्य संस्करणों की अपेक्षा पार्वती-मंगल का यह संस्करण अच्छा है, इसमें संदेह नहीं।

—चंद्रमणि

प्रताप-समीक्षा—लेखक श्री प्रेमनारायण टंडन; प्रकाशक साहित्य-रत्न-भंडार, आगरा; मूल्य ॥।)।

बाबू हरिश्चंद्र जी के समकालीन लेखकों में पंडित प्रताप-नारायण मिश्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हिंदी गद्य के निर्माण एवं विकास में उन्होंने अच्छा योग दिया था। तत्कालीन प्राय: सभी लेखक संपादक भी थे। इसलिये अपने पाठकों को अनु-रंजित करने के विचार से सभी सरल, व्यावहारिक तथा परिचित विषयों पर अपने विचार प्रकट किया करते थे। उनकी भाषा और रचना-पद्धति हास्य-विनोद से परिपूर्ण रहा करती थी। प्रस्तुत पुस्तक में मिश्र जी की ऐसी ही रचनाओं का एक संकलन है। इस संकलन में बहुत परिचित निबंधों के अतिरिक्त कुछ नए निबंध भी रखे गए हैं। अच्छा

हुआ होता यदि लेखक ने कुछ रचनाएँ ऐसी भी छाँटकर रखी होतीं जिनकी रचना-पद्धति कुछ गंभीर होती। उस अवस्था में मिश्रजी की दोनों शैलियों में तारतम्य स्थापित करने का अधिक अवसर प्राप्त होता। फिर भी जितना लेखक ने किया है, अच्छा और उपयोगी है। पुस्तक के आरंभ में जो व्यक्तिगत परिचय और भाषा-संबंधी विवेचन है वह मिश्रजी की रचनाओं के प्रेमियों और विद्यार्थियों के लिये उपयोगी है। ऐसी पुस्तकों में इस प्रकार की परिचयात्मक समीक्षा आवश्यक होती है। आशा है शिक्षा-संबंधी संस्थाओं तथा हिंदी-जगत् में इस संकलन का अनुकूल आदर और उपयोग होगा।

—जगन्नाथप्रसाद शर्मा

लोक-सेवक महेंद्रप्रसाद—लेखक, श्री साँवलियाविहारीलाल वर्मा एम० ए०, बी० एल०; प्रकाशक पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय (बिहार प्रांत); पृष्ठ-संख्या १३४; मूल्य १।।)।

इस पुस्तक में स्वर्गीय महेंद्रप्रसाद के जीवन के कार्य-कलाप का वर्णन है। भाषा ओजमयी और सुंदर तथा शैली आकर्षक है। साफ छपाई से पुस्तक की सुंदरता बढ़ गई है। इस जीवन-चरित के लिखने में लेखक घटना-क्रम को लेकर नहीं चला है। वास्तव में किसी भी महापुरुष के जीवन की घटनाएँ क्रमानुसार गिना देने भर से ही उसके चरित को भली भाँति नहीं समझा जा सकता। उसके लिये तो यह जानना आवश्यक है कि उसके व्यक्तित्व के विभिन्न अंगों का विकास किस क्रम से तथा किन परिस्थितियों में हुआ है। विशेषकर श्री महेंद्रप्रसाद की सेवाएँ सर्वतोमुखी होने से, उनके जीवन-चरित को तो इसी प्रकार पूर्णतया समझा जा सकता है। लेखक के नए ढंग का सहारा लेने से पुस्तक यथार्थतः रोचक एवं उपयोगी हुई है।

यों तो यह पुस्तक श्री महेंद्रप्रसाद जी का जीवन-चरित होने मात्र से ही महत्त्व-पूर्ण है, परंतु लेखक ने अपने व्यक्तिगत अनुभव,

तार्किक चरित्र-विश्लेषण, भाषा का संयम तथा सुंदर शैली से उसे बहुमूल्य बना दिया है। इसमें चरितनायक की 'कमजोरियों' की भी उपेक्षा नहीं की गई है। लेखक स्वयं देशानुरागमय है और देश-भक्तों की उसे परख है। पुस्तक पठनीय और संग्रहणीय है।

—फतहसिंह

मालती-माला—लेखिका कुमारी मालती शर्मा; मिलने का पता—"साक्षरता-संघ," काशी; पृष्ठ-संख्या १८४ + ४, मूल्य ॥)।

यह लेखिका की १५ कहानियों का संग्रह है। ये कहानियाँ लेखिका ने १६ वर्ष के वयस् के प्रथम ही लिखी थीं जिनमें से चार कहानियाँ दो सामयिक पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हो चुकी थीं। कहानियों को पढ़ने से इस संग्रह में श्री जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' एम० ए० लिखित 'दो शब्द' का यह कथन सर्वथा ठीक जान पड़ा—"कहानियाँ हृदय को स्पर्श करनेवाली तथा मन के मधुर भावों में बल लानेवाली हैं। चलती हुई भाषा और निखरे हुए विचारों का सौंदर्य इस बात का सहज ही विश्वास दिला रहा है कि लेखिका आगे चलकर अपनी स्वाभाविक प्रतिभा को और भी अधिक समुज्ज्वल बनाने में समर्थ होगी।" शर्त यह है कि लेखनी कार्य करती रहे।

इसमें संदेह नहीं कि सभी कहानियाँ एक कोटि की नहीं हैं और यह स्वाभाविक ही है। उदाहरण के लिये 'माँ' है। इसमें हृदय की कोमल वृत्ति का बहुत सुंदर निदर्शन है और इसलिये संग्रह में इसका प्रथम स्थान पाना ठीक ही है। अन्य कहानियों में भी एक न एक विशेषता है और यह देखकर विस्मय होता है कि खेलने-कूदने के दिनों में ही लेखिका ने इतनी अच्छी कहानियाँ लिखने का कौशल किस प्रकार हस्तगत कर लिया। कहानियों में कहीं कहीं प्रचार की सी झलक दीख पड़ती है जो समय की प्रेरणा का फल हो सकती है। सब मिलाकर कहानियाँ अच्छी मानी जायँगी और इनका आदर होगा।

—रा० प्र० त्रिपाठी

युवक-साहित्य (पहला और दूसरा भाग—दो जिल्दों में)—संपादक, "एक साहित्यिक युवक"; प्रकाशक नवयुग-ग्रंथ-मंदिर, लहेरिया सराय (दरभंगा); पृष्ठ-संख्या क्रमशः १६० और १६२; मूल्य सजिल्द का क्रमशः १।) और १॥) ।

प्रस्तुत पुस्तक में 'हिंदी के सुप्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं से युवकोपयोगी लेखों का संग्रह किया गया है।' प्रकाशक के कथनानुसार 'पुस्तक के प्रकाशन का उद्देश्य केवल इतना ही है कि वर्तमान युवक-आंदोलन में विशेष स्फूर्ति का संचार हो।' इस हेतु ऐसे देशभक्ति-पूर्ण लेख चुने गए हैं जिनसे 'भारतीय युवकों में नवीन जीवन, जागृति, स्फूर्ति, शक्ति, त्याग, साहस एवं उत्साह का संचार' हो। प्रकाशक ने 'इसके और भी कई भाग आगे प्रकाशित' करने का विचार प्रकट किया है। संपादक के कथनानुसार 'इस संग्रह में यद्यपि राजनीतिक लेखों का ही संकलन किया गया है, तथापि इसमें बहुत से ऐसे लेख भी दिए गए हैं, जिनमें साहित्यिक छटा भी कुछ कम नहीं है। ······इसमें राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक—सभी तरह के लेख रखे गए हैं, ताकि इससे युवकों को सर्वतोमुखी क्रांति में सहारा मिल सके।' इस कारण यह पुस्तक स्कूलों में पाठ्य पुस्तक होने के लिये बहुत ही उपयुक्त है। विषय और भाषा दोनों ही के विचार से बाबू श्यामसुंदरदास द्वारा संकलित 'हिंदी निबंधमाला' के (जिसमें साहित्यिक प्रौढ़ता का अधिक समावेश है और जो कालिजों में पढ़ाई जाती है) पहले पढ़ाने के लिये इससे अच्छा संग्रह दूसरा हमारी दृष्टि में नहीं आया है। अन्यान्य साधारण लेखों के समूह में विलीन हो जाने से ऐसे लेखों को बचाने का कार्य प्रशंसनीय है, विशेषतः जब कि हिंदी में गद्य-साहित्य की कमी है। यद्यपि संग्रह के सभी लेखक सुप्रतिष्ठित एवं लोकप्रिय हैं, किंतु सामयिकता की दृष्टि से संग्रह कुछ पुराना पड़ गया है और इसमें समयानुकूल वैज्ञानिक सामग्री की कमी है। किंतु संग्रह सन् १९२९ ई० का है। आशा है, अगले संस्करण में इसे अधिक सामयिक बना दिया जायगा और वैज्ञानिक रुचि का अधिक समावेश किया जायगा। —राजाराम

विचार-विनिमय—लेखक और प्रकाशक श्री शचींद्रनाथ सान्याल, नयागाँव, लखनऊ; मूल्य १) ।

पुस्तक प्रसिद्ध क्रांतिकारी श्री शचींद्रनाथ सान्याल के निबंधों का संग्रह है। इसके ऊपर लिखा है 'एक भारतीय क्रांतिकारी के आधुनिक विचार'। पर इन निबंधों में शस्त्रवाली क्रांति नहीं है, विचारों की क्रांति है। लेखक का वक्तव्य है कि परानुकरण, अंधानुकरण अथवा किसी व्यक्तिविशेष का अनुकरण अच्छा नहीं है, विचारों की स्वतंत्रता ही सब दोषों को दूर कर सकती है। इसी से उसने चुने हुए सामयिक विषयों पर अपने विचार लिखे हैं। इन विचारों में सचाई और स्वतंत्रता है और सबसे बड़ी बात है अपनी संस्कृति का प्रेम। पढ़नेवालों को इनसे बहुत कुछ मिल सकता है।

ये निबंध साहित्यिक नहीं हैं, यह 'विचार-विनिमय' नाम ही बता देता है। पर इनमें 'प्राच्य और पाश्चात्य' अथवा मार्क्सवाद जैसे विषयों पर ऐसी आलोचनाएँ हुई हैं कि उन्हें पढ़ने में मन लगता है और पढ़ने के बाद विचार करने का सुख मिलता है।

इन निबंधों में एक दोष है। कोई भी बात विस्तार से समझा-कर नहीं कही गई है। मालूम होता है दो मित्रों की राह चलती बातचीत है। ऐसी बातचीत के दोष और गुण दोनों ही इन लेखों में हैं।

निबंधों की भाषा साधारण पाठकों के समझने योग्य है, पर उसमें जो साधारण 'मैं' और 'हम' की भूलें रह गई हैं वे आसानी से दूर की जा सकती थीं।

—पद्म

समीक्षार्थ प्राप्त

अँगरेज हुकूमत भारत देश—लेखक श्री राधाकृष्ण तोषनीवाल; प्रकाशक राजस्थान हिंदी उपासना-मंदिर, अजमेर; मूल्य =) ।

अंतिम पाठ—लेखक आचार्य गिजूभाई, अनु० श्री शंकरदेव विद्यालंकार; प्रकाशक पुस्तकभंडार, लहेरिया सराय; मूल्य =) ।

अजंता के कलामंडप—लेखक श्री रविशंकर रावल; प्रकाशक कुमार कार्यालय १४५४ रायपुर, अहमदाबाद; मू० १॥) ।

अनुपान-विधि—लेखक श्री श्यामसुंदराचार्य; प्रकाशक श्यामसुंदर रसायनशाला, काशी; मू० ।=) ।

अनुभूत योग (प्रथम भाग)—लेखक श्री श्यामसुंदराचार्य वैश्य; प्रकाशक श्यामसुंदर रसायनशाला, काशी; मू० ।=) ।

अर्द्धमागधी व्याकरण—लेखक श्री रत्नचंद्रजी; प्रकाशक संस्कृत बुकडिपो सैदमिट्ठा बाजार लाहौर; मू० ?

इंतकाल जायदाद—लेखक रा० ब० श्री मथुराप्रसाद; प्रकाशक सेंट्रल ला प्रेस, छिंदवाड़ा ।

उत्तररामचरित—अनु० श्री रामदासराय और श्री विश्वेश्वरनाथ-राय; प्रकाशक अशोकाश्रम, मिश्रबाजार गाजीपुर; मू० ॥।=) ।

उद्भ्रांत-प्रेम—लेखक श्री चंद्रशेखर मुखोपाध्याय, अनु० ईश्वरी-प्रसाद शर्मा; प्रकाशक ग्रंथमाला कार्यालय, बाँकीपुर; मू० ॥) ।

एक्ट कानून जंगल—लेखक रा० ब० श्री मथुराप्रसाद; प्रकाशक सेंट्रल ला प्रेस, छिंदवाड़ा ।

एक्ट बिक्रीमाल हिंद—लेखक रा० ब० श्री मथुराप्रसाद; प्रकाशक सेंट्रल ला प्रेस, छिंदवाड़ा; मू० ॥) ।

ऐतिहासिक स्त्रियाँ—लेखिका श्री प्रेमलतादेवी; प्रकाशक मूलचंद किसनदास कापड़िया, सूरत; मू० ॥) ।

औदीच्य ब्राह्मणों का इतिहास—लेखक श्री चतुर्भुज पंड्या, श्रीराधेश्याम द्विवेदी; प्रकाशक औदीच्य-बंधु कार्यालय, मथुरा; मू० १) ।

कथाकुंज—संपादक श्री जगन्नाथ अग्रवाल, श्री जयेंद्रनाथ अश्क; प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास सैदमिट्ठा बाजार, लाहौर; मू० २) ।

कलापी—लेखक श्री आरसीप्रसादसिंह; प्रकाशक ग्रंथमाला कार्यालय, बाँकीपुर; मू० २) ।

कानून किमारबाजी—लेखक रा० ब० श्री मथुराप्रसाद; प्रकाशक सेंट्रल ला प्रेस, छिंदवाड़ा; मू० ।=) ।

कानून हकशफा—लेखक श्री रा० ब० मथुराप्रसाद; प्रकाशक सेंट्रल ला प्रेस, छिंदवाड़ा; मू० ।।।)।

गुटका मजमूआ जाब्ता फौजदारी—लेखक श्री हीरालाल वर्मा; प्रकाशक सेंट्रल ला प्रेस, छिंदवाड़ा; मू० ३।।)।

किसानों की कहावतें—लेखक श्री आनंदकुमार; प्रकाशक हिंदीमंदिर, प्रयाग; मू० ।)।

खेती की कहावतें—लेखक श्री व्यथित-हृदय; प्रकाशक ग्रंथ-माला कार्यालय, बाँकीपुर; मू० ।।=)।

कृष्णगीता—लेखक श्री दरबारीलाल सत्यभक्त; प्रकाशक सत्याश्रम, वर्धा; मू० धर्म।

खिलौनाघर—लेखक श्री विश्वमोहनकुमारसिंह; प्रकाशक हिंदुस्तानी प्रेस, बाँकीपुर; मू० ।।।)।

गंगालहरी—अनु० पं० अक्षयवट मिश्र; प्रकाशक पुस्तकभंडार, लहेरिया सराय; मू० =)।

गाँव के गीत—लेखक श्री व्यथित-हृदय; प्रकाशक ग्रंथमाला कार्यालय, बाँकीपुर; मू० ।)।

ग्राम पंचायत—लेखक श्री विनायक गणेश वझे; प्रकाशक ग्रंथ-माला कार्यालय, बाँकीपुर; मू० ।।=)।

चित्रसेन पद्मावती—लेखक पूर्णमल्लजी, संपादक भुजबली शास्त्री; प्रकाशक मूलचंद किसनदास कापड़िया, सूरत; मू० ।=)।

छहढाला—लेखक श्री दौलतरामजी, टी० फूलचंद शास्त्री; प्रकाशक सरलजैन ग्रंथमाला, जबलपूर; मू० ।-)।

श्री जंबूस्वामीचरित्र—लेखक श्री राजमल्लजी, टी० ब० सीतलाप्रसाद; प्रकाशक मूलचंद किसनदास कापड़िया, सूरत; मू० १।)।

जगदीश की झाँकी—लेखक श्री राधाकृष्ण तोषनीवाल; प्रकाशक राजस्थान हिंदी उपासना-मंदिर, अजमेर; मू० -)।।।

जादू का राग—लेखक श्री विश्वनाथसिंह शांडिल्य; प्रकाशक पुस्तकभंडार, लहेरिया सराय; मू० =)।

जीवन-यात्रा—लेखक श्री शांतिप्रिय द्विवेदी; प्रकाशक ग्रंथमाला कार्यालय, बाँकीपुर; मू० ।।।=)।

जीवित मूर्त्तियाँ—लेखक श्री व्यथित-हृदय; प्रकाशक ग्रंथमाला कार्यालय, बाँकीपुर; मू० ।=)।

झाँसी की रानी—लेखक श्री ईशदत्त पांडेय; प्रकाशक माधव-प्रसाद मिश्र, रानीभवानी की गली, काशी; मू० ।।।)।

तीरंदाज—लेखक श्री गिजूभाई, अनु० धर्मचंद्र खेमका; प्रकाशक पुस्तकभंडार, लहेरियासराय; मू० =)।

द्रव्यसंग्रह—लेखक श्री नेमिचंद्र; टी० भुवनेंद्र विश्व; प्रकाशक सरलजैन ग्रंथमाला, जबलपुर; मू० ।-)।

नवजीवन या प्रेमलहरी—लेखक श्री राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह; प्रकाशक ग्रंथमाला कार्यालय, बाँकीपुर; मू० ।।)।

निसर्ग—लेखिका श्री हेमवतीदेवी; प्रकाशक साहित्यरत्न-भंडार, आगरा; मू० १)।

नीम के उपयोग—लेखक श्री केदारनाथ पाठक; प्रकाशक श्याम-सुंदर रसायनशाला, काशी; मू० ।।।)।

नेताओं की कहानियाँ—लेखक श्री व्यथित-हृदय; प्रकाशक ग्रंथ-माला कार्यालय, बाँकीपुर; मू० ।।)।

नौकरशाही व महात्मा गांधी—लेखक श्री राधाकृष्ण तोषनीवाल; प्रकाशक राजस्थान हिंदी उपासना-मंदिर, अजमेर; मू० -)।

परशुराम—लेखक श्री परमानंददत्त परमार्थी; प्रकाशक पुस्तक-भंडार, लहेरिया सराय; मू० ।)।

पौराणिक भारत—लेखक श्री विजयविहारी मजूमदार, अनु० प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त'; मू० १)।

प्रलय से पहले—लेखक श्री ज्वालाप्रसाद सिंहल; प्रकाशक सद्-ज्ञानसदन, अलीगढ़; मू० ।।)।

प्रभात फेरी—लेखक श्री नरेंद्र; प्रकाशक प्रकाशगृह, कालाकाँकर; मू० १।)।

प्राकृतिक विज्ञान—लेखक डा० श्री पी० आचार्य; प्रकाशक सरस्वतीकिशोर मिश्र, गली-नवाबान, बरेली; मू० ५॥)।

प्राणदान (प्रथम भाग)—लेखक श्री व्यथित-हृदय; प्रकाशक बालशिक्षासमिति, बाँकीपुर; मू० ।=)।

प्रौढ़ों को ३० दिन में हिंदी सिखाने की सुगम रीति—लेखक श्री भगवानप्रसाद; प्रकाशक श्री मोतीलाल गुप्त, शिवपुर-बनारस; मू० =)।

बालक विनोद—लेखक श्री हवलदारीराम गुप्त; प्रकाशक पुस्तकभंडार, लहेरियासराय; मू० ।)।

बालकों का योरप—लेखक श्री कृपानाथ मिश्र; प्रकाशक पुस्तकभंडार, लहेरियासराय; मू० ।=)।

बालबोस्तां—लेखक श्री शिवनाथसिंह शांडिल्य; प्रकाशक पुस्तकभंडार, लहेरियासराय; मू० ≡)।

बालिका विनोद—लेखक श्री हवलदारीराम गुप्त; प्रकाशक पुस्तकभंडार, लहेरियासराय; मू० ≡)।

श्रीमद्भगवद्गीता—अनु० श्री रामदासराय; प्रकाशक अशोकाश्रम, मिश्रबाजार, गाजीपुर; मू० १।)।

श्रीभर्तृहरि नीति शृंगार और वैराग्य शतक—अनु० श्री रामदासराय; प्रकाशक अशोकाश्रम, मिश्रबाजार गाजीपुर; मू० १)।

भारतीय ईश्वरवाद—लेखक श्री पं० रामावतार शर्मा; प्रकाशक ग्रंथमाला कार्यालय, बाँकीपुर।

भाषा नित्य-पूजन सार्थ—अनु० भुवनेंद्र विश्व; प्रकाशक सरलजैन ग्रंथमाला, जबलपुर; मू० ।)।

भूषण-विमर्श—लेखक श्री भगीरथप्रसाद दीक्षित; प्रकाशक सरस्वती प्रकाशन-मंदिर, इलाहाबाद; मू० २।)।

मजदूरों की छाती पर—लेखक श्री कांतिप्रसाद झा; प्रकाशक ग्रंथमाला कार्यालय, बाँकीपुर; मू० २)।

मजमूआ जाब्तादीवानी—लेखक रा० ब० श्री मथुराप्रसाद; प्रकाशक सेंट्रल ला प्रेस, छिंदवाड़ा।

मधु के उपयोग—लेखक श्री केदारनाथ पाठक; प्रकाशक श्यामसुंदर रसायनशाला, काशी; मू० ।॥)।

महात्माजी का महाव्रत—लेखक श्री व्योहार राजेंद्रसिंह; प्रकाशक महाकोशल हरिजन-सेवक-संघ, जबलपुर।

रामचरित-चिंतामणि—लेखक श्री रामचरित उपाध्याय; प्रकाशक ग्रंथमाला कार्यालय, बाँकीपुर; मू० २)।

रामायण—लेखक श्री प्रफुल्लचंद्र ओझा मुक्त; प्र० बालशिक्षा समिति, बाँकीपुर; मू० १)।

रूस—लेखक श्री सुरेंद्रनाथ दूबे विद्याभूषण; प्रकाशक रस्तोगी ब्रदर्स, त्रिपोलिया बाजार, जयपुर; मू० ।॥)।

रोटी का राग—लेखक श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल; प्रकाशक सस्ता-साहित्य मंडल, दिल्ली; मू० ।॥)।

लालचीन—लेखक श्री रामवृक्ष बेनीपुरी; प्रकाशक ग्रंथमाला कार्यालय, बाँकीपुर; मू० २)।

विश्व अशांति योरपशांति—लेखक श्री राधाकृष्ण तोषनीवाल; प्रकाशक राजस्थान हिंदी उपासना-मंदिर, अजमेर; मू०)॥।

विश्वमंच का खिलाड़ी—लेखक श्री राधाकृष्ण तोषनीवाल; प्रकाशक राजस्थान हिंदी उपासना-मंदिर, अजमेर; मू० १॥)।

वैदिक भारत—लेखक रा० ब० डा० दिनेशचंद्र सेन, अनु० प्रफुल्लचंद्र ओझा मुक्त; प्रकाशक बाल-शिक्षासमिति, बाँकीपुर; मू० १)।

सत्यसंगीत—लेखक श्री दरबारीलाल सत्यभक्त; प्रकाशक सत्याश्रम, वर्धा; मू० ॥=)।

समाज और साहित्य (भाग १–२)—लेखक श्री आनंदकुमार; प्रकाशक हिंदी-मंदिर, प्रयाग; मू० १॥)।

सरल जैन-धर्म (भाग १–४)—लेखक श्री भुवनेंद्र विश्व; सरल जैन ग्रंथमाला, जबलपुर; ॥=)॥।

साहित्य की झाँकी—लेखक श्री सत्येंद्र एम० ए०; प्रकाशक साहित्यरत्न-भंडार, आगरा; मू० ।॥)।

साहित्यसंदेश—द्विवेदी अंक; अप्रैल ३९।

साहित्यालंकार—लेखक श्री रामदहिन मिश्र; प्रकाशक ग्रंथमाला कार्यालय, बाँकीपुर; मू० ॥)।

साहित्यिकी—लेखक श्री शांतिप्रिय द्विवेदी; प्रकाशक ग्रंथमाला कार्यालय, बाँकीपुर; मू० १॥)।

सुंदरी सुबोध—लेखक श्री संतराम बी० ए०; प्रकाशक इंडियन प्रेस, लि०, इलाहाबाद; मू० १॥)।

सुमित्रानंदन पंत—लेखक श्री नरेंद्र; प्रकाशक साहित्यरत्न-भंडार, आगरा; मू० १)।

स्टालिन—लेखक श्री रामइकबालसिंह; प्रकाशक ग्रंथमाला कार्यालय, बाँकीपुर; मू० २)।

हमारा ग्राम्य-जीवन—लेखक श्री लक्ष्मीनारायण दूबे; प्रकाशक मधुसूदन दूबे, नरसिंहपुर; मू० १।)।

हमारा राष्ट्रपति—लेखक श्री देवकुमार मिश्र; प्रकाशक ग्रंथमाला कार्यालय, बाँकीपुर; मू०।–)।

हमारा बिहार—लेखक श्री गजाधरप्रसाद अम्बष्ठ; प्रकाशक ग्रंथमाला कार्यालय, बाँकीपुर; मू० ।–)।

हमारे गाँव—लेखक श्री व्यथित-हृदय; प्रकाशक ग्रंथमाला कार्यालय, बाँकीपुर; मू० ।)।

हमारे गाँवों की कहानी—लेखक स्व० श्री रामदास गौड़; प्रकाशक सस्ता-साहित्य मंडल, दिल्ली; मू० ॥)।

हमारे साहित्य-निर्माता—लेखक श्री शांतिप्रिय द्विवेदी; प्रकाशक ग्रंथमाला कार्यालय, बाँकीपुर; मू० १)।

हरिहर संहिता—लेखक श्री हरिहरनाथ सांख्याचार्य; प्रकाशक महर्षि औषधालय, मुरादाबाद; मू० ३)।

हिंदी एक्ट दादरसीखास—लेखक श्री रा० ब० मथुराप्रसाद; प्रकाशक सेंट्रल ला प्रेस, छिंदवाड़ा; मू० ॥)।

हिंदी एक्ट मालदा हिंद—लेखक श्री रा० ब० मथुराप्रसाद; प्रकाशक सेंट्रल ला प्रेस, छिंदवाड़ा; मू० ||) ।

हिंदी एक्ट रसूम स्टाम्पहिंद—लेखक श्री रा० ब० मथुराप्रसाद; प्रकाशक सेंट्रल ला प्रेस, छिंदवाड़ा; मू० ||) ।

हिंदी कोर्ट फीस एक्ट—लेखक श्री रा० ब० मथुराप्रसाद; प्रकाशक सेंट्रल ला प्रेस, छिंदवाड़ा; मू० १||) ।

हिंदी मजमूआ जाब्ता फौजदारी—लेखक श्री रा० ब० मथुराप्रसाद; प्रकाशक सेंट्रल ला प्रेस, छिंदवाड़ा; मू० ६) ।

हिंदी मजमूआ ताजीरात हिंद—लेखक श्री रा० ब० मथुराप्रसाद; प्रकाशक सेंट्रल ला प्रेस, छिंदवाड़ा; मू० ६) ।

हिंदी में एक्ट पुलिस—लेखक श्री रा० ब० मथुराप्रसाद; प्रकाशक सेंट्रल ला प्रेस, छिंदवाड़ा; मू० २||) ।

हिंदी मेघदूत—अनु० श्री रामदासराय; प्रकाशक अशोकाश्रम मिश्रबाजार, गाजीपुर; मू० |||) ।

हिंदी रघुवंश—अनु० श्री रामदासराय; प्रकाशक अशोकाश्रम मिश्रबाजार; गाजीपुर । मू० ||) ।

हिंदी साहित्य का सुबोध इतिहास—लेखक श्री गुलाबराय एम० ए०; प्रकाशक साहित्यरत्न-भंडार, आगरा; मू० १|) ।

हिंदी हिंदुस्तान का एक्ट रजिस्ट्री—लेखक रा० ब० श्री मथुराप्रसाद; प्रकाशक सेंट्रल ला प्रेस, छिंदवाड़ा ।

हिंदी ही क्यों ?—लेखक श्री चंद्रगुप्त वेदालंकार; प्रकाशक आर्यसमाज वहाजगंज, देहली; मू० =) ।

हिंदुस्तान का कानून शहादत—लेखक रा० ब० श्री मथुराप्रसाद; प्रकाशक सेंट्रल ला प्रेस, छिंदवाड़ा; मू० ३) ।

हिंदू ला—लेखक रा० ब० श्री मथुराप्रसाद; प्रकाशक सेंट्रल ला प्रेस, छिंदवाड़ा; मू० ३) ।

हितोपदेशकथा—लेखक श्री रामदासराय, श्री विश्वेश्वरनाथ राय; प्रकाशक अशोकाश्रम, मिश्रबाजार, गाजीपुर; मू० |||) ।

विविध

अष्टाध्यायी में वर्णित प्राचीन भारतीय मुद्राएँ

पत्रिका के भाग १६, अंक ४ में उक्त शीर्षक से लेख छपने के बाद कुछ मित्रों ने आवश्यक सूचनाएँ भेजने की कृपा की है। उन्हें नीचे प्रकाशित किया जाता है।

१—पृ० ३६४ पर काकणी और अर्धकाकणी का वर्णन करते हुए हमने लिखा था कि इन दो सिक्कों का नाम पाणिनि में नहीं है, चाणक्य ने ताँबे की सूची में इनका नाम दिया है, एवं जातकों में हमें इनका संकेत नहीं मिला।

इस पर श्री आनंद कौसल्यायनजी ने लिखा है कि काकणी सिक्के का उल्लेख जातकों में है। जातक-कथा प्रथम वर्ग के पहले निपात की चुल्लसेट्ठि जातक नामक चौथी कथा की 'अतीत वत्थु' इस प्रकार है—

पूर्वकाल में काशी राष्ट्र के वाराणसी नगर में ब्रह्मदत्त (राजा) के राज्य करते समय बोधिसत्व एक सेठ परिवार में उत्पन्न हुए। वयस्क होने पर वे श्रेष्ठी का पद पा चुल्लसेठी नाम से प्रसिद्ध हुए। वे पंडित थे, व्यक्त थे, सब लक्षणों के जानकार थे। एक दिन उन्होंने राजा की सेवा में जाते समय गली में एक मरे चूहे को देखा। उसी समय नक्षत्र का विचार करके कहा—

"बुद्धिमान् (चक्षुमान्) कुलपुत्र इस चूहे को लेजाकर अपने परिवार का पालन कर सकता है; अथवा जीविकोपार्जन में लग सकता है।"

"एक दरिद्रकुल-पुत्र ने श्रेष्ठी की बात सुन 'यह बिना जाने नहीं कह रहा है' (यह सोच) उस चूहे को एक दूकान पर ले जा बिल्ली को खाने के लिये दे डाला। उसके लिये उसे एक **काकणी** मिली—

अञ्ञतरो दुग्गत कुलपुत्तो ते सेट्ठिरूप वचनं सुत्वा नायं अजानित्वा कथेस्सतीनि मूसिकं गहेत्वा एकस्मिं आपणे बिळालस्सत्थाय दत्वा काकणिकं लभि।" [जातक-कथा जिल्द १, पृ० १२०]

उपर्युक्त सूचना के लिये हम आनंदजी के कृतज्ञ हैं। इससे ज्ञात होता है कि जातकों के काल में भी काकणी नाम का ताँबे का सिक्का चालू था। इसी संबंध में श्री बा० दुर्गाप्रसादजी ने हमें लिखा है कि उनके संग्रह में ताँबे की काकणी का नमूना मौजूद है, पर अर्ध-काकणी नामक बहुत छोटे ताँबे के सिक्के का नमूना उन्हें अभी तक नहीं मिला है।

२—विगत २८ मार्च के अपने विशद पत्र में श्री बा० दुर्गाप्रसादजी ने और भी रोचक सूचनाएँ भेजने की कृपा की है जिसके लिये हम उनके बहुत कृतज्ञ हैं। वे लिखते हैं कि चाँदी और ताँबे के जिन सिक्कों का उल्लेख बौद्ध और ब्राह्मण साहित्य में आया है प्राय: वे सभी सिक्के उनको मिल चुके हैं और उनके नमूने उनके निजी संग्रह में हैं।

ताँबे के सिक्कों में माषक नाम का सिक्का व्यवहार में सबसे अधिक चालू था। मनु ने जो दो कृष्णल के बराबर तोल के चाँदी के माषक का जिक्र किया है वह भी उनके पास है।

ताँबे का कार्षापण ८० रत्ती या १४४ ग्रेन का होता था। उसके बराबर मूल्य का, पर वजन में ३२ रत्ती का, चाँदी का या रौप्य कार्षापण था, जो सिर्फ पण भी कहलाता था। ताँबे के कार्षापण बहुत कम मिलते हैं, परंतु चाँदी के पण, विशेषकर नंद और मौर्ययुग के, सहस्रों की संख्या में मिलते हैं। चाँदी के छोटे सिक्कों में अर्धकार्षापण या अर्धपण, पाद, त्रैमाषक, द्वैमाषक और माषक भी श्री दुर्गाप्रसादजी को तथा अन्य संग्रह करनेवालों को मिल चुके हैं।

डा० भंडारकर तथा अन्य विद्वानों का कभी यह विचार था कि चाँदी का कार्षापण भी तोल में ८० रत्ती का होता था। वस्तुत: यह भ्रांति है। ८० रत्ती तोल का चाँदी का कार्षापण कभी अस्तित्व में नहीं रहा। उस काल में चाँदी और ताँबे का अनुपात २:५ का था। इसलिये चाँदी के पण की तोल ३२ रत्ती होती थी।

३—अपने लेख के परिच्छेद १२ में हमने अष्टाध्यायी में से विंशतिक और त्रिंशत्क नामक दो नए सिक्कों का पहली बार ही विस्तृत वर्णन किया था। कई प्रमाणों के आधार पर हमने अनुमान किया था कि विंशतिक एक प्रकार का चाँदी का कार्षापण था जो १६ माशों के स्थान में २० माशा का होता था। बीस भाग होने के कारण उसकी संज्ञा विंशतिक थी। १६ माशे अर्थात् ३२ रत्ती की तोल और २० माशे या ४० रत्ती की तोलवाले दोनों तरह के रौप्य पण पाणिनि के समय में ज्ञात थे। हर्ष की बात है कि श्री दुर्गाप्रसादजी को भारी वजन का ४० रत्ती का चाँदी का कार्षापण सिक्का राजगृह से प्राप्त हुआ है। यही पाणिनि का 'विंशतिक' है। १०० रत्ती वजन का ताँबे का सिक्का भी उन्होंने राजगृह से प्राप्त किया है। यह चाँदी के विंशतिक के बराबर मूल्य का रहा होगा। उन्होंने लिखा है कि ६० रत्ती के वजन का अर्थात् विंशतिक का ड्योढ़ा एक सिक्का हाल में ही उन्हें बिहार से प्राप्त हुआ है। यह पाणिनि के 'त्रिंशत्क' का सूचक है। संभव है कि कालांतर में इन अद्भुत सिक्कों के और भी नमूने प्राप्त हों। आशा है श्री दुर्गाप्रसादजी अपनी इस बहुमूल्य नूतन सामग्री को शीघ्र प्रकाशित करने की कृपा करेंगे। बौद्ध-साहित्य की अनुश्रुति के अनुसार राजा बिंबसार के समय में राजगृह में बीस माशे का कार्षापण चालू था जिसके एक पाद का वजन ५ माषक था। इस हिसाब से 'विंशतिक' रौप्य कार्षापण के नमूने लगभग सातवीं शताब्दी ईस्वी पूर्व के होने चाहिए।

४—श्रीयुत एलन ने प्राचीन आहत सिक्कों पर और जानपद मुद्राओं पर एक सुंदर पुस्तक Coins of Ancient India नाम से हाल में प्रकाशित की है। उसकी भूमिका के पृ० १६१ (p. clxi) पर उन्होंने गंगमाल जातक (पालि जातक ३।४४८) के उद्धरण के (जो हमने अपने लेख में पृ० ३८८ पर दिया है) 'पाद' और 'चत्तारो मासका' के अलग अलग उल्लेख के यथार्थ को न समझने के कारण लिखा है—

' One wonders why the king mentioned both 1/4

Kahapana and 4 mashkas as they are presumably equivalent.'

असली बात यह है कि पाद 'विंशतिक' का चैाथाई हिस्सा होने के कारण ५ माषक का था और उससे छोटा एक सिक्का ४ माषक का था जो १६ माषे वाले पुराण से संबद्ध था। श्री डा० भंडारकर ने अपने व्याख्यानों में इसका संकेत किया भी था, पर डा० एलन ने उस पर ध्यान नहीं दिया।

५—अपने लेख के पृ० ३८४ पर हमने लिखा था कि पाणिनि के अनुसार शाण नाम का निश्चित परिमाण और मूल्य का एक सिक्का था। हमने अनुमान से लिखा था कि सुवर्ण माष का ही नामांतर शाण था और यह भी कहा था कि बाद के साहित्य में शाण का उदाहरण हमारे देखने में नहीं आया। परंतु वाचस्पत्य कोष में भावप्रकाश ग्रंथ के प्रमाण पर यह लिखा है कि शाण का वजन चार माशे के बराबर था। इन पंक्तियों को लिखने के बाद चरक संहिता के कल्पस्थान में जहाँ सब तोल दी हुई है वहाँ हमको शाण और उसके वजन का वर्णन मिल गया है (श्लो० ८६)। इसी प्रकरण में पात्र, कंस, शूर्प, गोणी, खारी, भार और वाह नामक तोलों का भी चरक में वर्णन है, जिनका उल्लेख पाणिनि में आया है। अतएव शाण का जो परिमाण चरक से प्राप्त होता है वह अति प्राचीन और मान्य साक्षी समझी जा सकती है। चरक के अनुसार ३ माशे या ३ हेमधान्यक तोल का नाम शाण था और एक सुवर्णकर्ष में ४ शाण होते थे। सुवर्णकर्ष ८० रत्ती की तोल का नाम था। इसलिये शाण इसका एक-चैाथाई भाग अर्थात् २० गुंजा के बराबर हुआ। हेमधान्यक और सुवर्णकर्ष के मध्य में पतित शाण भी सोने का ही एक सिक्का ज्ञात होता है। तोल में यह $\frac{1}{4}$ कर्ष के बराबर था।

—वासुदेवशरण

स्वर्गीय द्विवेदीजी का लिफाफा

लोगों में कुछ इस प्रकार का भ्रम फैलता दिखाई देता है कि 'स्वर्गीय आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा को एक मुहरबंद लिफाफा दिया था जिसे उन्होंने अपनी मृत्यु के पश्चात् खोलने की आज्ञा दी थी, पर जिसे सभा ने गुप्त रखा है।' इस संबंध में सभा से एक वक्तव्य 'सरस्वती' के गत जनवरी के अंक (द्विवेदी अंक) में छपने के लिये भेजा गया था, पर शायद देर से पहुँचने के कारण वह न छप सका। उसे यहाँ प्रकाशित कर देने से, आशा है, स्थिति स्पष्ट हो जायगी।

स्वर्गीय आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिंदी के लिये समर्पित अपने निरंतर कर्ममय जीवन में हिंदी जगत् का जो उपकार किया वह निस्संदेह उन्हीं के अंश का था, वह अभी तक किसी दूसरे से नहीं हो सका। हिंदी के नाते काशी-नागरीप्रचारिणी सभा से भी उनका प्रगाढ़ अनुराग था। अपनी पुस्तकें उन्हें प्राणप्रिय थीं। किंतु जिस प्रकार उनका भंडार जनता के हितार्थ बेरोक खुला था उसी प्रकार वे अपनी पुस्तकें भी अपने ही पास बंद न रखकर जनता के लिये सुलभ कर देना चाहते थे। इसलिये उन्होंने अपना अमूल्य संग्रह काशी-नागरीप्रचारिणी सभा को भेंट कर दिया था जो 'पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी संग्रह' के नाम से सभा के पुस्तकालय में, ११ बड़ी आलमारियों में, सुरक्षित है। इस संग्रह में लगभग ३००० चुनी हुई पुस्तकें हैं। इन पुस्तकों के अतिरिक्त एक और बड़ा दान द्विवेदीजी सभा को दे गए हैं। वह है उनका पत्र-संग्रह। इसमें उनके 'सरस्वती' के संपादनकाल तथा उसके बाद के भी कागज-पत्र और फाइलें हैं जिनके बंडल एक आधी और एक पूरी आलमारी में भरे हुए हैं। इसे देखने के लिये काफी समय की आवश्यकता है।

उक्त वस्तुओं के अतिरिक्त तीन बंडल ऐसे भी हैं जिन्हें द्विवेदीजी ने अपने जीवनकाल में खोलने को मना किया था। उनमें द्विवेदीजी के नाम भेजे गए निजी पत्रों का संग्रह है। तीनों बंडलों में लगभग १५०० से ऊपर पत्र होंगे।

द्विवेदीजी के निधन के बाद इन पत्रों की एक सूची सभा तैयार करा रही थी, पर अन्य कार्यों की अधिकता के कारण यह काम उस समय अधूरा रह गया था। अब एक सज्जन कृपा कर यह कार्य कर रहे हैं। सूची तैयार हो जाने पर जो सज्जन चाहेंगे वे कार्यालय में आकर देख सकेंगे। आवश्यकता हुई तो उसे प्रकाशित करने की भी व्यवस्था की जायगी।

इन पत्रों को देखने से पता चलता है कि द्विवेदीजी पत्र-व्यवहार में ही सदैव सतर्कता और नियम का पालन नहीं करते थे, प्रत्युत पत्रों के संग्रह में भी वे पूरा परिश्रम करते थे। कोई पत्र ऐसा न मिलेगा जिसको उन्होंने ध्यान-पूर्वक पढ़कर उत्तर न दिया हो। सब पर उनके नोट तथा तारीख सहित हस्ताक्षर हैं। पत्र लिखनेवाले तारीख लिखना भूल गए हैं पर द्विवेदीजी नहीं भूले। एक विषय और व्यक्ति के पत्र एक साथ रखे गए हैं। उदाहरणार्थ, पत्नी-वियोग-संबंधी सब पत्र एक साथ रखे गए हैं। इसी प्रकार पं० कमलाकिशोरजी के विवाह-संबंधी सब पत्र एकत्र हैं। निजी पत्र भी बिलकुल आफिस के ढंग से रखे हुए हैं। फुटकर पत्रों में साधारण व्यक्तियों के अतिरिक्त राजाओं, सरकारी अफसरों तथा बड़े बड़े देशी और विदेशी विद्वानों के भी पत्र हैं।

द्विवेदीजी के पत्रों के संबंध में एक आवश्यक बात यह है कि सभा के पत्र-व्यवहार की आवश्यक फाइल में उनके ऐसे पत्र मिले हैं जिनसे विदित होता है कि अपने पुस्तक-संग्रह का कुछ आवश्यक अंश उन्होंने अपने पास दौलतपुर में रख लिया था। उस संग्रह को भी सार्वजनिक उपयोग के लिये काशी-नागरीप्रचारिणी सभा को ही देने की उनकी इच्छा थी और इसे निश्चयरूप में उन्होंने सभा को लिख दिया था। इस संबंध में द्विवेदीजी के सुयोग्य भांजे तथा उत्तराधिकारी पं० कमलाकिशोर त्रिपाठीजी से, द्विवेदीजी के निधन के बाद ही, सभा की ओर से प्रार्थना की गई थी और सभा को आशा है कि वे द्विवेदीजी की इस पवित्र इच्छा की पूर्ति अवश्य करेंगे।

—रामबहोरी शुक्ल

(प्रधान मंत्री—ना० प्र० सभा)

'मराल' पत्रिका के दिसंबर सन् १९३९ के अंक में श्री किशोरीदास वाजपेयी ने 'संपादकीय' के अंतर्गत (पृष्ठ ३०—३१) यह लिखा है—"जब काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने स्व० आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी को अभिनंदन-ग्रंथ भेंट किया था, तब द्विवेदीजी ने 'सभा' को एक मोहरबंद लिफाफा दिया था और आज्ञा की थी कि मेरे जीवनकाल में यह न खोला जाय। अब द्विवेदीजी का स्वर्गवास हुए काफी अर्सा हो गया है, पर उस लिफाफे का क्या हुआ, उसमें क्या था, सो कुछ पता नहीं चलता।" इस संबंध में मेरा यह निवेदन है कि अभिनंदन के अनंतर द्विवेदीजी ने एक बंद लिफाफा पं० रामनारायण मिश्र को, जो उस समय सभा के सभापति थे, दिया था। पंडितजी ने वह लिफाफा मुझे दिया और मैंने उसे सभा के सहायक मंत्री बाबू गोपालदास को दिया। लिफाफा देते समय द्विवेदीजी ने कहा था कि यह सभा के नौकरों के वेतन मद्धे व्यय किया जाय। लिफाफा खोलने पर उसमें एक नोट १००) का और दस नोट १०) १०) रु० के थे, जो सभा के हिसाब में जमा किए गए।* अतएव बंद लिफाफा की बात तो सत्य है, पर यह कहने का कोई आधार नहीं है कि द्विवेदीजी ने यह "आज्ञा की थी कि मेरे जीवनकाल में यह न खोला जाय।" अच्छा होता यदि द्विवेदीजी की इस आज्ञा का कोई प्रमाण उपस्थित किया जाता। हाँ, पहले जो कागजों के बंडल उन्होंने दिए थे उनमें से कुछ पर यह लिखा था कि 'ये ताले में बंद रखे जायँ।' ऐसा ही किया भी गया। ऊपर पं० रामबहोरी शुक्ल ने जो लिखा है वह ठीक है, उसके विषय में मुझे कुछ नहीं कहना है।

बिना प्रमाण के व्यर्थ वितंडावाद बढ़ाना उचित नहीं है।

—श्यामसुंदरदास

* १९ वैशाख १९९० में सभा की विशेष सहायता के खाते में २००) जमा है।

—रामबहोरी शुक्ल

हिंदी साहित्यसम्मेलन का अट्ठाइसवाँ अधिवेशन

१०, ११, १२ अक्तूबर १९१० के पहले अधिवेशन के बाद हिंदी साहित्यसम्मेलन का अट्ठाइसवाँ अधिवेशन गत १५, १६, १७, १८ अक्तूबर '३९ को पुन: काशी-नागरीप्रचारिणी-सभा में विपुल समारोह के साथ संपन्न हुआ। सम्मेलन की इस जन्मस्थली में प्रथमाधिवेशन के सभापति महामना पं० मदनमोहनजी मालवीय स्वागताध्यक्ष रहे और पं० अंबिकाप्रसादजी वाजपेयी ने, जो उनके उस सभापतित्व के स्वागत से दूर रहे थे, उनसे सभाजन पाकर सभापति का आसन ग्रहण किया।

सम्मेलन अब ऐसा बृहत् हो गया है, उसके साथ इतनी परिषदें और उपसम्मेलन होने लगे हैं कि उसका अधिवेशन एक बड़ा मेला सा हो जाता है। काशी की स्वागत-समिति ने इसकी व्यवस्था और प्रबंध का बड़े उत्साह से प्रयत्न किया। किंतु हाल के सांप्रदायिक दंगे और फिर योरपीय समर के संकट के कारण वह यथेष्ट शक्ति संचित नहीं कर सकी। अत: उसे यथेष्ट सफलता तो कदाचित् नहीं मिली, पर अधिवेशन संपन्न रहा। चारों दिनों का भरा-पुरा कार्यक्रम और जनता की उपस्थिति बहुत उत्साहवर्द्धक थी।

सम्मेलन के सभापति के भाषण के मुख्य अंश, राष्ट्रभाषा-परिषद् के सभापति का भाषण, कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण स्वीकृत निश्चय और अधिवेशन का संक्षिप्त विवरण इसी अंक के 'चयन' और 'सभा की प्रगति' में दिए जा रहे हैं।

सम्मेलन में कुछ निश्चयों की पुनरावृत्ति, उनके विषय में पुन: पुन: बलप्रदर्शन ही होता रहा है। सिक्कों और स्टैंपों पर सर्वत्र नागरी लिपि और कचहरियों में हिंदी के विषयों में सम्मेलन के पहले अधिवेशन से ही निश्चय होते आए हैं। पर सफलता अब भी दूर ही है। इन विषयों में सब ओर से प्रबल आंदोलन की बहुत आवश्यकता है।

हिंदी भाषा और नागरी लिपि आज जटिल समस्याओं के रूप में उपस्थित हैं। एक तो हिंदी भाषा और नागरी लिपि मध्यदेश की निजी भाषा, मातृभाषा और लिपि हैं, दूसरे ये सारे देश की परंपरागत प्रधान भाषा और प्रधान लिपि हैं। मध्यदेशवालों को सहज ही इनकी ममता और इनकी शुद्धता का विशेष आग्रह है। और सारे देश में राष्ट्रीयता के पुनरुत्कर्ष के साथ राष्ट्रीय भाषा और राष्ट्रीय लिपि की आवश्यकता के अनुभूत होने से राष्ट्रचिंतक इनकी सर्वग्राह्यता का विचार कर रहे हैं। उधर उर्दू, जो हिंदी ही होकर विदेशी शब्दों और प्रयोगों के बाहुल्य के कारण विदेशिनी हो गई है, प्रतिस्पर्धा में अपने भाषारूप और अपनी लिपि को इनके स्थानों में रखने की होड़ लगाए है। बीच में हिंदुस्तानी की कृत्रिमता फैल रही है जिसके प्रति सब ओर शंकाएँ उठ रही हैं। और एक ओर बँगला भी, मानो इस जटिलता में विचित्रता लाने के लिये, अब प्रतिस्पर्धा में सचेष्ट हो रही है। अतः सम्मेलन के अधिवेशनों में इधर हिंदी भाषा और नागरी लिपि के विषय ही प्रधान हो रहे हैं। परंतु अभी तक इनके यथोचित स्वरूपों के निश्चय नहीं हो सके हैं। गत अधिवेशन में सम्मेलन ने एक निश्चय में अपनी स्थायी समिति को आदेश दिया है कि हिंदी पर कई ओर से जो भिन्न-भिन्न रूपों में और भिन्न-भिन्न नामों से आक्रमण किए जा रहे हैं उनका प्रतिकार करे और राष्ट्रीय जीवन में हिंदी का जो स्थान और रूप है उसे बिगड़ने न दे। यह एक बहुत ही आवश्यक निश्चय है। इस ओर सबल कार्य होना चाहिए। एक दूसरे निश्चय के द्वारा सम्मेलन ने राष्ट्रभाषा, उसका प्रचार और उसकी योजना आदि के संबंध में उसकी क्या नीति हो इसके निर्धारित करने के लिये सात विद्वानों की एक समिति नियुक्त कर दी है जो तीन मास के भीतर अपना निर्णय प्रस्तुत करेगी। इस निर्णय की हम प्रतीक्षा कर रहे हैं।

हिंदी भाषा के संबंध में विचार करते हुए इसके उपर्युक्त दोहरे रूप का ध्यान अवश्य रखना होगा। एक प्रदेश की मातृभाषा होने के साथ

ही सारे देश की प्रधान भाषा होने के दोहरेपन को समझकर ही इसके संबंध में कुछ निर्णय किया जा सकता है। मध्यदेश में संस्कृत, शौरसेनी प्राकृत, शौरसेनी अपभ्रंश की परंपरा से यह 'भाषा' या 'नागरी' के नाम से विकसित हुई। यही इसकी प्रकृति का परिचय है। संस्कृत भाषा मध्यदेश की आदिम टकसाली भाषा थी। आर्यों की निजी भाषा होने के कारण यह शेष आर्यावर्त्त की और फिर समस्त भारतवर्ष के व्यवहार और संस्कार की भाषा हो गई। इस प्रकार संस्कृत भाषा भारत की आदिम राष्ट्रभाषा थी। प्रदेशों में प्राकृतों के विकसित होने पर भी इसका राष्ट्रभाषात्व या प्रधानभाषात्व बना रहा। राष्ट्रीय एकता का यह बहुत काल तक साधन रही। उस एकता के ह्रास के साथ इसका ह्रास हुआ। आगे मध्यदेश की (शौरसेनी) प्राकृत, अपभ्रंश और फिर 'भाषा' या 'नागरी' इसकी उत्तराधिकारिणी हुईं। इस परंपरा से यह मध्यदेशीय 'भाषा' शेष प्रादेशिक भाषाओं की सगी होती हुई भारत की सर्वाधिक व्यापक, प्रधान भाषा हुई। इसका व्यावहारिक रूप देश में लोक-व्यवहार का प्रधान माध्यम हुआ और इसके साहित्यिक रूप में भारतीय संस्कृति की प्रधान धारा बही। आकरभाषा और संस्कृतिभाषा के रूप में संस्कृत भाषा तो देश में सर्वत्र मान्य रही ही और रहेगी ही। सिंधु के कारण भारतवर्ष को 'हिंद' और इसके निवासियों को 'हिंदू' कहनेवाले लोग इसकी प्रधान भाषा को 'हिंदी' या 'हिंदवी' के नाम से पुकारते थे। उनके यहाँ आकर अधिष्ठित होने पर अधीनता के कारण देशवालों ने अपने लिये और अपनी प्रधान भाषा के लिये ये नाम स्वीकार कर लिए। तब से इस देश के निवासियों के लिये 'हिंदू' और इसकी प्रधान भाषा के लिये मुख्यत: 'हिंदी' नाम चल पड़े। चलती भाषाओं में विविध संपर्कों के कारण कुछ चलते विदेशी शब्द तथा कुछ उक्तियाँ भी आ जाती हैं। किंतु वे भाषाएँ उन्हें अपनी प्रकृति में ढाल लेती हैं, आत्मसात् कर लेती हैं। इस प्रकार उनकी संपत्ति बढ़ती ही है। संस्कृत से लेकर आधुनिक भाषाओं तक सर्वत्र

यह बात देखने में आती है। अत: हिंदी में जैसे अन्य विदेशीय संपर्कों से विभिन्न विदेशी शब्द तथा उक्तियाँ आईं वैसे ही अरबी-फारसी बोलनेवालों के संपर्क से कुछ अरबी और फारसी शब्द तथा कुछ उक्तियाँ भी आईं। इससे व्यावहारिक हिंदी में एक नई-सी शैली बनी और साहित्यिक हिंदी में कुछ नए ढले मँजे शब्द तथा कुछ उक्तियाँ भी आ मिलीं। अरबी-फारसी से विशेष संपर्क रखनेवालों के द्वारा हिंदी में अरबी-फारसी के परिचित शब्दों के मेल से 'रेखता' की मिली शैली बन चली। परंतु दिल्ली के शाहजहाँनाबाद बनते वहाँ के 'उर्दू-ए-मुअल्ला' (शाही छावनी) में हिंदी में अरबी-फारसी शब्दों और प्रयोगों की अधिकाधिक बहुलता से दरबारी फारसी के निकट 'उर्दू' चलाई गई। रेखता तक तो कुशल था, यह उर्दू तो जनसाधारण की हिंदी से दूर ही हो गई। आगे तो यह हिंदी के अनिवार्य ढाँचे में फारसी बना दी गई। किंतु हिंदी अपनी शैलियों में अपनी प्रकृति के अनुसार नए प्रचलित शब्दों तथा उक्तियों को आत्मसात् करती विकसित होती रही। जनसाधारण के व्यवहार की भाषा तो यह हिंदी ही रही, पर दरबारों और कचहरियों में फारसी के बाद उर्दू के अधिष्ठित किए जाने से दरबारी और कचहरिया लोगों में उर्दू शैली का व्यवहार चला। फलत: उर्दू शैली का विदेशी साहित्य भी बन चला। परंतु यह एक कृत्रिम, वर्ग-विशेष में सीमित शैली ही रही है। भाषात्व तो इसमें अपना है नहीं। इसे 'मुल्क की आम जबान' या मुसलमान संप्रदाय की साधारण भाषा भी मानना सत्य को न जानना या जानकर उसकी हत्या करना है। मध्यदेश की साधारण भाषा तो हिंदी ही है और अपनी उपर्युक्त परंपरा से यही अन्य प्रदेशों में भी बहुत कुछ समझी और उनके बीच पारस्परिक व्यवहार में बोली जाने के कारण भारत की प्रधान भाषा तथा राष्ट्रभाषा है। अत: भारतीय राष्ट्र के आधुनिक पुनरुत्कर्ष के साथ हिंदीभाषा का व्यापक उत्कर्ष हो रहा है। राष्ट्र-चिंतक आज इसकी सर्वग्राह्यता का विचार कर रहे हैं। क्योंकि राष्ट्र की उलझी समस्याओं के

बीच राष्ट्रभाषा के स्वरूप का निश्चय भी एक समस्या हो रहा है, सांप्रदायिक और प्रांतीय भाव इससे उलझकर इसे जटिल बना रहे हैं। अतः राष्ट्रभाषा की विचित्र कल्पनाएँ और योजनाएँ हो रही हैं। यथार्थ राष्ट्रभाषा हिंदी के आगे प्रस्ताव आ रहे हैं कि वह विचित्र नामों और रूपों से संधि कर ले। इसके वास्तविक स्वरूप के उत्कर्ष में किन्हीं को अपनी संस्कृति की हत्या के स्वप्न आने लगे हैं, तो किन्हीं को साम्राज्यवादी आक्रमण दिखाई देने लगा है। भ्रांति में दोष सत्य का नहीं, द्रष्टा का ही होता है। रहता, बचता सत्य ही है, भ्रांति नहीं—आवश्यकता बस सत्यशोध की होती है। हिंदी ही भारत के मध्यदेश की प्रकृत भाषा और अन्य प्रादेशिक भाषाओं की सगी होती हुई देश की परंपराप्राप्त, विकासशील राष्ट्रभाषा है, इस सत्य की प्रतिष्ठा के लिये हिंदी के उत्तरदायी विद्वानों और संस्थाओं को पूर्णतः सचेष्ट रहना चाहिए। हम आशा करते हैं कि सम्मेलन के उपर्युक्त निश्चय शीघ्र कार्यान्वित होंगे।

हिंदी भाषा की सी ही कुछ कथा नागरी लिपि की है। मध्यदेश में भारत की आदिलिपि ब्राह्मी से ही देवनागरी या नागरी विकसित हुई और संस्कृत भाषा के साथ देश की प्रधान लिपि हुई। और अन्य प्रदेशों में प्राकृतों के साथ इसकी सगी अन्य लिपियाँ विकसीं। संस्कृत भाषा के समान ही नागरी लिपि की शास्त्रीयता भारतीयों के गर्व की वस्तु रही है। शास्त्रीयता के साथ सुबोधता भी इसका एक विशेष गुण है। आज देश के साक्षरों में हिंदी भाषा से भी अधिक नागरी लिपि प्रचलित और परिचित है। इस प्रकार यह सहज ही हमारी राष्ट्रलिपि है। कुशल है कि इसके संबंध में बहुत भ्रांतियाँ नहीं हैं। उर्दू की लिपि तो अपनी अशास्त्रीयता और विदेशीपन के कारण इसके आगे टिकती नहीं, और प्रादेशिक लिपियाँ अपनी-अपनी प्रादेशिकता और इसकी प्रधानता तथा राष्ट्रीयता बहुत कुछ समझती हैं। अब समस्या केवल इसकी सर्वोपयोगिता की है। व्यापक उपयोग की दृष्टि से इसका कुछ संस्कार तो आवश्यक है। पर यह संस्कार इसकी

शास्त्रीयता और सुबोधता का ध्यान रखते हुए ही किया जाना चाहिए। कोरी उपयोगिता की दृष्टि से प्रस्तावित सुधार निर्मूल होंगे, अतः अयुक्त होंगे और चल न सकेंगे। सम्मेलन के निश्चित सुधार बहुत कुछ इसी कोटि के होने के कारण स्वीकार्य नहीं हैं। और रोमन लिपि के प्रयोग का प्रस्ताव जो कुछ लोग करने लगे हैं उसमें हमारी लिपि की प्रतिष्ठित परंपरा की उपेक्षा है। अतः उसे तो उपेक्षणीय ही होना चाहिए। आशा है, सम्मेलन अपने उक्त निश्चय का शीघ्र सुधार करेगा और देश के प्रतिनिधि विद्वानों और संस्थाओं के सहयोग से नागरी लिपि का समुचित संस्कार उपस्थित करने का प्रयत्न करेगा।

सम्मेलन के अधिवेशन इधर भाषा तथा लिपि के प्रश्नों और प्रस्तावों से ही ऐसे भरे हो रहे हैं कि उनमें साहित्य संबंधी प्रस्ताव उपस्थित नहीं हो पा रहे हैं। साहित्य का व्यापक गौरव और उसकी आवश्यकता कहने की बातें नहीं हैं। हिंदी-साहित्य के सभी अंगों के विकास और उनकी उत्तरोत्तर संवृद्धि के निमित्त विचार और उद्योग करते रहकर ही सम्मेलन अपने नाम को सार्थक रख सकता है। उसके अधिवेशन में होनेवाली साहित्यपरिषद् के द्वारा उसे सार्थकता नहीं मिल जाती, क्योंकि वहाँ विचार-प्रकाशन होता है, कुछ निश्चय नहीं। वह एक परिषद् मात्र होती है। हिंदी के बढ़ते प्रचार और उत्कर्ष के साथ साधारण तथा विशिष्ट साहित्य की आवश्यकता बढ़ती जा रही है, आवश्यकतापूर्ति भी यथासंभव होती जा रही है। पर उपलब्ध का विवेचन और अनुपलब्ध के लिये उद्योग करना, उत्तरदायी संस्थाओं का कर्तव्य होता है। खेद है कि काशी के अधिवेशन में भी किसी साहित्य-संबंधी प्रस्ताव को अवसर नहीं मिल सका। सभापति महोदय ने अपने भाषण में सम्मेलन के भावी कार्यक्रम की जो योजना प्रस्तुत की थी उस पर भी अधिवेशन में कुछ विचार नहीं किया जा सका। आशा है, सम्मेलन शीघ्र अन्य अधिकारी विद्वानों तथा संस्थाओं के परामर्श के साथ उस योजना का विचार और उस पर एक

निश्चित संकल्प करेगा और आगामी अधिवेशनों में साहित्यसंबंधी कुछ विचार निश्चित करना आवश्यक रखेगा।

काशी से चलकर काशी तक, सन् १९१० से १९३९ तक, सम्मेलन ने एक युगचक्र पार किया है। उसका यह इतिहास स्मरणीय और यशस्कर हुआ है। अपनी जन्मस्थली से ही उसने आगे के युग में संक्रमण किया है। हमारी यह आशंसा है कि वह हिंदी की उत्तरोत्तर यथेष्ट हितसाधना करता हुआ कृतार्थ होता रहे।

पंजाब में हिंदी की दशा

पंजाब में हिंदी की दशा शोचनीय हो रही है। इस देश में पंजाब में ही आर्यभाषा का पहला विकास हुआ था। ठेठ पंजाबी में वैदिक शब्दों और प्रयोगों के अपभ्रंश बहुलता से मिलते हैं। उसमें कुछ वैदिक भाषा का सा रस और ऊर्ज मिलता है। पूर्वी पंजाब तो मध्यदेश के अंतर्गत है, जहाँ वैदिक भाषा संस्कृत हुई और इस रूप में केंद्रित होकर सारे आर्यावर्त्त की और फिर भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा हुई। संस्कृत की आधुनिक उत्तराधिकारिणी हिंदी सहज ही मध्यदेश की अपनी भाषा और सारे देश की राष्ट्रभाषा है। अतः पंजाब की निजी प्रधान भाषा हिंदी ही है। परंतु कुछ काल से वह आक्रांत हो रही है और आज तो उसकी दशा शोचनीय ही हो गई है।

गत २री नवंबर १९३९ को पंजाब की व्यवस्थापिका सभा में वहाँ की सरकार के शिक्षा मंत्री मियाँ अब्दुल हई ने एक प्रश्न के उत्तर में यह घोषित कर दिया है कि पंजाब में राष्ट्रीय विकास के हित की दृष्टि से सरकार की यह नीति है कि उर्दू को शिक्षण का माध्यम रखे और इसकी एकरूपता के लिये उर्दू से भिन्न किसी भाषा को उत्साहित न होने दे। इसके अनुसार, हमें मालूम हुआ है कि, उर्दू से भिन्न भाषाओं के शिक्षण के लिये स्कूलों को आर्थिक सहायता देना सरकार ने बंद कर दिया है। यह कैसी नीति है और इसके द्वारा पंजाब की प्रधान भाषा हिंदी और उसकी ठेठ पंजाबी का कैसा दमन होने लगा

हैं, यह पंजाब गहरे क्षोभ से अनुभव करने लगा है। जानकार जानते हैं कि उर्दू कोई भाषा नहीं है। वह तो हिंदी में अरबी-फारसी शब्दों और प्रयोगों की मनमानी भरमार से फारसी के निकट बनाई गई एक विशेष वर्ग की कृत्रिम शैली है। विविध प्रभावों से पंजाब में कुछ काल से प्रचलित होकर भी वह प्रांत की साधारण भाषा, प्रधान भाषा नहीं हो सकी है। कचहरियों और दफ्तरों में प्रयुक्त किए जाने से ही तो उर्दू का व्यवहार चला था, अब शिक्षा का माध्यम रखकर उसे सर्वापहारी भाषा बनाया जा रहा है। स्पष्ट ही यह देश की यथार्थ राष्ट्रभाषा तथा पंजाब की प्रधान भाषा हिंदी और उसकी ठेठ पंजाबी पर घोर आक्रमण है। इस आक्रमण के प्रतिकार में पंजाब को बल-पूर्वक सचेष्ट होना चाहिए। अपनी भाषा और अपनी संस्कृति की रक्षा पंजाब की विशेषता रही है।

नागरीप्रचारिणी सभा ने पंजाब में हिंदी की रक्षा और उपर्युक्त नीति के सुधार के निमित्त आग्रह करने के लिये वहाँ एक प्रतिनिधि-मंडल भेजने का निश्चय किया है। आशा है, पंजाब के हिंदीप्रेमी और उनकी संस्थाएँ उसका स्वागत करेंगी और उनके सबल सहयोग से उसे यथेष्ट सफलता प्राप्त होगी।

—कृ

सभा की प्रगति

२८वाँ हिंदीसाहित्यसम्मेलन

इस वर्ष सभा के आमंत्रण पर अखिल भारतीय हिंदीसाहित्य-सम्मेलन का २८वाँ अधिवेशन सभा में ही गत १५ से १८ अक्तूबर तक श्री अंबिकाप्रसाद वाजपेयी के सभापतित्व में बहुत सफलतापूर्वक समाप्त हुआ। यद्यपि गत वर्ष सांप्रदायिक उपद्रवों के कारण सम्मेलन के लिये तैयारी करने का बहुत ही कम समय मिला, फिर भी काशी और बाहर के लोगों ने बड़े उत्साह से भाग लिया और सभा के अनेक सभासदों ने भी प्रशंसनीय योग दिया।

इस बार अधिवेशन का कार्यक्रम ऐसा भरा-पुरा था कि रात के कुछ घंटों को छोड़ प्राय: बराबर एक न एक बैठक होती रहती थी, फिर भी लोगों में इतना उत्साह था कि सहस्रों स्त्री-पुरुष चारों दिन बराबर उपस्थित रहे। इन दिनों सभा तथा नगर में काफी चहल-पहल रही।

साहित्य-परिषद् श्री सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', राष्ट्रभाषा-परिषद् डा० राजेंद्रप्रसाद, दर्शन-परिषद् डाक्टर भगवानदास, समाज-शास्त्र-परिषद् आचार्य नरेंद्रदेव, विज्ञान-परिषद् डा० गोरखप्रसाद, पत्रकार-सम्मेलन श्री माखनलाल चतुर्वेदी, कवि-सम्मेलन श्री देवीदत्त शुक्ल, कहानी-सम्मेलन श्री 'सुदर्शन', महिला-सम्मेलन श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान और नवयुवक-सम्मेलन श्री भगवतीचरण वर्मा के सभापतित्व में सफल रहे। सभा के अंतर्गत कलाभवन की ओर से एक साहित्य-कला-प्रदर्शनी का भी आयोजन किया गया था। दो दिन 'प्रसाद'जी के 'स्कंदगुप्त' का अभिनय भी प्रस्तुत किया गया था।

१८ ता० को सम्मेलन के प्रतिनिधियों को जलपान कराया गया।

'हरिऔध' अभिनंदन

सम्मेलन के अवसर पर १५ अक्तूबर को सायंकाल विशाल पंडाल के नीचे विराट् जन-समूह की उपस्थिति में साहित्य-वाचस्पति कवि-सम्राट् पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' को उनकी ७५वीं वर्षगाँठ के शुभावसर पर सभा की ओर से अभिनंदनपत्र दिया गया।

साहित्यगोष्ठी

सम्मेलन के उपरांत सभा में डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, श्री अर्द्धेंदुकुमार गांगुली, 'शनिवारेर चीठी' के सहायक संपादक श्री सुबलचंद्र बंदोपाध्याय तथा कुछ और बंगाली सज्जनों के आगमन के अवसर पर एक साहित्यगोष्ठी की योजना हुई थी। गोष्ठी में श्रीमैथिलीशरण गुप्त भी उपस्थित थे। वार्तालाप में मुख्य चर्चा राष्ट्रलिपि और राष्ट्रभाषा की हुई। सुनीति बाबू ने इनके विषय में अपना मत स्पष्ट किया। राष्ट्रलिपि को वे रोमन और राष्ट्रभाषा को हिंदी मानते हैं। बँगलाभाषियों के एक बढ़ते दल के हिंदीविरोध का कारण उन्होंने बँगला पर हिंदी के कल्पित आक्रमण से उत्पन्न क्षोभ बताया। उनके मत में हिंदी-भाषियों में भाषागत साम्राज्यलिप्सा बढ़ आई है। हिंदी भाषा को वे संस्कृति की नहीं, व्यवहार की ही भाषा मानते हैं। सभा की ओर से उनके तथा उनके साथ आए अन्य सज्जनों के आगमन के लिये उन्हें धन्यवाद देते हुए कहा गया कि हिंदी अपने को बँगला की सगी मानती है, उसके प्रति बँगला का क्षोभ उसके राष्ट्रभाषात्व को स्पष्ट न समझने के कारण ही हो सकता है; उनके द्वारा हिंदी बँगला के प्रति अपनी सहृदयता का संदेश भेजती है। सुनीति बाबू के महाकवि होमर के कुछ ग्रीक पद सुनाने और गुप्तजी के कुछ कविताएँ सुनाने से गोष्ठी बहुत सरस रही।

पुस्तकालय

आर्यभाषा पुस्तकालय में पुस्तकों का विषयानुसार वर्गीकरण प्रायः समाप्त हो चुका है। यह वर्गीकरण सर्वमान्य 'डिवी' पद्धति

की दाशमिक प्रणाली के अनुसार हो रहा है। जिल्दबंदी का काम भी तेजी से करने का प्रबंध किया गया है। खेद है कि इस कार्य को संपन्न करने में पुस्तकों का आदान-प्रदान कुछ दिनों तक रुक जाने के कारण पुस्तकालय के सहायकों को कष्ट उठाना पड़ा है। पर आशा है, शीघ्र ही पुस्तकालय का यह नूतन संस्कार हो जाने पर उन्हें अधिक सुविधा और प्रसन्नता होगी। इस कार्य के लिये सभा को कहीं से कोई धन नहीं मिला है, फिर भी कई अन्य आवश्यक कार्यों को रोक कर सभा इसे पूरा करा रही है।

जिन लेखकों तथा प्रकाशकों ने अपनी पुस्तकों द्वारा पुस्तकालय की सहायता की है उनकी सभा कृतज्ञ है। गत अगस्त मास से युक्त प्रांतीय सरकार ने कृपा कर गजट की एक प्रति भेजना आरंभ कर दिया है, इसके लिये सभा उसे धन्यवाद देती है।

खोज-विभाग

हस्तलिखित पुस्तकों की खोज का कार्य यथापूर्व हो रहा है। इधर कुछ दिनों तक दोनों अन्वेषकों (श्री बाबूराम बित्थरिया और श्री दौलतराम जुयाल) ने सभा के प्रधान कार्यालय में आकर रिपोर्ट तैयार करने का कार्य किया और उसके समाप्त हो जाने पर फिर अपने-अपने क्षेत्र में चले गए।

भारतकला-भवन

कलाभवन में लगे हुए सब चित्रों पर संक्षेप में नाम, काल आदि के कार्ड अब स्थायी रूप से लग गए हैं। गत महीनों में जो वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं उनमें बारहट नरहरदास विरचित अवतारगीता तथा श्रीमद्भागवत की संयुक्त हस्तलिखित सचित्र प्रति उत्तम है। इसे श्रीयुत काका कालेलकरजी ने कृपा कर कला-भवन को भेंट किया है। इसके कुछ पृष्ठ खंडित हैं तथा बहुत से बुरी तरह कटे-टूटे हैं, फिर भी शेष पुस्तक बहुत अच्छी दशा में है।

दर्शकों की संख्या साधारणः अच्छी रही। विशिष्ट दर्शकों में मेजर डाक्टर रणजीतसिंह, श्री दुर्गाप्रसाद (असिस्टेंट कलेक्टर, बनारस), श्री सच्चिदानंद सिनहा (वाइसचांसलर पटना विश्वविद्यालय), श्री अब्दुलगनी अंसारी (कमिश्नर, इनकमटैक्स, युक्तप्रांत), डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद, श्री काका कालेलकर, डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या तथा श्री अर्धेंदुकुमार गांगुली के नाम उल्लेखनीय हैं।

साहित्य तथा कला-प्रदर्शनी—सम्मेलन के अवसर पर कला-भवन ने कला-कृतियों तथा साहित्यिकों की लिपियों आदि का बहुत सुंदर प्रदर्शन किया था। इस प्रदर्शनी में श्री बालकृष्णदास, श्रीमती शिवरानी प्रेमचंद, श्री पद्माकर द्विवेदी, राजा सत्यानंदप्रसाद सिंह, श्री शिवप्रसाद गुप्त, श्री राधेकृष्णदास, श्री राय कृष्णदास, श्री शंभुनारायण चतुर्वेदी तथा राय बहादुर पं० ब्रजमोहन व्यास (प्रयाग) ने प्रशंसनीय सहयोग दिया था।

श्री मुरारीलाल केडिया के दान से बनवाए हुए श्री काशीदेई चंडीप्रसाद मूर्ति-मंदिर का उद्घाटन ता० १८ अक्तूबर १९३९ को प्रयाग म्युनिसिपल संग्रहालय के संस्थापक रायबहादुर पं० ब्रजमोहन व्यास द्वारा बड़े समारोह के साथ हुआ।

हिंदी संकेत-लिपि-विद्यालय

सभा के द्वारा आयोजित अखिल भारतीय हिंदी संकेत-लिपि-प्रतियोगिता २८वें हिंदी साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर ता० १५ और १६ अक्तूबर १९३९ को सर्वश्री राधाकृष्ण तिवारी, प्रयाग, साँवलजी नागर और सच्चिदानंद भारतीय, एम० ए० के निरीक्षण में हुई। इसी अवसर पर विद्यालय की वार्षिक परीक्षा भी हुई। निम्नलिखित विद्यार्थियों ने पुरस्कार तथा उपाधियाँ प्राप्त कीं—

१. श्री बालकृष्ण शर्मा—प्रथम पुरस्कार तथा 'हिंदी संकेत-लिपि-रत्न' की उपाधि।

२. श्री महावीरप्रसाद—द्वितीय पुरस्कार तथा 'हिंदी संकेत-लिपि-रत्न' की उपाधि।

३. श्री दूधनाथ सिंह—'हिंदी संकेत-लिपि-रत्न' की उपाधि।

४. श्री रामदुलारे सिंह—हिंदी संकेत-लिपि-रत्न' की उपाधि।

५. श्री गिरिजाशंकर बरनवाल—प्रथम पुरस्कार तथा 'हिंदी संकेत-लिपि-कोविद' की उपाधि।

६. श्री बालकृष्ण दवे—'हिंदी संकेत-लिपि-कोविद' की उपाधि।

७. श्री रामाधारसिंह—'हिंदी संकेत-लिपि-कोविद' की उपाधि।

गत साहित्य-सम्मेलन में यहाँ के विद्यार्थियों ने संवाददाता का कार्य अपने ऊपर लिया था और उसे उन्होंने सफलतापूर्वक किया। कितने ही वक्ताओं ने उनकी प्रशंसा की है।

सरकारी गुप्तचर विभाग में अभी तक उर्दू संकेत लिपिवालों को ही स्थान दिया जाता था किंतु इस बार इस विद्यालय का एक विद्यार्थी इस विभाग में संवाददाता नियुक्त हुआ है।

इस समय विद्यालय में तीस विद्यार्थी शिक्षा पा रहे हैं, जिनमें कई विद्यार्थी विदेशी रियासतों से आए हैं। स्थानाभाव के कारण कितने ही विद्यार्थियों को विमुख करना पड़ता है जिसके लिये सभा को हार्दिक दुःख है।

प्रकाशन तथा पुस्तक विक्रय विभाग

सभा ने पुस्तकों की बिक्री बढ़ाने के लिये एक वैतनिक एजेंट नियुक्त किया था। एजेंट ने इस बार युक्त प्रांत के विभिन्न जिलों में यात्रा की और पुस्तकों का प्रचार और विक्रय किया। सम्मेलन के अवसर पर भी सभा की पुस्तकों की एक अलग दूकान रखी गई थी और उसमें भी सफलता हुई। पर प्रकाशन विभाग की आर्थिक कठिनाइयों के कारण सभा को जैसा लाभ होना चाहिए था वैसा न हो सका।

प्रकाशन—'हिंदी-साहित्य का इतिहास' छपकर प्रायः तैयार है। इस नवीन संस्करण में लेखक ने बहुत से परिवर्तन और परिवर्धन किए हैं जिससे ग्रंथ अधिक उपादेय हो गया है। 'संक्षिप्त हिंदी शब्द-सागर' का नवीन संस्करण जनवरी में छपकर तैयार हो जायगा। वर्ष के आरंभ से जो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं वे ये हैं—कबीर-वचनावली

(नवीन संस्करण), कचहरी की भाषा और लिपि, बिहार में हिंदुस्तानी, राष्ट्र-भाषा का प्रश्न, बाल मनोविज्ञान, हिंदुस्तानी का उद्गम। बाला-बख्श राजपूत चारण-पुस्तकमाला में रघुनाथरूपक प्राय: छपकर तैयार है। देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला में मध्यप्रदेश का इतिहास छपकर तैयार है।

श्री वीरेंद्र-केशव-साहित्यपरिषद् ओड़छा से प्रकाशन के लिये जो धन प्राप्त हुआ था उससे देव-पुरस्कार ग्रंथावली का प्रकाशन किया जा रहा है। इसमें दो बहुत उच्च कोटि की पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं—भारतीय मूर्तिकला और भारत की चित्र-कला।

अर्थ विभाग

सभा अपने ऋण को चुकता करने और अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने का बराबर प्रयत्न कर रही है और संतोष की बात है कि उदार हिंदी-हितैषी महानुभाव यथाशक्ति सभा की सहायता कर रहे हैं। २२ श्रावण के बाद जिन सज्जनों ने सभा को दान दिया है उनकी नामावली इसी अंक में अन्यत्र प्रकाशित की जा रही है। सभा उन सभी सज्जनों को धन्यवाद देती है।

सभा की प्रबंध-समिति ने सभा के सभापति पं० रामनारायण मिश्र को अधिकार दिया है कि वे इस बार एक प्रतिनिधि-मंडल पंजाब ले जायँ। पंजाब के कई सभासदों ने इस प्रतिनिधि-मंडल की सहायता करने का आश्वासन दिया है। आशा है इससे सफलता अवश्य होगी।

श्री "कौतुक"जी द्वारा प्रदत्त भेट

काशी-निवासी श्रीबिहारीलाल विश्वकर्मा "कौतुक" ने हिंदी काव्य-प्रेमियों और भगवद्भक्तों को भेट देने के लिये अपने सरस काव्य "श्री कौशलेंद्र-कौतुक" की १०० प्रतियाँ काशी नागरीप्रचारिणी सभा को प्रदान की थीं। सभा ने सहर्ष उनके इस दान का सदुपयोग किया और गत २८वें हिंदी साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर वे प्रतियाँ सुयोग्य और अधिकारी विद्वानों तथा रामभक्तों को भेट की गईं।

श्री "कौतुक"जी कुशल शिल्पी, सुयोग्य संगीतज्ञ और सरल-हृदय भगवद्भक्त तो हैं ही, साथ ही वे बड़े सहृदय कवि भी हैं। बचपन से ही उन्हें सत्संग और कविता से बड़ा प्रेम है और उन्होंने अपने अवकाश का सदुपयोग गो० तुलसीदासजी की रचनाओं के पठन-पाठन में किया है। इस वृद्धावस्था में अपने ४० वर्ष के अध्यवसाय और चिंतन का सार उक्त "श्रीकौशलेंद्र कौतुक" के रूप में उन्होंने हिंदी साहित्य को भेंट किया है। इसकी कविता अत्यंत मनोहर है। विश्वास है, काव्यप्रेमी भगवद्भक्त इसके रस से परितृप्त होंगे।

सभासदों से प्रार्थना

सभा में नागरी-प्रचारिणी पत्रिका के पुराने संस्करण के कुछ भागों की आवश्यकता है। जिन सभासदों के पास निम्नलिखित भाग हों वे उन्हें सभा को प्रदान कर सकें तो बड़ी कृपा हो—

भाग १ — सन् १८९७ ई०
" २ — " १८९८ ई०
" ६ — " १९०२ ई०
" ७ — " १९०३ ई०
" १४ — " १९०९—१० ई०
" १५ — " १९१०—११ ई०
" १६ — " १९१२ ई०
" २४ — संवत् १९७६ वि०

रामबहोरी शुक्ल,
प्रधान-मंत्री।

---

३१ श्रावण से ६ मार्गशीर्ष तक २५) या अधिक दान देने-वाले सज्जनों की नामावली

प्राप्ति-तिथि	दाता	प्राप्त-धन	प्रयोजन
३१ श्रावण ९६	श्रीमती कुसुमकुमारी शाह, लखनऊ	१००)	कलाभवन
५ भाद्र ,,	श्री० कुँवर तेजसिंह मेहता, उदयपुर	१००)	स्थायी कोष
,, ,, ,,	श्री० मुरारीलाल केडिया, काशी	५०)	भवन-निर्माण
५ आश्विन ,,	,, ,, ,,	५०)	,, ,,
६ मार्गशीर्ष ,,	,, ,, ,,	२५)	श्रीरामप्रसाद-समादर कोष
१४ भाद्र ,,	श्री० हरिहरनाथ टंडन एम० ए०, आगरा	१००)	स्थायी कोष
२० ,, ,,	श्री० विष्णुदत्त वासिल, कलकत्ता	१००)	,, ,,
२६ ,, ,,	श्री० छोटेलाल गयाप्रसाद ट्रस्ट, कानपुर	३६)	साधारण व्यय
६ आश्विन ,,	श्री० शिवप्रसाद गुप्त, काशी	२५)	कलाभवन
१८ ,, ,,	श्री० हनुमानप्रसाद पोद्दार, गोरखपुर	१०१)	कलाभवन

२३ आश्विन ९६	श्री० त्रिभुवनप्रसाद शिवगोविंद, छपरा	१००)	स्थायी कोष
२६ ,, ,,	श्रीमती सौदामिनीदेवी, रामहाट (बंगाल)	२५)	कलाभवन
२७ ,, ,,	श्री० गोविंद मालवीय, एम० ए०, एल्-एल० बी०, काशी	१००)	स्थायी कोष
१३ कार्त्तिक ९६	श्री० घीसूलाल एडवोकेट ,, अजमेर	१००)	,, ,,
९ मार्ग० ९६	श्री० श्रीप्रकाशजी, काशी	२५)	श्रीरामप्रसाद-समादर कोष
,, ,,	श्री० किशोरीरमणप्रसादजी, काशी	२५)	,, ,,
,, ,,	श्री० व्रजमोहन केजरीवाल, काशी	२५)	,, ,,

नोट—जो सज्जन किश्त से चंदा देते हैं उनका नाम पूरा चंदा प्राप्त हो जाने पर प्रकाशित किया जायगा।
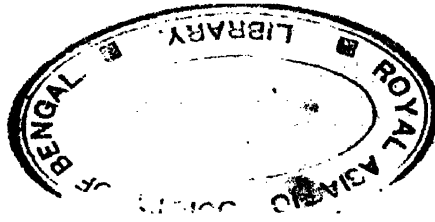
नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ४४-संवत् १९९६ [नवीन संस्करण] भाग २०-अंक ४

प्राचीन हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की खोज का पंद्रहवाँ त्रैवार्षिक विवरण

(सन् १९३२-३४ ई०)

[लेखक—डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, एम० ए०, एल्-एल० बी०, डी० लिट्०]

इस त्रिवर्षी (सन् १९३२, ३३ और ३४ ई०) में खोज का कार्य मैनपुरी, एटा, आगरा, हरदोई (अवध), अलीगढ़ तथा मथुरा के जिलों में हुआ। पं० बाबूराम बित्थरिया, पं० छोटेलाल और पं० लक्ष्मीनारायण त्रिवेदी ने अन्वेषण का कार्य किया। पं० छोटेलाल सन् १९३२ ई० में कुछ समय कार्य करने के बाद खोज विभाग से अलग हो गए।

इस अवधि में १९०५ हस्तलिखित ग्रंथों के विवरण प्राप्त हुए जो इन तीन वर्षों में इस प्रकार विभक्त हैं :—

सन् ईसवी	विवरण लिए हुए हस्तलिखित ग्रंथों की संख्या
१९३२ ,,	८६३
१९३३ ,,	५२८
१९३४ ,,	५१४

इस प्रकार ४७६ ग्रंथकारों द्वारा रचित १०१६ ग्रंथों की १३९४ प्रतियों के विवरण लिए गए हैं। इनके अतिरिक्त ५११ ग्रंथों के रचयिता अज्ञात हैं। २३१ ग्रंथकारों के रचे हुए ४०१ ग्रंथ खोज में बिलकुल नवीन हैं। इनमें १७६ ऐसे नवीन ग्रंथ सम्मिलित हैं जिनके रचयिता तो ज्ञात थे किंतु उनके इन ग्रंथों का पता नहीं था।

नीचे सारिणी द्वारा ग्रंथों और उनके रचयिताओं का शताब्दिक्रम दिखाया जाता है।

शताब्दि	१२वीं	१३वीं	१४वीं	१५वीं	१६वीं	१७वीं	१८वीं	१९वीं	अज्ञात एवं संदिग्ध	योग
ग्रंथकार	१	०	१	८	५१	६६	९८	८३	१६८	४७६
ग्रंथ	४	०	२	५३	३१९	२२८	३२९	१९७	७७३	१९०५

ग्रंथों का विषयानुसार विभाग नीचे दिया जाता है।

१—धार्मिक २७५
२—सांप्रदायिक १७५
३—प्रार्थना ७९
४—भक्ति १३२
५—दर्शन ४०
६—पौराणिक काव्य १०७
७—संत काव्य ४६
८—प्रबंध-काव्य ५७
९—संग्रह १६४
१०—जीवन-चरित्र ७२
११—शृंगारी काव्य १६४
१२—अलंकार ४३
१३—पिंगल १५
१४—पहेली ७
१५—कोष १७
१६—कहावत ४
१७—तर्क ३
१८—पत्रप्रबंध १
१९—ग्राम्य काव्य ४६
२०—टीका ३७
२१—नाटक ११
२२—व्याकरण ३
२३—भूगोल २
२४—इतिहास १२
२५—मृगया २
२६—मनोरंजन [illegible]

२७—संगीत	६	३४—वनस्पति-शास्त्र	३
२८—गणित	६	३५—पाक-शास्त्र	१
२९—ज्योतिष	१४५	३६—पशु-चिकित्सा	६
३०—वैद्यक	८६	३७—सामुद्रिक और शकुन	१५
३१—रसायन	८	३८—उपदेश	४३
३२—काम-शास्त्र	२३	३९—विविध	११
३३—मंत्र-तंत्र	२६		

नवीन लेखकों में से जनराज वैश्य, जनखुस्याल (कायस्थ), मानिक कवि और सेवादास मुख्य हैं।

जनराज वैश्य और उनका ग्रंथ 'कवितारस-विनोद' इस खोज में सर्वप्रथम प्रकाश में आ रहे हैं। इन्होंने इस ग्रंथ की रचना संवत् १८३३ वि०, तदनुसार १७७६ ई०, में की।

"अठारह सै तेंतिस, सुभ संवत जेष्ठ सुमास बषानौ।
सेत सुपक्ष तिथि दसमी अरु वार महावर भौम सु जानौ ॥"

अर्थात् ग्रंथ का रचनाकाल मि० ज्येष्ठ शुक्ला दशमी भौमवार सं० १८३३ वि० (१७७६ ई०) है, और उसका लिपिकाल मिती मार्गशीर्ष कृष्णा १२ सं० १९०९ वि० (१८५२ ई०) है। वार का उल्लेख नहीं हुआ है। ग्रंथ काफी बड़ा है। इसमें पिंगल, काव्यगुणदोष, नवरस, नायिकाभेद और चित्रालंकार का वर्णन किया गया है। अंत में राजवंशादि का भी परिचय दे दिया है। ग्रंथकार के आश्रयदाता जयपुराधीश पृथ्वीसिंह थे और पूर्वज 'गढ़वीर' नामक ग्राम के अधिवासी थे। गलता के रहनेवाले कोई आचारज (आचार्य्य) इनके गुरु थे—जिन्होंने इनके वास्तविक नाम डेडराज को बदलकर जनराज कर दिया—

"तब उन मोसों यों कही, भोग में (?) कवित्त में देइ (?)।
नाम धरयो जनराज तब, श्रीमुष ते कर नेह ॥"

अपने आश्रयदाता का वर्णन कवि ने यों किया है—

"करै सु जैपुर नग्र में, प्रथीसिंघ व [र] राज।
तिनको प्रगट्यो जगत में, ऐसो तेज समान (? ज) ॥"

और अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

"अब मैं अपने कुल कहौं, उपज्यो तिन में आनि।
अगरवाले वैस हैं, सिंगल गोत बषान॥
गढ़वारे इक ग्राम में, वासी आदि सुजान।
हिरानन्द तिनके भए, कृपाराम सुखदान॥
दयाराम तिनके सुवन, आए जैपुर ग्राम।
तिनके हौं मतिमंद भौ, डेडराज मो नाम॥"

इससे विदित होता है कि ग्रंथकार गढ़वारे के रहनेवाले (सिंघल) सिंगल गोत्रज अग्रवाल वैश्य थे। इनके पिता का नाम दयाराम, पितामह का कृपाराम तथा परपितामह का हीरानंद था। दयाराम, जो इनके पिता थे, अपना गाँव छोड़ जयपुर में आकर बस गए थे।

जनखुस्याल (कायस्थ) का रचा हुआ "विपिन-विनोद" नामक ग्रंथ इस विवरण में सर्वप्रथम प्रकाश में आ रहा है। उक्त नाम का ग्रंथ शार्ङ्गधर ने संस्कृत में रचा था। जनखुस्याल ने संवत् १८९२ वि० में इसका अनुवाद किया। दौलतराव महाराज के पुत्र जनकराव भूपाल के लिये इस ग्रंथ की रचना हुई थी। यह दौलतराव कौन थे? कहाँ के राजा थे? इसका कवि ने कुछ वर्णन नहीं किया। इस प्रति में इस ग्रंथ के तीन नाम, विपिन-विनोद, बागविहार और जनकविलास दिए हैं। दो नाम तो नीचे अवतरण में दिए गए हैं और तीसरे नाम "बागविहार" से ग्रंथ आरंभ हुआ है—"अथ बागविहार लिष्यते"—

"गुरु गोविंद गंगा सुमिरि, गणपति गौरि मनाइ।
पोथी **विपिन-विनोद** की, भाषा करौं बनाइ॥
सारँगधर कृत संस्कृत, समुझि न आवत चित्त।
जनखुस्याल भाषा करी, दोस न दीजो मित्त॥
महाराज + + + , (श्री) **दौलतराव** नरेस।
जिनके गुनगन की कथा, बरन सके नहिं सेस॥
तिनके सुत महाराज श्री, **जनकराव** भूपाल।

तिन कारन भाषा करी, सादर सदा दयाल ॥
या पोथी को नाम अब, राख्यो **जनकविलास**।
पढ़त सुनत सुख ऊपजै, हिय को होय हुलास ॥
संवत् दस अरु आठ सै, नौवे ऊपर दोइ।
माघ मास तिथि चौथि सुदी, भाषा कीनी सोइ ॥"

दौलतराव के नाम के पहले कुछ अक्षर छूट जाने से यह संदेह होता है कि संभवतया उनमें उक्त राजा के स्थान का नाम दिया रहा होगा। "बागविलास" अथवा "दौलत बागविलास" नाम का एक ग्रंथ शिव कवि ने भी लिखा है (दे० खो० रि० सन् १९०६-०८ संख्या २३६)। इस प्रति के विवरण उपलब्ध नहीं हैं, केवल विवरण-पत्र के प्रारंभिक कोष्ठ भरे गए हैं, उनमें उसका रचनाकाल नहीं दिया है। ग्वालियर-नरेश दौलतराव सेंधिया का समय विवरण के अनुसार सं० १८५१-१८८४ वि० (१७९४-१८२७ ई०) माना गया है, और शिव कवि का सं० १८५७ वि० (१८०० ई०) के लगभग माना गया है। प्रस्तुत ग्रंथ सं० १८९२ (१८३५ ई०) में बना है जो महाराज दौलतराव के राजत्वकाल की समाप्ति से ८ वर्ष उपरांत पड़ता है। हो सकता है कि यह ग्रंथ दौलतराव सेंधिया के ही पुत्र के लिये लिखा गया हो। ग्रंथकार ने अपना परिचय निम्नांकित दोहों में दिया है—

"भुजपुर देस आरा सहर, सूबा नगर बिहार।
दफ्तर भलुईपुर के, कानुनगोइ विचार ॥
श्रीवास्तव कायस्थ कुल, कहियत नाम खुस्याल।
ब्रज कौं आयो जानिके, सरन लाड़िलीलाल ॥"

इससे ज्ञात होता है कि भोजपुरांतर्गत आरा शहर (सूबा बिहार) के वह निवासी थे और भलुईपुर के दफ्तर में कानूनगो थे, जाति के श्रीवास्तव कायस्थ थे और अंत में ब्रज में आकर लाड़िलीलाल (श्रीकृष्ण) की शरण में रहने लगे थे।

मानिक कवि ने बैतालपचीसी नामक ग्रंथ संस्कृत से अनुवाद कर "बैतालपचीसी" की रचना की। इस ग्रंथ का यह बहुत पुराना

अनुवाद है। खोज में यह ग्रंथ सर्वप्रथम प्रकाश में आया है। इसका रचनाकाल वि० सं० १५४६ (१४८९ ई०) है और लिपिकाल वि० सं० १७६३ (१७०६ ई०) है।

संवत् पंद्रह सै तिहि काल। ओरु बरस आगरी छियाल॥
निर्मल पाष अगहनु मास। हिम रितु कुंभ चंद्र को बास॥
आठे थोसु बार तिहि भानु। कवि भाषै बैताल पुरानु॥

लेखक जाति का कायस्थ और अयोध्या का रहनेवाला था। स्वयं कवि के शब्दों में—

"काइथ जाति अजुध्या बासु। अमऊ नाऊ कविन को दास॥
[कथा पचीस कही बैताल। पहोंच्यो जाइ भीव के पताल॥]
ताके बंस पाँचई साष। आदि कथन सो मानिक भाष॥
ता मानिक सुत सुत को नंदु। कवितावंत गुननि को बंदु॥"

अंतिम पंक्ति का अर्थ समझ में नहीं आता। मानुसिंघ शायद ग्वालियर के तत्कालीन राजा का नाम है। उसका कथन है कि उन्होंने यह ग्रंथ गढ़ग्वालीय (ग्वालियर?) में सँघई षेमल के कहने से बनाया था।

"गढ़ ग्वालीय कथानु अति भलौ। **मानुसिंघ** तौ बरु आ वलौ (?)॥
सघई षेमल वीरा लीयो। मानिक कवि कर जोरें दीयो॥
मोहि सुना बहु कथा अनूप। ज्यों बैताल किए बहु रूप॥

विवरण लेनेवाले अन्वेषक का कथन है कि ग्रंथ बहुत अशुद्ध लिखा हुआ है। अतएव पढ़ने में कठिनता होती है।

सेवादास नाम के कई कवि पिछली रिपोर्टों में भी आ चुके हैं (दे० रि० सन् १९०६–०८ ई० सं० ३२७; सन् १९२३–२५ ई० सं० ३८०, ३८१ और ३८२; और सन् १९२६–२८ ई० सं० ४३३)। परंतु यह उन सबसे भिन्न, नवीन कवि है। इस रिपोर्ट में उनके रचे— १ अलबेलेलाल जू के छप्पय, २ अलंकार, ३ नखशिख और ४ रसदर्पन— यह चार ग्रंथ पहली बार विवरण में आए हैं। सभी ग्रंथ प्राय: एक ही साल (सं० १८४० = १७८३ ई०) के रचे और एक ही साल (सं० १८४५ = १७८८ ई०) के लिखे हुए हैं। दूसरा ग्रंथ अपूर्ण है। ग्रंथों का विषय

उनके नाम से ही प्रकट है। कवि ने इनमें से किसी में भी अपना परिचय नहीं दिया है। नीचे उनकी कविता के कुछ नमूने दिए जाते हैं:—

सौनों सो प्रकास कैधौं उदित दिवाकर की,
किरनै उजास तास राजति वेले के।
मानिक पयूष कैधों मंगल सरूप रूप,
छाजत अनूप कै पलास फूल भेले के॥
ताम रसरूप इंद्रवधु के बरन देखो,
सेवादास ध्यान धरि सुंदर नवेले के।
कोमल अमल लाल पल्लव रसाल जाल,
छविन के ताल ताल चरन अलवेले के॥
—नखशिख।

सरस सलौनो गात मौतिन की माल जाल,
अंग अंग सने सो सुंदर आभरन है।
झलमलात छटा सो राजत अनूप रूप,
उदित प्रकाश मानो भोर के तरन है॥
नैन रतनारे बंक भृकुटी मनोहर हैं,
उज्ज्वल मुखारविंद हेम सो बरन है।
सेवादास सुष के निधान मन ध्यान धरि,
अलवेले लाल सब सिद्धि के करन है॥
—रसदर्पण

ज्ञात लेखकों में से अकबर (बादशाह), अखैराम, उजियारेलाल, उदय, गंग, गोकुलनाथ, बैजू, बोधा, मान या खुमान, लक्षोदय या लालचंद, वृंदावनहित, सुरति मिश्र और हरिराय आदि की कुछ नई रचनाएँ प्रकाश में आई हैं। उनमें से जो महत्त्वपूर्ण हैं उनका उल्लेख यहाँ किया जाता है।

अकबर (बादशाह) ने साहित्य का बहुत हित किया। वह अनेक कवियों का आश्रयदाता था। गंग, तानसेन, बाबा और नरहरि आदि हिंदी भाषा के कवियों की सजीव कविताएँ उसी के आश्रय में

बनीं। वीरबल, टोडरमल और रहीम जैसे हिंदी के कवि उसके मंत्री और पदाधिकारी थे। यही नहीं, वह स्वयं भी कवि था। उसके इन्हीं गुणों पर रीझ कर भगवतरसिक ने अपने ग्रंथ 'निश्चयात्मक उत्तरार्द्ध' में उसे १२६ भक्तों की सूची में रखा है (दे० रि० १९०० ई० सं० ३२)। इस शोध में अकबर की कविताओं के एक छोटे से संग्रह का विवरण प्राप्त हुआ है। इस संग्रह की कुछ कविताओं में ऐतिहासिक तथ्य भी है। उनका एक दोहा है:—

"पीपल से मजलिस गई, तानसेन से राग।
हँसबो रमबो खेलबो, गयो वीरबल साथ॥"

पीपल, बीकानेर के राजा रामसिंह के छोटे भाई थे; अकबर ने इन्हें गागरोन का इलाका जागीर में दिया था। यह दोहा अकबर के उस मनस्ताप का द्योतक है जो उसे 'पीपल', 'तानसेन' और 'वीरबल' के निधन के कारण हुआ था।

अकबर को यश की बड़ी लालसा थी। वह यशस्वी व्यक्ति का ही जीवन सफल समझता था। इस संग्रह का सर्वप्रथम दोहा इसी भाव को प्रदर्शित करता है :—

"जाको जस है जगत में, जगत सराहै जाहि।
ताको जीवन सफल है, कहत अकब्बर साहि॥"

अकबर की रचना में लालित्य और भाव-सौंदर्य के साथ ही ऊँचे दर्जे की सूझ भी है। इस संग्रह में उनके प्रसिद्ध और प्रचलित सवैए—"शाह अकब्बर बाल की बाँह⋯⋯बिछोह परै मृगछौने"—के अतिरिक्त और भी अच्छे अच्छे सवैए हैं :—

"केलि करैं विपरीत रमैं सुअकब्बर क्यों न हतो (?हियो) सुख पावै।
कामिनि की कटि किंकिन कान किधौं गनि पीतम के गुन गावै॥
बिंदु छुटी मन में सुललाट ते यों लट में लटको लगि आवै।
साहि मनोज मनौं चित में छबि चंद लिये चकडोर खिलावै॥"
"साहि अकब्बर एक समै चले कान्ह विनोद विलोकन बालहिं।
आहट ते अबला निरख्यो चकि चौंकि चली करि आतुर चालहिं॥

त्यौं बलि बैनी सुधारि धरी सुभई छबि यों ललना अरु लालहिं।
चंपक चारु कमान चढ़ावत काम ज्यों हाथ लिये अहिबालहिं ॥"

अषैराम पहले फुटकर कविता के रचयिता के रूप में प्रकाश में आए थे। इसके पश्चात् उनका हस्तामलक वेदांत नामक सुंदर ग्रंथ उपलब्ध हुआ (दे० रि० १९१७-१९ ई० सं० ४), किंतु उनके परिचय के संबंध में जिज्ञासा बनी ही रही। केवल, "बुंदेलखंडी जान पड़ते हैं" इतना ही अनुमान लगाकर संतोष करना पड़ा। अब प्रस्तुत खोज ने हमारी जिज्ञासा की पूर्ति कर दी है। उनका एक ग्रंथ "विक्रम-बत्तीसी" मिला है, जो उनकी जीवनी पर प्रकाश डालता है, उनका कविता-काल स्पष्ट करता है और उनके आश्रयदाता का परिचय देता है:—

"अठार से बारे गिनो, संवतसर घनसूर।
श्रावण वदि की तीज को, ग्रंथ कियो परिपूर॥"
भूतनगर जमुना निकट, मथुरामंडल माँझ।
तहाँ भए **भीषम** जु कवि, कृष्ण-भक्ति दिन साँझ॥
ताके **मिश्र मलूक** पुनि, अति सुंदर सब अंग।
खोजत वेद पुरान में, कियो नहीं चित भंग॥
तिहि घर **गोविंद मिश्रजू**, परसराम सम तेज।
तेज त्याग अनुराग में, नवहिं सदा मद तेज॥
दामोदर ताके प्रगट, जोतिष अधिक प्रवीन।
नवत रहैं नित छत्रपति, विविध सुखासन दीन॥
तिहि घर **नाथूरामजू,** प्रगटे दीनदयाल।
जाचक जन सब देस के, धन दे किए निहाल॥
मिश्र **जगतमनि** अवतरे, तिहि घर अधिक प्रवीन।
ब्रजमंडल विख्यात जस, विद्याभूषण कीन॥
अषैराम ताके भए—सहस्र (?स) कविनु अनुसार।
जो कछु चूको होय सो लीजो ग्रंथ सुधार॥

इससे एक बात तो यह स्पष्ट हो गई कि वह बुंदेलखंडी न होकर ब्रजवासी थे, दूसरे वह एक ऐसे घराने में उत्पन्न हुए थे, जो विद्या, बुद्धि,

पराक्रम और वैभव में पहले से ही चढ़ा बढ़ा चला आता था। उसमें बड़े यशस्वी, दानी और उदार व्यक्तियों ने जन्म लिया था। राजा महाराजाओं में इनका मान था। संभवतः इनके पूर्वपुरुष भीष्म थे, जिनका परिचय सुप्रसिद्ध संस्कृत ग्रंथ श्रीमद्भागवत के अनुवादक के रूप में हिंदी-संसार पहले ही पा चुका है (देखो रि० १६१७-१६ ई०, सं० २५) तथा मिश्र-बंधु-विनोद के नं० ३५६ पर भी इनका वर्णन है। सरोजकार एक का जन्मकाल सं० १६८१ (१६२४ ई०) और दूसरे का सं० १७०८ (१६५१ ई०) मानकर दो भीष्म मानता है किंतु विनोदकार, इन दोनों को अभिन्न मानकर उनका कविता-काल सं० १७१० वि० (१६५३ ई०) मानते हैं। विक्रम-बत्तीसी या सिंहासन-बत्तीसी में अखैराम ने भरतपुर-नरेश सुजानसिंह को अपना आश्रयदाता बताया है। उन्हीं के लिये उन्होंने इस ग्रंथ का संस्कृत से हिंदी पद्य में अनुवाद किया था :—

"बदनेस श्रीजदुबंस भूपति सकलगुणनिधि जानिए।
तिहि अरिन के बल खंड कीए, कृष्ण-भक्ति बखानिए ॥
तिहि सुवन लाल सुजानसिंघ, विलास कीरति छाइयो।
कवि **अखैराम** सनेह सो पुतरी सिंघासन गाइयो ॥"

इसके अतिरिक्त इनके रचे दो ग्रंथ 'स्वरोदय' और 'वृंदावनसत' भी इसी शोध में प्राप्त हुए हैं। हस्तामलक वेदांत और प्रस्तुत रिपोर्ट में आए विवरणों की रचना-शैली भी प्रायः मिलती है। अतएव, उनका एक दूसरे से अभिन्न मानना अनुचित नहीं है :—

(१) 'हस्तामलक वेदांत' का उदाहरण—

"को हौ जू कहाँ ते आए जाउगे कहाँ कूँ तुम,
सिष्य कौन के हौ हमैं नाम कहि दीजियै।
प्रीति के बढ़ाइबे कौं प्रगट बताय दीजै,
जाति कुल आश्रम वरण भेद कीजियै ॥
सुर हौ क नर हौ क नाग हौ क जच्छ हौ क,
रच्छ हौ पिसाच हौ क अच्छ भाव भीजियै।

अषैराम दीसत हौ बालक सं साँची कहौ,
छिमा उर गहौ बात बूझत न षीजियै ॥"

(२) 'स्वरोदय' से—

"सकल गुण-सागर उजागर जगत माहिं
नरन माहिं नागर अगम अभिलाषा है।
तीन्यों काल एक जाके भेष है अनेक औनि,
कहत अलेष जासों द्वीत जग नाषा है॥
अनहद आठों जाम घनघोर जामें
निराकार जीव माया जाके साषा है।
ऐसें अभिराम को प्रणाम करि हिये माहिं,
अषैराम गावत स्वरोदय की भाषा है॥"

'विक्रमबत्तीसी' से—

"मीठो तान गावै औ बजावै केते बाजिन को,
नाचि के रिझावै पेले नट की कलान में।
ग्रंथन को लिखे अरु वस्त बड़ो काढ़िबे को,
फलन विकार धोवे बुद्धि की छलान में।
फूलन बिछावै अंग अंबर बनावै तन,
सोधे लै लगावै हेम रचना चलान में।
सेज चुनि जाने औ सुकाय कें भिंजाय जाने,
चित्र लिषि लावै सबै छवि की छजान में॥"

'वृंदावनसत्त' से—

"जहाँ काल की गमि नहीं, रवि ससि सकै न जाय।
अग्नि प्रवेश करै नहीं, ऐसो देश बताय॥

× × ×

अनहद बाजे बजै तहाँ हीं, सदा बसंत वृंदावन माहिं॥
जो कोई ध्यान धरै चित लाई। श्रीवृंदावन भूमि को जाई॥
पिय प्यारी को धाम है, वृंदावन निजधाम।
अषैराम तब पाइयौ, सुमिरै राधानाम॥"

उजियारेलाल का सं० १८३७ (१७८० ई०) का रचा और सं० १८९६ वि० (१८३९ ई०) का लिखा हुआ "जुगलप्रकाश" नामक ग्रंथ नवीन प्राप्त हुआ है। इसमें रस आदि का वर्णन है। इन्होंने ग्रंथ में अपना परिचय इस प्रकार दिया है---

"महा गुनाढ्य सनाढ्य कुल, तहाँ धनाढ्य अपार।
मही महँ **मूरोतिया**—भागीरथी उदार॥
नन्दलाल तिनके तनय, **नवलसाह** सुअ तास।
तिन सुत **उजियारे** कियो, यह **रस जुगलप्रकास॥**
व्यास बंस अवतंस हुअ **घासीराम** प्रकास।
तिन सुत सुत संबंध कवि, किय वृंदावन बास॥"

इससे विदित होता है कि ग्रंथकार 'मूरोतिया' अल्ल के सनाढ्य ब्राह्मण, नवलसाह के पुत्र, नंदलाल के पैात्र और भागीरथी के प्रपैात्र थे और पहले अन्य किसी गाँव [संभवतः मही (मई-मथुरा ?)] में रहते थे और घासीराम व्यास के किसी पैात्र के संबंध से वृंदावन आकर निवास करने लगे थे।

रचनाकाल—

"संवत् अष्टादश सतक, बीते अरु तंतीस।
चैत वदी सातैं डंवौ (?), भयो ग्रंथ बकसीस॥"

ऐसा ज्ञात होता है कि 'डंवौ' किसी दिन का नाम होगा, जो ठीक पढ़ने में नहीं आया। बहुत संभव है, यहाँ भुवौ या बुधौ पाठ हो।

इसी नाम का एक लेखक जिसने 'गंगालहरी' का निर्माण किया पिछली रिपोर्ट में आ चुका है (दे० रि० १९१७-१९ ई०, सं० १९९)। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि ये दोनों एक ही हैं।

प्रस्तुत लेखक की कविता का नमूना यहाँ दिया जाता है :—

"वदन गयंद एक रदन अमंद सोभा,
सुष को सदन चंद भालबाल सोहियैं।
रतन किरीट सीस नाग उपवीत उर,
च्यारि भुज आयुध है सालंकार जोहियैं।

विद्या वेद ग्याता महा बुद्धिवर दाता,
षट आनन के भ्राता जान कुंदर अरोहियै।
संभु के दुलारे उजियारे बारे गौरीजू के,
मोहियै प्रकास करौ जाते मन मोहियैं॥"

एक कवित्त कवियों के संबंध में लिखते हैं:—

कवि हैं सुजस के जिहाज भवसागर मैं,
आगर अनूप भूप नाग रस गावै हैं।
उजियारे मेटिन कौं छोटे करैं ओटे जानि,
मोटे करैं छोटे जे अगोटे समुझावै हैं।
दीवै जौन होइ तऊ दीवै कछू थोरो घनौं,
कीवैं सनमान दान मान अधिकावै हैं।
पान सुलतान राजारान मैं बषान चलैं,
भलैं कहि आवैं उनैं भले कहि आवै हैं।

उदय कवि सुप्रसिद्ध दूल्हा कवि के पिता उदयनाथ से भिन्न हैं (दे० रि० १९०५, सं० ३ और रि० १९०६-०८, सं० २४६)। इसके बनाए हुए १४ ग्रंथों की १६ प्रतियाँ प्रस्तुत खोज में पहली ही बार उपलब्ध हुई हैं जिनके नाम—(१) अघासुर-मारन-लीला, (२) चीर-चिंतामणि, (३) दानलीला, (४) गिरवर-धारन लीला, (५) गिर-वर विलास, (६) जोगलीला (७) जुगलगीत, (८) कृष्णपचीसी, (९) मोहिनी माला, (१०) रामकरुणा, (११) सुमिरणमंगल, (१२) सुमिरणशृंगार, (१३) श्याम-सगाई तथा (१४) वंशी-विलास हैं। इनमें से नं० १० की ३ प्रतियाँ मिली हैं जिनमें से एक सन् १८२९ ई० की लिखी हुई है। नं० १३ का लिपिकाल सन् १८३० ई० है। नं० ४ और ५ क्रम से सन् १७९५ ई० तथा १७८८ ई० के रचे हुए हैं। शेष में सन् संवत् का उल्लेख नहीं है। इन्होंने राम और कृष्ण का चरित्र वर्णन किया है। इन्होंने नंददास का अनुकरण करके उनके भ्रमरगीत में प्रयोगित छंद का व्यवहार अपनी कविता में किया है। इनकी रचना सरस है। स्व० मायाशंकरजी याज्ञिक कहा करते थे कि

"यदि और सब गढ़िया", और "नन्ददास जड़िया" तो उदय पालसिया हैं।" उक्त पंडितजी के कथनानुसार ये भरतपुर राज्य और मथुरा जिले के बीच अवस्थित किसी गाँव के निवासी थे। उन्होंने इनके रचे प्रायः ४० ग्रंथों का एक बृहद् संग्रह स्वयं देखा था।

गंग अकबर के दरबार के एक सुप्रसिद्ध कवि थे। यद्यपि इनके कोई भी स्वतंत्र ग्रंथ प्राप्त नहीं हो सके हैं तोभी इधर-उधर से पाई जानेवाली उनकी फुटकर कविताओं ने उन्हें एक प्रौढ़ और श्रेष्ठ कवि सिद्ध कर दिया है। प्रस्तुत खोज में उनकी कविताओं के दो पुराने संग्रह मिले हैं जो हिंदी साहित्य की अत्यंत उत्कृष्ट और मूल्यवान् कृतियाँ सिद्ध होंगी।

एक संग्रह में लगभग ४०० सवैए और कवित्त हैं जिनसे बहुत सी ऐतिहासिक बातों पर प्रकाश पड़ता है। इतिहास से संबंधित, अकबर बादशाह, दानयाल, जहाँगीर, शाहजहाँ, अब्दुलरहीम खानखाना, वीरबल, महाराना प्रताप और रामदास आदि प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम उल्लेखनीय हैं (दे० रि० सन् १६२६-३१ ई०, सं० ८५)।

गोकुलनाथ गोस्वामी विट्ठलनाथ के पुत्र और महाप्रभु श्री वल्लभाचार्यजी के पौत्र थे। ये प्रसिद्ध भक्त होने के साथ साथ एक उत्कृष्ट विद्वान् और श्रेष्ठ लेखक भी थे। इनका जीवनकाल संवत् १६२५ वि० है। इन्होंने बहुत से गद्य ग्रंथों का निर्माण किया है। प्रस्तुत खोज में इनके ६ ग्रंथ—वनयात्रा, पुष्टिमार्ग के वचनामृत (लि० का० १८४८ ई०), रहस्यभावना (लि० का० १८५४ ई०), सर्वोत्तम स्तोत्र, सिद्धांतरहस्य और वल्लभाष्टक प्रकाश में आए हैं। सब ग्रंथ ब्रजभाषा में होने के कारण महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें पुष्टिमार्ग के सिद्धांतों तथा भक्ति-विषय का प्रतिपादन किया गया है।

बैजू के दो ग्रंथों 'मनमोदनी' और 'मतिबोधिनी' के विवरण प्रस्तुत खोज में प्राप्त हुए हैं। ये दोनों ग्रंथ भगवद्भक्ति तथा अध्यात्मविषयक हैं। निर्माणकाल किसी में भी नहीं दिया गया है, किंतु लिपिकाल दोनों का संवत् १८८७ वि० (सन् १८३० ई०) है। बैजू का कोई परिचय प्राप्त नहीं हुआ है, केवल अन्वेषक को ग्रंथस्वामी से

मौखिक ज्ञात हुआ कि एक साधु ने, जिससे ये ग्रंथ इन्हें (ग्रंथस्वामी को) प्राप्त हुए थे, बैजू का निवासस्थान ग्वालियर बतलाया था।

बैजू बावरा नाम का एक प्रसिद्ध संगीतज्ञ हो गया है जिसके विषय में कई दंतकथाएँ प्रचलित हैं। उपर्युक्त बैजू और बैजू बावरा एक ही हैं या अलग अलग, यह जानने का कोई साधन नहीं है। हाँ, ग्रंथस्वामी का कथन कि वह ग्वालियर का निवासी था, इसके पक्ष में है।

इसी नाम का एक लेखक सन् १९२६-२८ ई० की त्रैवार्षिक रिपोर्ट में भी आया है जिसका नाम एक कवित्त-संग्रह के संबंध में आया है। इस संग्रह का संकलनकाल सन् १८१८ ई० है और लिपिकाल सन् १८२३ ई०।

मालूम होता है कि ये दोनों लेखक एक ही हैं।

यहाँ प्रस्तुत बैजू के ग्रंथों से कुछ उदाहरण दिए जाते हैं :—

"काम कहे करि कामिनि को सँग क्रोध कहे पर गरदन मारौ।
मदसर कहै मति माधौ जानौ लोभ कहै धन गहि सत डारौ॥
मोह कहै जग साँचो सदा सुष अवर नहीं कहूँ ठौर तिहारौ।
बैजू जन यह पाँच पंच असत हयेक मन कह करै विचारौ॥"

—मनमोदनी।

"भक्ति ग्यान वैराग को, रूप विलग विलगाय।
तातैं या मतमोधिनी, नाम सो धरा कथाय॥
पारब्रह्म परचै बिना, प्रसन्न देव नहीं होय।
जर तजि साषा सींचिजे, नीच कहायत सोय॥"

—मतिबोधिनी।

बोधा हिंदी-साहित्य संसार में एक कुशल श्रृंगारी कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनका पन्ना दरबार में होना माना जाता था। मिश्रबंधुविनोद के नं० ८८७ पर उनका विस्तृत वर्णन है तथा खो० रि० १९१७-१९ के नं० ३० और खो० रि० १९२०-२२ के नं० २१ में भी उनका उल्लेख हो चुका है। इस वर्ष बोधा के नाम से (१) बाग-वर्णन, (२) बारहमासी, (३) फूलमाला, (४) पक्षीमंजरी और (५) पशु-

जाति नायिका नायक कथन नामक पाँच ग्रंथ और प्राप्त हुए हैं जो संभवतः किसी दूसरे बोधा के हैं। कहा जाता है कि फीरोजाबाद के निकटस्थ रहना और उसायनी नामक ग्रामों में इनकी कुछ जमींदारी थी। उसायनी के रहनेवाले श्रीशंकरलाल के पास, जो खैरगढ़ जिला मैनपुरी में पटवारी हैं, ये ग्रंथ सुरक्षित हैं। इनमें से तीन ग्रंथों में सन्-संवत् का ब्योरा नहीं है, सं० ५ की प्रतिलिपि सं० १८३६ (१७७६ ई०) में हुई है और संख्या ४ (पंचीमंजरी) की रचना संवत् १६३६ (१५७६ ई०) में।

"संवत सोरह सै सही—जानों तुम छत्तीस।
तेरह शुक्ल असाढ़ की, वार कुंभ को ईस।।"

अभी तक बोधा के निवासस्थान के ही विषय में मतभेद चल रहा था। यह भी कहा जाता था कि ये निवासी तो फीरोजाबाद के थे किंतु रहते तत्कालीन पन्ना-नरेश के दरबार में थे। कोई कोई यह भी मानते थे कि फीरोजाबाद और पन्ना के बोधा पृथक् पृथक् दो व्यक्ति थे और अब यही ठीक जान पड़ता है। पन्नावाले बोधा के समय के विषय में कोई पुष्ट प्रमाण तो नहीं मिला, परंतु शिवसिंहजी ने इनका जन्म सं० १८०४ वि० माना है और वही मत विनोदकार एवं खोज-रिपोर्टों में भी ग्राह्य माना गया है। इस मत को सत्य मान लेने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत बोधा, जो इस रिपोर्ट के विवरण में आ रहे हैं, प्रसिद्ध बोधा से भिन्न हैं और उनसे लगभग २०० वर्ष पूर्व विद्यमान थे। प्रस्तुत ग्रंथों के विषय में यह प्रसिद्ध भी है कि ये बोधा ही के रचे हुए ग्रंथ हैं, और इनको बोधाकृत मानने के लिये प्रमाण भी हैं:—

"तन मन व्याकुल ह्वै रहौं, धीरजु धरौ न जाइ।
'बोधा' आनँद होहिंगे, गल गल लागों पाँइ।।
तोता हौं साँची कहौं, भजिले सीताराम।
'बोधा' मन फूले कहै, सब है फोको काम।।" —पंचीमंजरी।
"संपति विपति जुतन तजन, तन मन पति सौं हेत।
'बोधा' स्वकीया कहत हैं, पति चोतो करि देत।।"
—पशुजाति नायिका नायक भेद।

वागविलास, फूलमाला और बारहमासी से विवरणपत्र में उद्धृत उदाहरणों में उनके नाम की छाप नहीं है। परंतु पत्रीमंजरी में, जिसमें रचनाकाल भी दिया है, उनकी छाप मिलती है। अतएव उसके संबंध में यह संदेह नहीं किया जा सकता कि वह बोधाकृत है भी कि नहीं। मिश्रबंधुओं ने जिन विचारों के आधार पर प्रसिद्ध बोधा का रचनाकाल माना है, वह भी औचित्य की सीमा के अंतर्गत ही हैं। इधर पत्रीमंजरी के रचना-काल-सूचक दोहे को अशुद्ध मानने के लिये भी हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। ऐसी अवस्था में हमें यही मानना पड़ेगा कि बोधा नाम के दो कवि हुए—एक १८वीं शताब्दी के मध्य में और दूसरा १६वीं शताब्दी के अंतिम तथा १७वीं शताब्दी के प्रथम भाग में। प्रस्तुत शोध प्रस्तुत 'बोधा' के निवासस्थान के विषय पर किसी प्रकार का प्रकाश नहीं डालती। यद्यपि ये ग्रंथ फीरोजाबादी 'बोधा' के नाम से हो प्रकट हैं, किंतु इस बात का कोई लिखित प्रमाण नहीं है। कविता की दृष्टि से जो सौंदर्य और उत्कृष्टता "विरहवारीश" और "इश्कनामा" में है, वह पत्रीमंजरी और बारहमासी आदि इस खोज में मिले ग्रंथों में नहीं है। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि उक्त दोनों हो शृंगार के अच्छे कवि हैं। यदि बोधा दो न होकर एक ही हुए तो मानना पड़ेगा कि अब तक उनका जो समय प्रसिद्ध था, वह गलत है और वे तुलसीदासजी के सम-सामयिक थे (र० का० १६३६ वि०)। ऐसी दशा में यह कहना अनुचित न होगा कि ये उनकी प्रारंभिक कविताएँ होंगी, इसी लिये उनमें उतना सौंदर्य नहीं। इश्कनामा के आदि में बोधा ने अपने आश्रयदाता का नाम भी लिखा है :—

"खेतसिंह नरनाह को, हुकुम चित्त हित पाइ।
ग्रंथ इश्कनामा कियो, बोधा सुकवि बनाइ॥"

यदि इन खेतसिंह का विशेष विवरण मिल जाय तो 'बोधा' का सच्चा इतिहास भी ज्ञात हो जाय।

प्रस्तुत ग्रंथों में दोहे ही अधिक हैं। इनकी बारहमासी में कुछ मनहरण कवित्त भी हैं। यहाँ उनमें से केवल दो उदाहरण के लिये लिखे जाते हैं।

"आमन असाढ़ उमगामनि बिरह आली,
स्याम सुधि पामन बिदेस छाए जब तें।
पाती लै आमन तन तपति मिटावन नैन,
सुष उपजामन बेन श्रवन सुने तब तें॥
उठनि घटानि बीज चमकि ठठानि प्यारी,
ठाढ़ी अटानि मुष जोहैं प्रेम पट सब तें।
जीमन जियामन मोहिं मदन जगावन केधों,
आमन मनभावन प्रेम प्रीति छाई जब तें॥
बैसाख बनवारी मोपै कृपा कीनी रावरे जू,
हों तो बलिहारी एसे अंतर के जामी की।
हेत हितकारी दीनी संपति सुदामा को,
लीला अपार कान्ह कारे काम धामी की॥
पूरन परताप की महिमा मोपै कही न जात,
कृपानिधान नेक धों करुनासिंधु स्वामी की।
मेटे तन-ताप मेरी पूजा है अवधि आस,
प्रेम प्रीति साँची वा गुपाल गरुड़गामी की।"

मान या खुमान कवि चरखारी-नरेश विक्रमशाह के आश्रित और हनुमान्‌जी के अनन्य भक्त थे। इनके रचे ग्रंथों के विवरण अनेक बार आ चुके हैं (दे० रि० १९०६-०८ ई० सं० ७०, सन् १९०५ ई० सं० ८६, सन् १९२०-२२ ई० सं० १००, १९२३-२५ ई० सं० २१०, १९२६-२८ ई० सं० २३१)। प्रस्तुत खोज में इनके नाम से चार ग्रंथ—'लक्ष्मण-चरित्र', 'नरसिंहचरित्र', 'हनुमानपचासा' और 'नख-सिख'—विवरणों में आए हैं। अंतिम ग्रंथ—'नखशिख'—के अतिरिक्त अन्य सभी ग्रंथ पहले मिल चुके हैं। यह 'नखशिख' उनके रचे 'हनुमान नखशिख'—से भिन्न है और यह शृंगार रस से संबंध रखता है। इसका पूरा नाम "राधाजी का नखशिख" है। इसमें न तो सन् संवत् का उल्लेख है और न कवि का कोई परिचय ही दिया हुआ है। अतएव निश्चयात्मक रूप से ज्ञात नहीं होता कि इस ग्रंथ के रचयिता यही 'मान' हैं,

अथवा उनके अतिरिक्त इसी नाम का कोई अन्य कवि है। किंतु वैसे इस ग्रंथ में आई हुई कविता में कोई ऐसी बात नहीं है जिससे यह कहा जा सके कि वह उक्त खुमान कवि की रचना नहीं है। इनकी रचना के दो नमूने यहाँ दिए जाते हैं—

"अरन बरन मन किधौं इंद्रगोप गन,
कैधों फूल किरन ते परम प्रबीने हैं।
कैधों सीस उडगन मुकुर मदन किधौं,
दीपक दिपत किधौं दीप दुत हीने हैं॥
सहित विवेक वर बुद्ध मन एक कर,
रचि रुच सुच सो विरंच एक कीने हैं।
राधे रूपनिधि विधि मुष पद अग्रनष,
मान कवि सोभित रुचिर रंग भीने हैं॥

"मैन मतंग के चोर किधों किधों भौंर लता अति ही छवि छाजे।
स्याम सुवास सुभाइ सचिक्कनि दीह प्रकाश सिषी लष लाजे॥
केसर रूप सिवार बढ़े रसराज किधों इहि साज सो साजे।
मेह की धार कलिंदी किधों मषतूल के तार किवार बिराजे॥"

खुमान (मान) चरखारी राज्यांतर्गत खरगाँव के रहनेवाले थे। इनका रचनाकाल अठारहवीं शताब्दि का उत्तरार्द्ध है।

लक्षोदय या लालचंद का बनाया हुआ, हिंदी-मिश्रित मारवाड़ी भाषा का "पद्मिनीचरित्र" नामक ग्रंथ इस बार खोज में मिला है। अब तक यह ग्रंथ विवरण में नहीं आया था। इसके रचनाकाल सं० १७०२ वि० (१६४५ ई०) का कवि ने स्वयं ही उल्लेख किया है—

"संवत् सतरे से बड़ोतरे, श्रीउदयपुर सु वरवाण।
हिंदुपति श्री **जगतसिंह**, जिहाँरे राज करै जगभान॥
तासु तणो **माता** श्री जंबवती कही रे निरमल गंगानीर।
पुण्यवंत षट दरसणा, सेवक करे सहारे, धर्ममूर्ति मतिधीर॥
तेहतणा परधान जगत में जाणो मेरे।

अभिनव प्रभा कुमार केसर मंत्री सरश्रुत अरिकेसरी रे ॥
हंसराज ताही रे। तासु बंधु डूंगर सीते मणि दीप तेरे।

भागचंद कुल भाण।

विनयवंत गुणवंत सोभा सेहरि, बड़दाता गुण जाणि।
तसु सुत आग्रह करि संवत् सतरो भोरे, चैत्र पूनम शनिवार।
नवारस सहित सरस संबंध तवो रच्यो रे निज बुधि के अनुसार ॥"

इससे विदित होता है कि उदयपुर के राजा हिंदूपति श्री जगतसिंह की माता जंबवती के प्रधान, अभिनव प्रभाकुमार के मंत्री हंसराज के बंधु डूंगरसी के पुत्र भागचंद के सुत ने आग्रह करके संवत् १७०२ (संभवतः) के चैत्र की पूर्णिमा शनिवार को यह ग्रंथ बनवाया। ग्रंथकार ने अपना नाम कहीं लच्छोदय ("लच्छोदय कहै आदमीरे ढाल रसिक सुखकार") और कहीं लालचंद (लालचंद कहै सभलो मनोगेरे) लिखा है। ग्रंथकार जैनमतावलंबी है; क्योंकि ग्रंथारंभ में उसने जिन की वंदना की है। एक लालचंद जैन ने 'राजुल पचीसी' नामक ग्रंथ लिखा है (दे० खो० रि० दिल्ली सं० ५४)। किंतु उसमें सन्-संवत् नहीं है। लालचंद ने ही एक 'लीलावती' नामक ग्रंथ सं० १७३६ वि० (१६७९ ई०) में बनाया है (दे० रि० १९०२ सं० ७६)। वहाँ ये जैनधर्म के खरतरगच्छ के नायक जिनचंद्र सूरि के सेवक सोभाग सूरि के शिष्य लालचंद बताए गए हैं और उस ग्रंथ की रचना बीकानेर में महाराज करणसिंह जी के बेटे राठोड़ अनूपसिंह जी के राज्य में अधिकारी कोठारी नेणसी के अंगज (पुत्र) जयतसी के कहने से हुई है। संभव है, उपर्युक्त दोनों ग्रंथों के रचयिता एक ही हों। एक लालचंद ने (दे० रि० १९१७-१९ सं० १०६) 'नाभि कुँवर की आरती', 'वरांग चरित्र भाषा' (र० का० वि० सं० १८२७ या ई० १७७०) और 'जयमाला' (दे० रि० १९२६-२८ सं० २६०) बनाए, किंतु इन ग्रंथों का लेखक लालचंद प्रस्तुत ग्रंथकार से भिन्न है। इसकी रचनाएँ अठारहवीं शताब्दि की हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ का कथानक यद्यपि जायसी के 'पद्मावत' के कथानक के सदृश है, परंतु कहीं कहीं घटना-चक्र में अंतर है। इस ग्रंथ का लिपिकाल सं० १७५७ वि० = १७०० ई० है।

वृंदावन हित अथवा चाचा वृंदावन, ब्रज के प्रतिभाशाली कवियों में हैं। इनकी रचना परिमाण में भी अधिक है। यह राधा-वल्लभ संप्रदाय के वैष्णव थे और हितहरिवंशजी के शिष्य थे। इनके कुछ ग्रंथ सन् १९०६-०८ की रिपोर्ट के सं० २२२ पर विवरण में आ चुके हैं। इस रिपोर्ट में इनके रचे १६ ग्रंथों के विवरण सम्मिलित हैं जो परिमाण में प्राय: दस सहस्र श्लोकों के बराबर हैं। उनका 'वाणी' नामक ग्रंथ पूरे ८ वर्ष के परिश्रम से पूर्ण हुआ था। सं० १८१२ = १७५५ ई० में आरंभ होकर सन् १८२० = १७६३ ई० में वह समाप्त हुआ। उनके रचे समस्त ग्रंथों के नाम, (१) उपदेश बेलि, (२) दीक्षा मंगल , (३) होरी धमार, (४) पद, (५) पद, (६) पद-संग्रह, (७) पदसंग्रह, (८) पदावली, (९) पदावली, (१०) पद्यावली, (११) राधाजन्मोत्सव के कवित्त, (१२) रसिक अनन्य प्रचावली, (१३) समाज के पद, (१४) विवेक लक्षनवेलि, (१५) संतों की वाणी तथा (१६) वाणी। इनमें से नं० १ सं० १८१० वि० = १७५३ ई० का और नं० ११ सं० १८१२ वि० = १७५५ ई० का तथा नं० १६ सं० १८१२-२० = १७५५-६३ ई० का बना हुआ है और नं० २ और ६ के लिपिकाल क्रम से १७६८ तथा १८२९ ई० हैं। शेष में सन्-संवत् का उल्लेख नहीं है। नं० ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १० और १३ महत्त्वपूर्ण संग्रहग्रंथ हैं। नं० १२ उपयोगी ग्रंथ है। इसमें नाभाजी के भक्तमाल के सदृश अनेक भक्तों के नाम और परिचय छप्पयों में दिए गए हैं। इसमें ऐसे नाम हैं, जो भक्त-माल में नहीं हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इसमें प्राय: उन्हीं भक्तों के नामों का समावेश हुआ है जो इनके संप्रदाय के थे। ये जबरदस्त लेखक थे। इन्हें जन्मभर रचना करते ही बीता। वह कहते हैं :—

"लिषत लिषत आँखें थकीं, सेत भए सिर बार।
तऊँ न रीझे तनक हूँ, नगधर नंदकुमार॥

बरनत हारी बुद्धिबल, दौरि दौरि भई चूर।
हरि प्रीतम तुम देसरा, तऊ दूरि ते दूर॥"

सूरति मिश्र आगरा-निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। यह कई बार विवरण में आ चुके हैं (दे० खो० रि० १९०३ सं० १०४, १९०६-०८ सं० २४३, १९१२-१६ सं० १८६, १९२३-२५ सं० ४१९, १९२६-२८ सं० ४७३)। इस रिपोर्ट में उनका रचा हुआ 'शृंगारसार' नामक एक नवीन ग्रंथ मिला है। इसका रचनाकाल सं० १७८५ वि० = १७२८ ई० है—

"संवत् सत्रह सै तहाँ, वर्ष पचासी जानि।
भयो ग्रंथ गुरु पुण्य में, सित असाढ़ श्रय मानि"॥

इससे विदित होता है कि यह ग्रंथ मिति आषाढ़ सुदी पूर्णिमा गुरुवार संवत् १७८५ वि० (१७२८ ई०) को रचा गया है। इस ग्रंथ में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ग्रंथकार ने अपने रचे प्रायः ११ ग्रंथों के नामों का उल्लेख कर दिया है, और साथ ही साथ प्रत्येक का विषय भी दे दिया है—

प्रथम कियो सत कवित में, इक **श्रीनाथविलास**।
इकही तुक पर तीन सौ, प्रास नवीन प्रकास॥
श्री भागवत पुरान के तहँ, **श्रीकृष्ण-चरित्र**।
बरने गोवर्द्धन-धरन लीला लागि विचित्र॥
भक्तविनोद सुदोवता, प्रभु सो सिच्छा चित्र।
देव तीर्थ अरु पर्व के समय समय सुकवित्र॥
बहुरि **भक्तमाला** कही, भक्तन के जस नाम।
श्रीवल्लभ आचार्य्य के, सेवक जे गुनधाम॥
कामधेनु इक कवित में, कढ़त सतवरन छंद।
कंवल प्रभु के नाम तहँ, धरे करन आनंद॥
इक **नषसिष** माधुर्य्य है, परम मधुरता लोन।
सुनत पढ़त जिहि होत है, पावन परम प्रवीन॥
छंदसार इक ग्रंथ है, छंद-रीति सब आहि।

उदाहरन में प्रभु जसै यौं पवित्र विधि ताहि ॥
कीनो **कविसिद्धांत** इक, कवित रीति कौं देखि ।
अलंकारमाला विषै, अलंकार सब लेषि ॥
इक **रसरत्न** कीन्हों बहुरि, चौदह कवित प्रमान ।
ग्यारह से बावन तहाँ, नाइकानि को ज्ञान ॥
सारसिंगार तहँ, उदाहरण रसरीति ।
चारि (? ग्यारि) ग्रंथ ये लोक-हित रचे धारि हिय प्रीति ॥

इस प्रकार उन्होंने अपने रचे (१) श्रीनाथविलास, (२) कृष्ण-चरित्र, (३) भक्तविनोद, (४) भक्तमाल, (५) कामधेनु, (६) नषसिष, (७) छंदसार, (८) कविसिद्धांत, (९) अलंकारमाला, (१०) रसरत्न तथा (११) शृंगारसार, इन ग्यारह ग्रंथों के नाम लिए हैं। इनमें से नं० ६ और नं० ९ का नाम विनोद के नं० ५५५ पर दिया हुआ है; शेष सभी नवीन हैं। 'वैतालपचीसी,' 'अमरचंद्रिका,' 'जोरावर-प्रकाश' या रसप्रिया की टीका, 'रसरत्नाकर' और 'रसग्राहक चंद्रिका' पहली रिपोर्ट के विवरणों में आ चुके हैं। इससे विदित होता है कि सूरति मिश्र ने साहित्य के विभिन्न अंगों की पूर्ति में योग दिया था। अपनी स्मृति में उन्होंने बहुत साहित्य छोड़ा है। अपने पिता का नाम 'सिंघमनि' लिखते हैं—

"नगर **आगरौ** वसत सौ, बाँकी **ब्रज** की छाँह ।
कालिंदी कलमषहरनि, सदा बसति जा माँह ॥

×

भगवत पारायन भए, तहाँ सकल सुषधाम ।
विप्र कनावजु कुल कलस, **मिश्र सिंघमनि** नाम ॥
तिनके सुत **सूरत सुकवि, कीने ग्रंथ** अनेक ।
परम रम्य वरणन विषै, परी अधक सी टेक ॥
माथे पर राजित सदा, श्रीमद गुरु **गंगेस** ।
भक्ति काव्य कीरति लही, लहि जिनके उपदेस ॥"

उपर्युक्त पद्य यह भी प्रकट करता है कि सूरति मिश्र गंगेश जी के शिष्य थे ; और उन्हीं के उपदेश से उन्होंने भक्तिकाव्य लिखना आरंभ किया था।

हरिराय नाम के दो लेखकों का उल्लेख ना० प्र० सभा से प्रकाशित "हिंदी हस्तलिखित ग्रंथों के संक्षिप्त विवरण" में हुआ है। उनमें से एक का जन्मकाल सं० १७९५ वि० (१७३८ ई०) है और दूसरे का जीवनकाल सं० १६०७ (१५५० ई०) माना गया है। ये दोनों ही वल्लभाचार्य्य के शिष्य एवं संस्कृत तथा हिंदी के अच्छे ज्ञाता बताए गए हैं। किंतु अन्वेषक को गोकुल-स्थित गोकुलनाथ के मंदिर के अधिकारियों से पता चला है कि वल्लभाचार्य्य के शिष्य हरिराय केवल एक ही थे, दो कदापि नहीं। वल्लभाचार्य्य ने इन्हें श्रीनाथद्वारा (मेवाड़) का महंत बनाया था। ये संस्कृत एवं हिंदी के अच्छे कवि तथा विद्वान् थे। इनके कई ग्रंथ पिछली रिपोर्टों के विवरणों में आ चुके हैं। (दे० रि० १९०० ई० सं० ३८, १९०९-११ ई० सं० ११५; १९१७-१९ ई० सं० ७४; १९२३-२५ ई० सं० १६० और १९२९-३१ ई०।) उनसे ज्ञात होता है कि इनका रचा हुआ बहुत सा साहित्य हिंदी में विद्यमान है। इस खोज में उनके रचे ७ पद्य ग्रंथ—(१) कृष्णप्रेमामृत, (२) पुष्टि दृढ़ावन की वार्ता, (३) पुष्टि प्रवाह मर्यादा, (४) सेवाविधि, (५) वर्षोत्सव की भावना, (६) वसंत होरी की भावना और (७) भावभावना प्रकाश में आए हैं। इनमें हमें तत्कालीन ब्रजभाषा के गद्य का नमूना मिलता है और इनसे इस आक्षेप का प्रायः निवारण होता है कि हिंदी का गद्य भाग उस समय अत्यल्प एवं नहीं के सदृश था। इसके लिये हमें यह कहकर चुप रह जाना पड़ता था कि हमारी धार्मिक भावनाओं के प्राबल्य के कारण त्याग की मात्रा की इतनी अभिवृद्धि हुई कि जीवन-होड़ में हमें उस समय गद्य की आवश्यकता नहीं पड़ी। गद्य की प्रवृत्ति ही कुछ ऐसी है कि वह दलित मानवजाति को अपनी ओर उस समय तक आकर्षित नहीं कर सकता, जब तक कि उसे अपनी जीवनोपयोगी आर्थिक भावनाओं के पुष्टीकरण के लिये लाचार होकर सतर्कता के साथ

उत्साहित नहीं होना पड़ता। वैष्णव-धर्माचार्यों को सर्वसाधारण में अपने प्रमुख धार्मिक सिद्धांतों द्वारा भक्ति का प्रसार करना था, अतएव उन्होंने अपने ध्येय की सिद्धि के लिये गद्य का सहारा लिया। हरिराय जी के ये सभी ग्रंथ हमारे कथन की सत्यता के प्रमाण हैं। इनमें रचयिता ने रचनाकाल किसी में भी नहीं दिया है। चार में लिपिकाल का भी अभाव है। शेष सं० २, ४ और ६ क्रम से ई० सन् १८५६, १८०७ तथा १८४५ के उतारे हुए हैं। सं० १ में कृष्णभक्ति के नियम और प्रेम-व्रत पालन करने का मार्ग बताया गया है। सं० २ में पुष्टिमार्ग के सिद्धांत और उन पर विश्वास दृढ़ करने के नियम बताए हैं। सं० ३ में वल्लभकुल संप्रदाय-संबंधी उपदेश तथा सिद्धांतों का उल्लेख है। सं० ४ में गोकुलनाथजी की सेवा की (शृंगार, भोग, शयन, आरती आदि की) विस्तृत विधि तथा साल भर में पड़नेवाले सभी व्रतोत्सवों को मनाने के नियम दिए गए हैं और सं० ७ गद्य का एक विशालकाय ग्रंथ है, जिसमें राधाजी के चरण-चिह्नों की भावना (संस्कृत मूल के रचयिता गोकुलनाथ तथा भाषाकार हरिराय), नित्य की सेवा-विधि, वर्षोत्सव की भावनाएँ, डोल उत्सव की भावना, छप्पन भोग की रीति, हिंडोरादि की भावनाएँ, सातों स्वरूप की भावना एवं भोग की सामग्री आदि बनाने की रीति दी गई है। नीचे भावभावना में से इनके गद्य का उदाहरण देते हैं—

"सो पुष्टिमार्ग में जितनी क्रिया हैं, सो सब स्वामिनी जी के भावते हैं। ताते मंगलाचरण गाऊँ। प्रथम श्री स्वामिनी जी के चरण-कमल कों नमस्कार करत हैं। तिनकी उपमा देवे कों मन दसो दिसा दोरयो। परंतु कहूँ पायो नहीं। पाछे श्रीस्वामिनीजी के चरण-कमल को आश्रय कियो है। तब उपमा देवे कूँ हृदय में स्फूर्ति भई। जेसे श्री ठाकुर जी को अधर-बिंब आरक्त है रसरूप। तेसेई श्री स्वामिनी जी के चरण आरक्त हैं। सो ताते श्री स्वामिनी जी के चरणकमल कों नमस्कार करत हैं। तिनमें अनवट बिछुआ नूपुर आदि आभूषण हैं।"

इनके अतिरिक्त दो लेखक और हैं जिनके विषय में संदेहजनक बातें पैदा हुई हैं। अतः उनका भी यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है। एक तो हैं ताराचंद जिनका ग्रंथ "शालिहोत्र" देखने में आया है और दूसरे हैं धर्मदास या खड्गदास जिनके तीन ग्रंथ "मंत्रावली", "शब्दस्तोत्रविज्ञान" तथा "शब्द" देखने में आए हैं।

ताराचंद-रचित एक "शालिहोत्र" का विवरण इस खोज में लिया गया है। इन्होंने अपना परिचय एवं ग्रंथ का रचनाकाल भी दिया है, जो इस प्रकार है—

"सुरहा पांडे गोपीनाथ। कान्हकुबज में भये सनाथ॥
तिनके सुत चारयों अधिकाई। **इंद्रजीत, लछिमन, जदुराई**॥
चौथे **ताराचंद** कहीजै। जिन यह अश्वविनोद बनायो॥
हरिपद चेतन नाम की आसा। **सालिहोत्र** भाष्यो परगासा॥
कुसलसिंह महाराज अनूप। चिरंजीव भूपनि के भूप॥
(सोरठा)—यहै ग्रंथ सुखसार, जिनके है हित हीय मैं।
लेहूँ सुधारि विचारि, चेतनचंद्र कह्यो यथा।
(दोहा)—संवत् सोरह सै अधिक, चारि चौगुनो जानि।
ग्रंथ कह्यो कुसलेस हित, रच्छक श्री भगवान॥"

इससे स्पष्ट विदित होता है कि यह ग्रंथ संवत् १६१६ (१५५९ ई०) में महाराज कुशलसिंह के लिये लिखा गया था और उसके रचयिता सुरहा पांडे वंश के कान्यकुब्ज ब्राह्मण गोपीनाथ के चतुर्थ पुत्र ताराचंद थे। उपर्युक्त सोरठे में "चेतनचंद" नाम भी आता है। सोरठे का भाव यों जान पड़ता है कि "यह सुखसार ग्रंथ जिनके हीय में हित है (जो उसे उपयोगी समझते हैं वे उसे) विचारि यथा (जैसा) चेतनचंद कह्यो (चेतनचंद ने कहा है तथा) सुधारि लेहूँ।" अब यहाँ यह विचारणीय है कि इस ग्रंथ की रचना से भी चेतनचंद का कुछ संबंध है या नहीं, अथवा वह केवल सुधारने की प्रार्थना करनेवाले मात्र हैं। दूसरे के रचित ग्रंथ में ऐसी प्रार्थना करने से किसी को क्या मतलब? ग्रंथ के आरंभ में भी कुछ बातें ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोगी हैं—

"श्री महाराज गुरु, सैंगर बंस नरेस।
गुनगाहक गुण जनन के, जगत विदित कुसलेस ॥
× × × ×
चित चातुर चष चातुरी, मुष चातुर सुख दैन।
कवि कोविद बरनत रहत, सब सुख पावत जैन ॥
बालापन ते सरन रहि, मैं सुख पायो वृंद।
सालहोत्रि मत देषि कै, बरनति **चेतनचंद** ॥"

इससे मालूम होता है कि ग्रंथकार के आश्रयदाता सेंगरवंशीय क्षत्रिय हैं, कवि-कोविद उनका वर्णन करते रहते हैं और जैन सब सुख पाते हैं। इससे लक्षित होता है कि रचयिता संभवत: जैनी है, किंतु १९०६-०८ वाली रिपोर्ट में जैन के स्थान पर चैन है, अतएव शंका का निवारण हो जाता है। उसका नाम चेतनचंद है। चेतनचंद के नाम से उपर्युक्त नाम का एक ग्रंथ विवरण में भी आ चुका है (दे० रि० १९०९-११ सं० ४६, १९२३-२५ सं० ७७ और १९२६-२८ ई० सं० ८०)। पहली रिपोर्ट में रचनाकाल संवत् १८१० वि० (१७५३ ई०) और दूसरी तथा तीसरी रिपोर्टों में रचनाकाल सं० १६२८ वि० (१५१७ ई०) दिया है। प्रस्तुत विवरण में वह सं० १६१६ (१५५९ ई०) निकलता है। तीसरी रिपोर्ट में रचनाकाल का केवल एक सोरठा दिया है जिसमें संवत् के साथ मास आदि नहीं हैं। इन दोनों ग्रंथों के रचनाकाल में अंतर पड़ने का कारण यह पद्यांश है—"चारि चौगुनो जानि" (प्रस्तुत विवरण), "वार चौगुनो जानि" (पिछली रिपोर्ट) क्योंकि ४ के चौगुने १६ होते हैं अतएव प्रस्तुत विवरण रचनाकाल सं० १६१६ वि० मानता है, और वार (७) के चौगुने २८ होते हैं, अतएव पिछली रिपोर्टों में उसे १६२८ वि० माना है। और यदि वार का अर्थ बारह लिया जाय तो रचनाकाल १६४८ वि० हो जाता है। वार न दिए जाने के कारण जाँच नहीं हो सकती। इस रिपोर्ट के दूसरे विवरण में रचनाकाल नहीं है। इन दोनों ग्रंथों में 'चेतनचंद' का नाम आता है। दूसरी प्रति के एक दोहे को छोड़कर शेष तीन दूसरे में मिलते हैं।

ग्रंथकार का नाम पिछली रिपोर्टों में चेतनचंद है। या तो वह मूल संस्कृत ग्रंथ के रचयिता होंगे और अनुवादक का नाम ताराचंद होगा या हो सकता है, चेतनचंद, ताराचंद का ही उपनाम हो। खोज रिपोर्ट स० १९०६–०८ ई० वाली प्रति में 'ताराचंद' के परिचयवाला पद्य नहीं है। संभव है, विवरण लेते समय ध्यान न जाने के कारण वह उतारने से रह गया हो; क्योंकि इस रिपोर्ट में अंतिम भाग की नकल में जो सोरठा उद्धृत किया गया है, ठीक उसी के ऊपर उक्त पद्य दिया हुआ है। यह भी संभव है कि रचयिता ने पहले यह पद्य न देकर पीछे उसको जोड़ा हो, इसी कारण कुछ प्रतियों में वह आ गया हो और कुछ प्रतियों में जो पहले की लिखी हों न आया हो।

धर्मदास के रचे हुए "मंत्रावली", "शब्दस्तोत्र विज्ञान" तथा "शब्द", ये तीन ग्रंथ पहले-पहल प्रकाश में आए हैं। विषय और शैली के ढंग से ये ग्रंथ कबीर की रचनाओं का अनुगमन करते हैं। ग्रंथकार के समयादि के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं होता। तीनों ग्रंथ कैथी लिपि में हैं। जहाँ कवि का नाम आया है, वहाँ **"षगदास"** सा लिखा गया है जिसका मूलरूप खड्गदास होगा। ये तीनों ग्रंथ एक ही जिल्द में हैं; इनके अतिरिक्त इसी जिल्द में कबीर की कुछ रचनाएँ भी हैं। इनमें कई स्थलों पर "कहत कबीर सुनो **ध्रमदास"**, यह पद आया है। इन दोनों नामों का पहला अक्षर पहले ग्रंथ में "ध्र" ऐसे लिखा है। करीब करीब इसी प्रकार यह धर्मदास के नाम में भी है। यह अक्षर ष और ध दोनों रूपों में पढ़ा जा सकता है, परंतु दूसरा अक्षर पहले में स्पष्ट 'ग' है और दूसरे में स्पष्ट 'म' है। इसी लिये ये दोनों नाम भिन्न भिन्न पढ़े गए। केवल एक लकीर ने ही शंका उत्पन्न कर दी है कि यह नाम धर्मदास है या खड्गदास? बहुत ध्यान देकर पढ़ने पर इस ग्रंथकार का नाम धर्मदास ही समझ में आता है क्योंकि अक्षरों की बनावट से स्पष्ट होता है कि लिपि-कर्ता के हस्तदोष से ही 'ध्र' का 'ष' और 'म' का 'ग' हुआ है, जिससे पढ़ने में इतना अंतर हो गया। वास्तव में लेखक षगदास न

होकर धर्मदास ही है। नीचे इनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

"रहनि गहनि निर्मल सदा, निर्मल तनु मन अंग।
सुरति सबदु धंमक गहनि, फिरि नहिं छाड़ै संग॥
अंतर धुनि लागी रहै, त्रिकुटी संजम ध्यान।
कामधेनु हाजिर रहै, प्रघट होइ विज्ञान॥
बंक नारि उलटी बहै, चढ़ै बिहंग अपार।
जैसे मकरी तारु गहि, चढ़त न लागै वार॥
सत गत नाम सुनाइए, घूगदास (?ध्रमदास) सुनि लेहु।
सो महिमा तुमसौं कही, करौ भगति सौं नेहु॥"

—मंत्रावली।

'सबद अखंडति रूप सबदु नहिं षंडित होई।
ऐसा सबद अगाध सजल घट रह्यौ समोई॥
सबदु करै आचार सबद सबनि रोमै अरु गावै।
निर्गुन सर्गुन बरनि सबद सब निर्नै गावै॥"

—शब्दस्तोत्र विज्ञान।

"भजन भगति चौका विधि पूरी, सुमिरयौ नाम सजोमनि मूरी॥
नामु निरंजन सबते न्यारा। यह लगि चउदह तवक पसारा॥
सतगुरु दुज कौं समझाया। वीरा मौज मुकति कौं पाया॥
मौज मुकति सत गति को भेषा। करुनासिंधु करौ परवेसा॥"

—शब्द।

इस खोज में ३२ कविता-संग्रहों का पता लगा है जिनमें अब तक अज्ञात कवियों की भी कोई कोई कविता आ गई है। ऐसे कवियों की संख्या ८० है। उनकी तालिका अक्षरानुक्रम से आगे दी जाती है,—

१—अजुद्धीराम
२—आशाराम
३—उग्रसेन
४—कमलानंद
५—कलाहरिया
६—कवि साईक
७—कवि सुनत
८—कश्यप

९—काशीदास
१०—काशीमणि
११—कृष्णा
१२—गुंजार
१३—गोकुलेश
१४—चंद्रभान
१५—चतुरप्रवीन
१६—जन हरि
१७—जय श्रीवल्लभहित
१८—जिनाल
१९—जीतलाल
२०—टोढ़ा
२१—तारा कवि
२२—दयासखि
२३—दास भैरो
२४—दौलत सिंह
२५—द्विजभूप
२६—नवलविहारी
२७—नवलेश
२८—नामनाथ
२९—नारायणवल्लभ
३०—निरारी
३१—परहित
३२—पियादयाल
३३—पुण्य
३४—पुर्वी
३५—प्यारे गोपाल
३६—बद्रनाथ
३७—बनजू
३८—बालम महाकवि
३९—बिठ्ठल गिरिधर (गंगाबाई)
४०—बीरा गोपीदास
४१—ब्रजाधीश
४२—भवसिंधु
४३—भवानीराम
४४—मुंशी जगनप्रसाद
४५—मुंशी नारायणप्रसाद
४६—मदनराय
४७—मसान
४८—माणिकपाल
४९—मुदितनारायण
५०—मैन
५१—मोहनविहारी
५२—मोहनसिंह
५३—रमताराम
५४—रससिंधु
५५—रसिक कृष्णा
५६—रसिक प्रभु
५७—रसिकशिरोमणि गोपीदास
५८—रूपहित
५९—लच्छीदास
६०—लक्ष्मीदास हित
६१—विपुल विहारिनदास
६२—वृन्दावनचंद
६३—शेषमणि
६४—श्रीदास

६५ श्रीप्रसाद
६६ श्रीमणि
६७—श्रीरघुवीर
६८—श्रीलाल रूप
६९—सरसरंग
७० सादी
७१ साहिबराम
७२ सुकवि रमेश
७३—सुखपज
७४—सुघरराय
७५—सेपहदारखाँ
७६—हरिनारायण श्यामदास
७७—हित अनूप
७८—हित कृष्णदास
७९—हित गोपाल
८०—हित श्रीदाम

विवरण के साथ दिए गए परिशिष्टों की सूची नीचे दी जाती है, जिनमें से सब स्थानाभाव से पत्रिका में नहीं दिए जा सकते—

परिशिष्ट १—ग्रंथकारों पर टिप्पणियाँ।

परिशिष्ट २—ग्रंथों के विवरण पत्र (उद्धरण, विषय, लिपि और कहाँ वर्तमान हैं आदि विवरण)।

परिशिष्ट ३—उन रचनाओं के विवरण पत्र (उद्धरण, विषय, लिपि और कहाँ वर्तमान हैं आदि विवरण) जिनके लेखक अज्ञात हैं।

परिशिष्ट ४—काव्य-संग्रहों में आए हुए उन कवियों की नामावली जिनका पता आज तक न था।
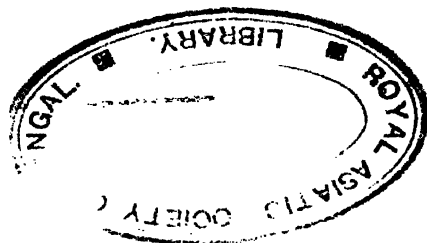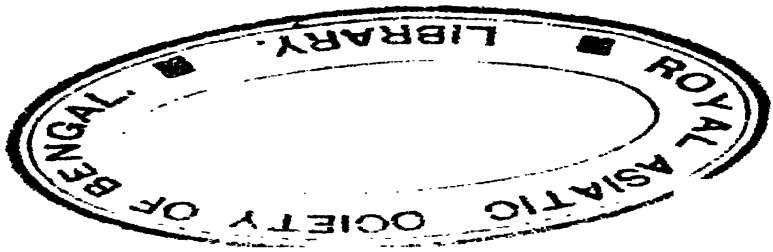
खुमाणरासो का रचनाकाल और रचयिता

[लेखक—श्री अगरचंद नाहटा]

हिंदी के प्राचीन साहित्य का गंभीर अन्वेषण अभी तक बहुत कम हुआ है। फलतः उसके संबंध में बहुत सी भ्रांत बातें प्रचलित हैं एवं कई बातें अनिश्चित रूप से पड़ी हैं। उदाहरण के लिये, हिंदी-साहित्य के वीरगाथा-काल की जितनी भी रचनाएँ कही जाती हैं उनमें से अधिकांश तो अब अनुपलब्ध हैं। जो उपलब्ध हैं उनकी भाषा इतनी विकृत अवस्था में है कि उन्हें उस समय की रचना जानकर हिंदी-साहित्य का जैसा वैज्ञानिक अनुसंधान हम करना चाहते हैं उसके लिये वे सर्वथा अनुपयुक्त हैं। कई कृतियों को तो कथित समय की रचना मानना सर्वथा प्रमाण-रहित है[1]। अतएव सारा वीरगाथा-काल ही डाँवाडोल प्रतीत होता है अर्थात् भाषाशास्त्र एवं ऐतिहासिक दृष्टि से उसका कोई निश्चित महत्त्व या मूल्य नहीं ठहरता। मेरा मत है कि जब तक हमारे हिंदी-साहित्यसेवी एवं भाषाशास्त्र के विद्वान् जैन भाषाग्रंथों पर[2] पूरा ध्यान नहीं देंगे तब तक भाषा के क्रमिक विकास का पूरा पता मिलना असंभव है। वीरगाथा-काल की जैनेतर

१—बीसलदेवरासो को प्रायः सभी विद्वान् सं० १०७३ या १२१२ की रचना मानते हैं। पर मेरे मत से वह सोलहवीं शताब्दी के पहले का नहीं है। जगनिक का आल्हाखंड तो स्पष्ट रूप से पीछे की रचना ही प्रमाणित है। आल्हाखंड को प्राचीन मानना भाषाशास्त्र की अवहेलना करना है। भुवाल और मोहनलाल द्विज तो अब अठारहवीं शताब्दी के सिद्ध हो ही चुके हैं। शारंगधर का हमीर रासो और नल्लसिंह का विजयपाल रासो भी अपने मूल एवं पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं हैं।

२—जैन भाषाग्रंथों की संख्या बहुत अधिक है, और उनकी यह बड़ी भारी विशेषता है कि उनकी प्रतियाँ अपने रचनाकाल के समय में ही या उससे थोड़े पीछे की लिखी हुई मिलती भी हैं। वे रचनाएँ प्रारंभ से ही मौखिक न रहकर लिखित ही रही हैं, अतः उनकी भाषा अपने मूल रूप में सुरक्षित पाई जाती है।

रचनाएँ मौखिक रूप से अधिक समय तक रही हैं, अतः उनकी भाषा अब मूल रूप में सुरक्षित नहीं है। जैन ग्रंथों के संबंध में यह बात नहीं है।

इधर वीरगाथा-काल के ग्रंथत्रय (खुमाणरासो, पृथ्वीराजरासो और बीसलदेवरासो) पर मैंने कुछ अन्वेषण एवं विचार किया है। यहाँ 'खुमाणरासो' के विषय में कुछ प्रकाश डाला जाता है।

दलपतिविजय के खुमाणरासो को बाबू श्यामसुंदरदासजी ने "वीरगाथा-काल का सबसे प्राचीन ग्रंथ" माना है और पं० मोतीलाल मेनारिया ने "राजस्थान का सबसे पहला कवि दलपतविजय" को बतलाया है। उनका कथन कहाँ तक ठीक है, एवं खुमाणरासो का वास्तविक रचनाकाल क्या है ? यही इस निबंध में विचार्य है।

बाबू श्यामसुंदरदासजी ने अपने 'हिंदी भाषा और साहित्य' नामक ग्रंथ के (परिवर्द्धित एवं संशोधित संस्करण) पृ० २२३ में "वीरगाथा-काल के सबसे प्राचीन ग्रंथ" का वर्णन करते हुए इस प्रकार लिखा है :—

"हिंदी की वीरगाथाओं में प्रबंध रूप से सबसे प्राचीन ग्रंथ, जिसका उल्लेख मिलता है, 'दलपतविजय' का खुमानरासो है। ऐसा कहा जाता है कि इसमें चित्तौड़ के दूसरे खुम्माण (वि० सं० ८७०–९००) के युद्धों का वर्णन है। इस समय इस पुस्तक की जो प्रतियाँ मिलती हैं उनमें महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन है। संभव है कि यह प्राचीन पुस्तक का परिवर्धित संस्करण हो अथवा उसमें पीछे के राणाओं का वर्णन परिशिष्ट रूप से जोड़ा गया हो। इस पुस्तक के संबंध में अभी तक बहुत कुछ जाँच पड़ताल की आवश्यकता है।"

पं० रामचंद्रजी शुक्ल ने अपने 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' नामक ग्रंथ के पृ० २५ में लिखा है :—

"खुम्माण ने २४ युद्ध किए और वि० सं० ८६९ से ८९३ तक राज्य किया। यह समस्त वर्णन दलपतविजय नामक किसी कवि के रचित 'खुमानरासो' के आधार पर लिखा गया जान पड़ता है। फिर

इस समय खुमानरासो की जो प्रति प्राप्त है, वह अपूर्ण है और उसमें महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन है। यह नहीं कहा जा सकता कि इस समय जो खुमानरासो मिलता है, उसमें कितना अंश पुराना है। उसमें महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन मिलने से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जिस रूप में यह ग्रंथ अब मिलता है वह उसे वि० सं० की सत्रहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा। यह नहीं कहा जा सकता कि दलपतविजय असली खुमानरासो का रचयिता था अथवा उसके पिछले परिशिष्ट का।"

पं० मोतीलाल मेनारिया का 'राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा' नामक ग्रंथ हाल ही में प्रकाशित हुआ है। उसके पृ० २७ में लिखा है :—

"राजस्थान का सबसे पहला कवि, खुमाणरासो का रचयिता दलपतविजय नामक कोई भाट कहा जाता है। खुमाणरासो में मेवाड़ के राजा खुंमाण (दूसरे) के साथ खलीफा अलमामूँ के युद्ध का वर्णन है। खुंमाण ने वि० सं० ८७० से ९०० तक मेवाड़ पर राज्य किया था। अतः यही समय दलपतविजय का भी समझना चाहिए। परंतु खुमाणरासो की आजकल जो प्रतियाँ मिलती हैं उनमें महाराणा प्रतापसिंह तक के राजाओं का वर्णन है, इसलिये इसकी प्रामाणिकता के संबंध में विद्वानों को कुछ संदेह सा हो गया है। संभव है कि खुंमाण के बाद का वृत्तांत दलपतविजय के वंशवालों ने जोड़ा हो, पर जब तक इस विषय की पूरी तौर से छानबीन न हो जाय, निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है।"

'राजपुताने का इतिहास' पृ० ४२४ में श्रद्धेय ओझाजी लिखते हैं :— ('उदयपुर राज का इतिहास' भा० १ पृ० १२०)

"दौलत (दलपत) विजय-रचित खुमाणरासो की एक अपूर्व प्रति [१] देखने में आई, उसमें महाराणा प्रतापसिंह तक का तो वर्णन है

१—श्रद्धेय ओझाजी से पूछने पर ज्ञात हुआ है कि यह प्रति उन्होंने भावनगर के भूतपूर्व दीवान श्रीविजयाशंकर गौरीशंकर ओझा के यहाँ से मँगाई थी।

और आगे अपूर्ण है, इससे इसकी रचना का समय वि० सं० १७वीं शताब्दी या उसके पीछे माना जा सकता है।"

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि खुमाणरासो के विषय में विद्वानों का अभी तक निश्चित एकमत नहीं है। बाबू श्यामसुंदरदासजी से इस संबंध में पूछने पर उत्तर मिला कि "दलपतिविजय के खुमानरासो के विषय में आप पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा से पूछें। मुझे उन्हीं से उसके विषय में बातें ज्ञात हुई थीं।"

मेरा जहाँ तक खयाल है, ओझाजी के अतिरिक्त उपर्युक्त विद्वानों में से किसी ने भी मूल ग्रंथ की प्रति को देखा नहीं, केवल एक दूसरे के अनुकरण रूप में अनिश्चित सी बातें लिख दी हैं और भिन्न भिन्न प्रकार के अनुमान कर लिए हैं। ग्रंथ को स्वयं देखनेवाले ओझाजी जैसे विद्वान् जब इसकी रचना स्पष्ट रूप से १७वीं शताब्दी या उसके बाद की बतलाते हैं तब उनसे उसके संबंध में बातें ज्ञात कर विद्वानों ने उपलब्ध खुमाणरासो को 'सबसे प्राचीन ग्रंथ' कैसे बतला दिया, आश्चर्य है।

'खुमाणरासो' का सबसे पहले पता मुझे जैन साहित्य के महारथी श्रीयुत मोहनलाल दलीचंद देशाई, बी० ए०, एल्-एल० बी० द्वारा संपादित 'जैन गुज्जर कविओ' भाग १, पृ० १६५ से चला। उसमें सोलहवीं शताब्दी के जैन भाषा कवियों के प्रसंग से इस ग्रंथ का एवं इसके रचयिता का परिचय इस प्रकार दिया है :—

१२० दोलतविजय (त० सुमति साधुवंशे पद्मविजय-जयविजय--शांतिविजय शि०)

२१४ खुमाणरास

इसके पश्चात् प्रारंभ की १२ गाथाएँ और दूसरे खंड की समाप्ति के कुछ अंश का अवतरण देकर अपनी ओर से लिखा है कि "यह रास राजस्थानी-मारवाड़ी भाषा में है, इसमें चित्तौड़ के राणा खुमाण और उनके वंशजों आदि का चारणशाही इतिहास है। इसकी प्रति डेक्कन कालेज लायब्रेरी में है। इसका नं० २५८, सन् १८८२-८३, पत्र १३६ है

और यह अपूर्ण है। जैनसाधु राजदरबारों में रहकर राजाओं का चित्त-रंजन करते थे, यह इस रास से विदित होता है और इसके लिये गणेश की वंदना की गई है। इसकी प्रति डेक्कन कालेज लायब्रेरी (अब भांडारकार इंस्टीट्यूट) पूने में है।"[1]

मैंने बीकानेर स्टेट के दीवान श्रीयुत सिरेमलजी बापणा की सर्टिफिकेट के द्वारा भांडारकर इंस्टीट्यूट से मूल प्रति मँगवा ली। प्रति की प्राप्ति में सहायक श्रीमान् प्राइम मिनिस्टर साहब बीकानेर और भांडारकर इंस्टीट्यूट के क्युरेटर साहब का मैं आभारी हूँ।

खुमाणरासो की प्रति[2] का परिचय

उक्त प्रति के पत्र १३६ हैं। प्रत्येक पृष्ठ में १५ पंक्तियाँ एवं प्रति पंक्ति में ४२ के लगभग अक्षर हैं। अक्षर सुंदर एवं सुपाठ्य हैं पर सर्दी के कारण कई पत्रों में स्याही उड़ गई है। अत: उन पत्रों का पाठ पढ़ने में कुछ कठिनाई पड़ती है। कहीं कहीं बीच में पत्र कुछ फट भी गए हैं। संभव है, पत्र सर्दी से चिपक गए हों और उन्हें खोलते समय वे फटे हों। प्रति फीकी काली स्याही से लिखी हुई है, पर गाथाओं के अंक, छंदों के नाम और मध्य मध्य में विषय का शीर्षक लाल स्याही से लिखा गया है। पत्रों के ठीक बीच में कुछ स्थान खाली छोड़ा हुआ है। पत्रांक बी ४६ के मध्य में पीली स्याही से स्वस्तिक अंकित हैं एवं पत्रांक ५० ए में राजा और रानी पास में बैठे हुए हैं और रानी का हाथ राजा के कंधे पर रखा हुआ है, इस भाव का चित्र है। पत्रांक ५७ बी में एक वृक्ष की डाल को एक औरत पकड़े हुए खड़ी है और दो सखियाँ एक-दूसरे के वस्त्र को पकड़े हुए खड़ी हैं, इस भाव का चित्र है। पत्रांक ६६ बी में बादशाह बैठा हुआ है, उसके पीछे की ओर एक सेवक चामर लिए हुए खड़ा है और सामने एक हिंदू राजा खड़ा है, ऐसे भाव

१—मूल गुजराती में लिखित है, यहाँ उसका हिंदी में भाषांतर दिया गया है।

२—श्रद्धेय ओझाजी ने भावनगर से मँगवाकर जिस प्रति का अवलोकन किया था वह संभवत: इस प्रति से भिन्न होगी।

का चित्र है। पत्रांक ७८ बी में घमासान युद्ध का चित्र पूरे पत्र में है। पत्रांक १३४ ए बिल्कुल खाली है जो या तो भूल से छूट गया है या चित्र अंकित करने के लिये रिक्त छोड़ा गया है।

ग्रंथ-परिचय

प्रारंभ :—

॥ ६६० ॥ श्रीअंबिकाय नमः ॥ सकल पंडितशिरोमणि पंडित श्री १०८ श्री हिमत्तविजयगाचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ गाहा ॥

ॐ ऐं मंत्र अपारं, सारद प्रणमामि माय सुपसन्नं।
सिद्ध ऋद्ध बुद्धि सिरं, पूरे वर-वेद पडिपुन्नं ॥ १ ॥
वर वेद पुत्थ हत्था, वीणा सुखद कमल कर विमणा।
हरणंखी हंश रूढ़ा, विज्जा वैजंतिया माला ॥ २ ॥

दूहा

कमलबदन कमलासना, कवी उरमुख के वास।
वसे सदा वागेश्वरी, विध विध करे विलास ॥ ३ ॥
विद्या बुद्धि विवेक वर, वायक दायकवित्त।
अरचे जो आइ तुने, चरण लगावे चित्त ॥ ४ ॥
सेवक सुँ सानिध करो, महरे करो महामाय।
त्रिपुरा छोरु ताहरां, सानिध करो सहाय ॥ ५ ॥
आई द्यो अक्षर अबल, अधिकी बुध उकत्ति।
दलपति सुं कीजे दया, सेवक जांणि सकत्ति ॥ ६ ॥

कवित्त

आव भाव अंबाव, भगति कीजे भारत्ति।
जाग जाग जगदंब, संत सानिध सकत्ति।
सुप्रसन्न होय सुरराय, वयण वाचावर दीजे।
बालक बेलें बाँह, प्रीतभर प्यालो पीजे।
महाराज राज राजेश्वरी, दलपति सूँ कीजे दया।
धन मोज महिर मातंगिनी, माय करो मोसूँ मया ॥ ७ ॥

दूहा

शिव सुत सुंडालो सबल, सेवे सकल सुरेश।
विघन वीडारण वर दीयण, गवरीपुत्र गणेश ॥ ८ ॥

कवित्त

भृकुटि चंद भल हलें गंग खल हले समुज्जल ॥
एकदंत उज्जलो, सुंडल लवलें रुंडगल ॥
पुहप धूप प्रम्मलें, सेस सल ब्बले जीह लल ॥
धुम्र नेत्र परजले अंग अक्कलें अतुल बल ॥
यम वलें विघन दालिद अलग, चमर ढलें उज्जल कमल ॥
सुंडाल देव रिद्ध सिद्ध दीयण, समरी दल्ल गणपति भवल ॥ ९ ॥

दूहा

वृषभ अंक वनिताधिपति, नाभिनंद सुखकंद।
उर अंबुज भामर प्रभु, चित्त चकोर जिन चंद ॥ १० ॥
अलि हुवै ऊलि इलिका, सगत सागति सुदेत।
प्रारस सुगुरु परमेश्वरु लोह हेम कर लेत ॥ ११ ॥
ज्ञान ज्योति सुप्रकास गुरु कर धरी सासत्र कत्थ।
त्रिभुवन में तारण तरण, सहू वार्ता समरत्थ ॥ १२ ॥
सुभा माँहि जपें सुहम, नवरस सरस वखाँण।
गाथ सुण रीझें गणपती, माणिग्गर महीराँण ॥ १३ ॥
साहसीक आषाढ सिद्ध, खित्री मोड **खुमांण**।
गाहडमल्ल दातार गुर अनमी अबली बांण ॥ १४ ॥
उदयो ज्युँ उदया चलें, भल हल तेजें भांण।
रायजादो रघुवंश रिधु प्रगट्यो पुन्य प्रमांण ॥ १५ ॥
चरित तास सग पई, अधिक भाव अधिकार।
सुण्यां घणां सुख संपजै, सयणां सुभा मंझार ॥ १६ ॥

चोपई

चित्रकोट चउरासी सरै, पर्वत मोटो धर उपरें।
च्यारे दिस सरीखो चउसाल, बसुधा तिलक वण्यो सुविसाल ॥१॥

पत्रांक २० ए प्रथम खंड समाप्त। गाथा ५०७

अंत :—इति श्री दोलतविजय विरचिते **बापा** रो अधिकार संपूर्ण श्रीरघुवंशान्वये बापा तें खुमांण विचे आठ पेढीथई हिवै खुमांण रावल रो अधिकार कहे छै ॥ १ ॥ श्री ॥ ६ ॥ प्रथमखंड।

पत्रांक ३३ बी में द्वितीय खंड समाप्त। गाथांक ८९७ में समाप्त।

अंत :—इति श्री चित्रकोटाधिपती श्री रघुवंशे बापा खुमांण चरित्रे रतिसुंदरी अभीग्रहकरण चित्रकारिकाचरित्ररमण राजकुँआरि पाँणीग्रहण पंच सहेली चित्रगढ़ मिलण दोलतविजय विरचिते द्वितीय खंड संपूर्णम् ॥

पत्रांक ६१ ए तृतीय खंड गाथांक १४५६ पर समाप्त।

अंत :—इति श्री रघुवंशे चित्रकोटाधिपति बापारावल पट्टालंकार रावल करण तनुज खुमांणचरित्रे दंपतिसंवाद पंच सहेली आखेटक अधिकार नलवरगढ़गमन लाखांगृहे तिलोत्तमा आगमण धीगा गवरी पुनरपीटेटन मृतसंजीवन एकतमिलन सामांत वनिसाष्ट नायका भावन वरसविलास त्रितृयोखंड संपूर्णम् ॥

पत्रांक ८२ बी गाथांक २१११ पर समाप्त।

अंत :—इति श्री सूर्यवंशे बापारावल पट्टालंकार करण खुमांण-चरित्रे संदेसामोचन पुनः प्रीयतेडण चित्रगढ़ आगमन गंजनीपति महमद पातसाह चित्रगढ़ आगमनं सामंत जुधकरणं सामंत नायक जुद्ध करणं। पातसाह गुहेंमोचन कांनउदे कसामोड रतीसुंदरी देवलदे इत्यादि चरित्रे पं० दोलतविजयविरचिते नवरसविलासग्रंथस्य चतुर्थखंडमिती संपूर्णम् ॥ ४ ॥

पत्रांक ९४ बी पाँचवाँ खंड गाथांक २४२१ पर समाप्त।

अंत :—इति श्री चित्रकोटाधिपति सूर्यान्वये बापारावल पट्टालंकार करण खुमांण संताने रांणा राहप अधिकारें पं० दोलतविजय विरचिते आल-णसी रावल समरसींघ रावल अधिकारे पंचमखंड संपूर्णम् लि०। हेतविजय ॥

पत्रांक ११३ बी छठा खंड गाथांक २८६२ पर समाप्त।

इति श्री चित्रकोटाधिपति बापा खुमांणान्वने रांणा रतनसेन पद-मणी गोरावादल संबंध किंचित् पूर्वोक्तं किंचित् ग्रंथाधिकारेण पं० दोलत-विजय ग० विरचितोयंधिकार संपूर्णम् ॥

पत्रांक १२७ ए सातवाँ खंड गाथांक ३२५१ पर समाप्त।

अंत :—इति श्री दलपती विरचितोयं बापाखुमांण वंसान्वने खंड सप्तमो समाप्तं ॥

आठवें खंड का गाथांक ३५७५॥ तक पत्र १३९ में आया है। इसके बाद ग्रंथ अपूर्ण रह जाता है।

ग्रंथ-समाप्ति

ओझाजी आदि सभी विद्वानों ने इस ग्रंथ की अपूर्ण प्रति में महाराणा प्रताप तक के वर्णन होने का उल्लेख किया है। पर ग्रंथ पढ़ने पर विदित हुआ कि इस प्रति में उसके बाद भी अमरसिंह, कर्ण-सिंह, जगतसिंह के पुत्र राजसिंह का भी वर्णन है और राजसिंह के गंगत्रिवेणी गोमती—राजसमुद्र को बँधाने की तैयारी करने तक का वर्णन आकर ग्रंथ अपूर्ण रहा है। यथा :—

रांणो इक दिन राजसी, सहलें चढ्या शिकार।
गंगत्रिवेणी गोमती, अनड विचे अपार ॥७४॥
नदी निरखी नागडहो, चितइ राजडरांण।
नदी बंधाउं नाम कर तो हुं सही हींदवांण ॥७५॥
तुरत मजधर तेडिया, दीधा त्या शिरपाव।
तीन नदी बां—

ग्रंथ-रचना-काल

इससे पूर्व राजसिंह का मुसलमान की माँग (याचित कन्या) के विवाह का वर्णन है। इन दोनों घटनाओं का समय श्रीयुत ओझाजी के उदयपुर राज्य के इतिहास भा० २ (पृ० ५४२।५७१) के अनुसार सं० १७१७।१८ है। अत: ग्रंथ-रचना इसके बाद की निश्चित है। यह ग्रंथ-रचना की पूर्व अवधि हुई। अंत अवधि का निर्धार आगे किया जायगा।

प्रति का लेखन-काल

पाँचवें खंड के अंत में लेखक का नाम 'हेतविजय' आता है। लेखन के प्रारंभ में लेखक ने 'हिमतविजय' को नमस्कार किया है।

अत: वह हिमतविजयजी का शिष्य जान पड़ता है प्रति पूरी न मिलने के कारण लेखनकाल निश्चित नहीं किया जा सकता। फिर भी अन्वेषण करने पर इन्हीं हेतविजय का लिखा हुआ एक दूसरे ग्रंथ का पता 'जैनगुज्जर कविओ' भा० २ पृ० २४४ से चला है। उसके पुष्पिका-लेख का सारांश यह है :—

"सं० १७२०[1] के फाल्गुन शुक्ला ६ भृगुवार को मोहिनगर में मेवाड़ाधिपति अरिसिंह के राज्य में विक्रमादित्य ५ छत्र चौपइ सुजाण-विजयजी के शिष्य हिमतविजय के शिष्य हेतविजय ने लिखी।"

इस पुष्पिका-लेख से हेतविजय का समय सं० १८२० के आस-पास का निश्चित हो जाता है और खुम्माणरास का लेखक वही है, अत: उसका लेखन-समय भी इसी के लगभग सिद्ध हो जाता है।

कवि-परिचय

ग्रंथ पूरा न मिलने से कवि का एवं ग्रंथ-रचनाकाल आदि का पूरा परिचय तो प्राप्त नहीं होता, फिर भी द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ खंड के अंत में कवि ने अपनी परंपरा आदि का जो उल्लेख किया है वह इस प्रकार है :—

द्वितीय खंड के अंत में—

"**त्रिपुरा** सगततणे सुपसाय, रच्या खंड दूजो कविराय।
तप्पगच्छ गिरुआ गणधार, **सुमती** साधु वंसे सुखकार ॥६६॥
पंडित **पद्म**विजय गुरुराय, पटोदया गिरि रवि कहवाय।
जय बुध शांति विजयनो शोश, जो पै **दोलत** मनह जगीस" ॥६७॥

तृतीय खंड के अंत में—

"सोहें तपगच्छ कुल सिणगार पंडित पद्मविजय सिरदार।
जयविजें पंडित जयकार, शिसूतस शांतिविजय सुखकार॥

१—'जै० गु० कविओ' में सं० १८७० छपा है जो कि भूल है, क्योंकि मूल पुष्पिका-लेख में "संवतिगगन नेत्र पर्वत चंदो" स्पष्ट है। नेत्र दो का ही पर्याय-वाची है तथा महाराणा अरिसिंह का समय भी यही है।

तास तनुज उलट चितधरी, सेवें शगत त्रिपुरसुंदरी।
किलकायम कवीयण दोलती, गुणरचीयो गुणवेधकवती" ॥५६॥

चतुर्थ खंड के अंत में—

"जय सीस शांति सुधिराजसुत, करजोर दलपति कहै"।

उपर्युक्त अवतरणों से स्पष्ट है कि खुमाणरासो के कवि तपागच्छ के सुमतिसाधु के वंश में पद्मविजय के शिष्य, जयविजय के शिष्य और शांतिविजय के शिष्य (तनुज) थे। त्रिपुरासुंदरी देवी का इन्हें इष्ट था, दलपत नाम गृहस्थ अवस्था का है, दीक्षा का नाम दौलतविजय है।

यद्यपि कवि ने अपनी परंपरा की पूरी वंशावलि नहीं दी है, केवल सुमतिसाधु वंश ही लिख दिया है, पर 'जैनप्रशस्ति संग्रह' के पृ० २६६ में कवि के गुरु शांतिविजय की लिखी एक प्रति के पुष्पिका-लेख की नकल है। उसमें उन्होंने अपनी पूरी वंशावलि इस प्रकार दी है—

"सुमतिसाधु सूरि[1] शि० सर्वविजय शि० अमरविजय शि० कमलविजय शि० श्रीविजय शि० चंद्रविजय शि० पद्मविजय शि० जयविजय शि० शांतिविजय, लि० सं० १७५६ मि० सु० ५ रायपुरे लि०।"

इन्हीं शांतिविजयजी के लिखे एक और ग्रंथ का पता 'जैन गुज्जर कविओ' भा० १ पृ० ५९१ से चलता है। यह ग्रंथ सं० १७३३ फा० सु० १५ को उदयपुर में शांतिविजय का लिखा है। अतः ग्रंथकार के गुरु शांतिविजयजी का समय सं० १७३३ से ५६ निश्चित होता है। यही समय लगभग दौलतविजय का है। अतः खुमाणरासो का रचना-समय सं० १७३३ से १७६०–७० के मध्य का होना चाहिए। निश्चित तो इस ग्रंथ की पूरी प्रति प्राप्त होने पर ही हो सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से निम्नोक्त बातें निश्चित हो जाती हैं:—

१—जन्म सं० १४९४, दीक्षा सं० १५११, आचार्य पद सं० १५१८ और स्वर्गवास सं० १५५१। विशेष जानने के लिये देखें 'सुमति साधु विवाहलो' (ऐ० रासंग्रह भा० १) एवं 'तपागच्छ पट्टावली।'

१—इस ग्रंथ में बाप्पा से लगाकर राजसिंह तक का वृत्तांत है। पर राणा खुमाण का वृत्तांत विस्तार से होने के कारण ग्रंथ का नाम 'खुमाणरास' रखा गया है।

२—इसकी भाषा राजस्थानी है।

३—इसके रचयिता तपागच्छीय जैन कवि दौलतविजय हैं जिनका दीक्षा से पूर्व का नाम दलपत था।

४—ग्रंथ-निर्माण-काल सं० १७३० से १७६० के मध्य का है।

अतः खुमाणरासो न तो वीरगाथा-काल का सर्वप्रथम ग्रंथ है, न इसका रचयिता राजस्थान का आदिकवि है, न इसमें प्रतापसिंह तक का ही वर्णन है, न इसका रचनाकाल १६वीं शताब्दी है, न यह प्राचीन पुस्तक का परिवर्द्धित संस्करण है, न ८०० वर्षों का परिमार्जित ग्रंथ, न पीछे के राणाओं का वर्णन इसमें परिशिष्ट रूप से जोड़ा गया है और न उपलब्ध रूप इसे सत्रहवीं शताब्दी में ही प्राप्त हुआ है। और भी एतद्विषयक भ्रांतियाँ उपर्युक्त विवेचन से दूर हो जाती हैं।

'उदयपुर-राज्य का इतिहास' भा० १ पृ० १२० से कर्नल टाड ने भी अपने ग्रंथ में खुमाणरासो का उपयोग किया पाया जाता है। अतः खोजने पर संभव है, इसकी पूर्ण प्रति भी कहीं उपलब्ध हो जाय। आशा है, अन्वेषण-प्रेमी विद्वान् उसे खोजकर विशेष प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।
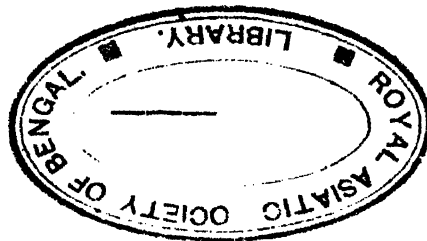
नंददास

[लेखक—श्री शंभुप्रसाद बहुगुणा]

नंददास अष्टछाप के प्रसिद्ध कवियों में से एक थे। उनके जीवनवृत्त को जानने के लिये आधारभूत ग्रंथ निम्नलिखित हैं—

(१) दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (लगभग १५६८ ई० माना हुआ, किंतु अप्रसिद्ध समय)
(२) भक्तमाल (नाभादास) (१५८५ ई०)
(३) रामचरितमानस की सोरों की प्रति (१५८६ ई०)
(४) सूकरक्षेत्र महात्म्य (कृष्णदास कृत १६१३ ई०)
(५) मूल गोसाईं चरित (वेणीमाधवदास १६३० ई०)
(६) भक्तनामावली (ध्रुवदास १७१२ ई०)
(७) भक्तमाल टीका (प्रियादास १७१२ ई०)
(८) रत्नावली जीवनी (मुरलीधर चतुर्वेदी १७७२ ई०)
(९) रासपंचाध्यायी (नंददास)

यद्यपि इन ग्रंथों की प्रामाणिकता विवादग्रस्त है और इनमें आई हुई नंददास-विषयक सब बातों में साम्य भी नहीं है तो भी अन्य साधनों के अभाव में नंददास की जीवनी के लिये हमें इन्हीं ग्रंथों का सहारा लेना पड़ता है।

दो सौ वैष्णवों की वार्ता से पता चलता है कि नंददासजी तुलसीदासजी के भाई थे। उन्हें नाच-रंग का बड़ा शौक था। वे कृष्ण-भक्ति से आकृष्ट होकर ब्रज में बस गए। तुलसीदासजी ने उन्हें पत्र लिखकर बनारस बुलाया किंतु वे न गए। पुनः तुलसीदासजी स्वयं ब्रज जाकर उनसे मिले। रामचरितमानस की ख्याति ने नंददास के

मन में भी श्रीमद्भागवत भाषा में लिखने की इच्छा पैदा कर दी किंतु गुसाईंजी की आज्ञा से उन्होंने ऐसा न किया[१]।

भक्तमाल में दो नंददासों का उल्लेख है। एक बरेली निवासी थे। उनकी भक्ति की प्रशंसा उक्त ग्रंथ में हुई है, किंतु दूसरे नंददास, रामपुर ग्राम निवासी, के विषय में निम्नांकित छप्पय है—

श्री नंददास आनंदनिधि, रसिक प्रमुदित रँग मगे।
लीला पद रस रीति ग्रंथ रचना में नागर।
सरस उक्ति जुत जुक्ति भक्ति रस गान उजागर।
प्रचुर पयध लौं सुजश 'रामपुर' ग्राम निवासी।
सकल सुकुल संवलित भक्त पद रेनु उपासी।
चंद्रहास अग्रज सुहृद परम प्रेम पय में पगे।
श्री नंददास आनंदनिधि रसिक सु प्रमुदित रँग मगे॥

नंददास की सरस उक्तियों के विषय में 'भक्तनामावली' तथा 'ध्रुव सर्वस्व' में लिखा है—

नंददास जो कुछ कह्यो, राग रंग में पागि।
अच्छर सरस-सनेह-युत, सुनत सुमन उठि जागि।

१—"नंददासजी तुलसीदास के छोटे भाई हते। सो विनकूं नाच तमाशा देखिबे को तथा गान सुनिबे को शोक बहुत हुतो⋯⋯।

सो वे नंददासजी ब्रज छोड़के कहूँ जाते नहीं हुते, सो नंददासजी के बड़े भाई तुलसीदासजी काशी में रहते हुते सो विनने सुन्यो नंददासजी गुसाईंजी के सेवक भए हैं। जब तुलसीदासजी के मन में ये आई के नंददासजी ने पतिव्रता धर्म छोड़ दियो है। अपने तो श्रीरामचंद्रजी पती हुते सो तुलसीदासजी ने ये विचारिके नंददासजी कूं पत्र लिख्यो⋯⋯।

सो एक दिन नंददासजी के मन में ऐसी आई जो जैसे तुलसीदासजी ने रामायण भाषा करी है सो हमहूँ श्रीमद्भागवत भाषा करें। ये बात ब्राह्मन लोगन ने सुनी। तब ब्राह्मण मिलि के श्री गुसाईंजी के पास गए⋯जब नंददासजी ने श्री गुसाईंजी की आज्ञा मानी, श्रीमद्भागवत भाषा न कर्यौ।⋯⋯

सो नंददासजी के बड़े भाई तुलसीदासजी हते। काशीजी तें नंददासजी कुं मिलिबे के लिये ब्रज में आए⋯⋯"

रसिक दशा अद्भुत हुती, करत कवित्त सु-ढार ।
बात प्रेम की सुनत ही, छुटै नैन-जल-धार ।
बोरी सो रस मैं फिरैं, खोजत नेहिन बात ।
आछे रस के बचन सुनि, बेगि बिबस ह्वै जात ।

नंददास रामपुर ग्राम-निवासी थे, इस बात की पुष्टि 'सूकर क्षेत्र महात्म्य' तथा मुरलीधर चतुर्वेदी कृत 'रत्नावली-जीवनी' से होती है। इसके अतिरिक्त इन ग्रंथों से नंददास विषयक अन्य बातों का भी पता चलता है। मानस की सोरोंवाली प्रति के अरण्य कांड के समाप्त होने पर अंत में लिखा है "इति श्री रामायने सकल कलि कलुष विध्वंसने विमल वैराग्य संपादिनी षट सुजन संवादे रामवन चरित्र वर्नने नाम तृतीयो सोपान आरण्य कांड समाप्त ।३।। श्री तुलसीदास गुरु की आज्ञा से उनके भ्रातसुत कृष्णदास सोरों क्षेत्र निवासी हेत लिषितम् लछिमनदास कासीजी मध्ये संवत १६४३ आषाढ़ सुद्ध ४ शुक्रे इति ।" इससे प्रकट है कि कृष्णदास सूकरक्षेत्र निवासी तुलसीदासजी के भ्रातृसुत थे। तुलसीदासजी के भाई नंददास थे 'यह चैारासी वैष्णवों की वार्ता' के अतिरिक्त 'सूकरक्षेत्र महात्म्य' से भी विदित होता है। इस ग्रंथ में लिखा है—

बंदहुँ तुलसीदास पितु बड़ भ्राता पद जलज ।
जिन निज बुद्धि विलास रामचरित मानस रच्यो ।।
सानुज श्री नंददास-पितु की बंदहुँ चरन रज ।
कीनो सुजस प्रकास, रास पंच अध्याय भनि ।।
बंदहुँ कमला मात, बंदहुँ पद रतनावली ।
जासु चरन जलजात, सुमिरि लहहिं तिय सुरथली ।।
सुकुलबंस दुज मूल, पितरन पद सरसिज नमहुँ ।
रहहिं सदा अनुकूल, कृष्णदास निज अंस गनि ।।
बंदहुँ कृपा-निकेत, पितर गुरु नरसिंह पद ।
बंदहुँ सिष्य समेत, वल्लभ आचारज सुखद ।।

इसी ग्रंथ के अंत में ग्रंथकर्ता ने अपनी वंशावली इस प्रकार दी है—

सूकर खेत समीप सुचि गाम रामपुर एक।
तहँ पंडित मंडित बसत सुकुल बंस सविवेक॥
पंडित नारायण सुकुल तासु पुरुष परधान।
धारयो सत्य सनाढ्य पद ह्वै तप वेद-निधान॥
सब-सास्त्र विद्या कुसल ये गुरु द्रोण समान।
ब्रह्मरंध्र निज भेदि जिन पायो पद निर्वान॥
तेहि सुत गुरु ज्ञानी भए भक्त पिता अनुहारि।
पंडित श्रीधर सेषधर सनक सनातन चारि॥
भए सनातन देवसुत पंडित परमानंद।
व्यास सरिस वक्ता तनय जासु सच्चिदानंद॥
तेहि सुत आतमाराम बुध निगमागम परवीन।
लघुसुत जीवाराम भें पंडित धरम धुरीन॥
पुत्र आतमाराम के पंडित तुलसीदास।
तिमि सुत जीवाराम के नंदहास चँदहास॥
मथि मथि वेद पुरान सब काव्य सास्त्र इतिहास।
रामचरित मानस करयो पंडित तुलसीदास॥
वल्लभ कुल वल्लभ भए तासु अनुज नंददास।
धरि वल्लभ आचार जिन रच्यो भागवत रास॥
नंददास सुत हौं भयो कृष्णदास मतिमंद।
चंदहास बुध-सुत अहै चिरजीवी ब्रजचंद॥

इसी प्रकार मुरलीधर चतुर्वेदी कृत 'रत्नावलीजीवनी' से पता चलता है कि तुलसीदास और नंददास 'रामपुर के सनाढ्य, सुकुल वंश घर ह्वै गुनाढ्य', पुनीत 'स्मारत वैष्णव' 'अखिल वेद आगम अधीत' के पास विद्याविलास करते थे और एक पितामह के दोनों पौत्र थे और चंद्रहास लघु भाई थे। तुलसी 'आतमराम' के पूत, 'हुलसी' उदर-प्रसूत थे और रामबोला उनका नाम था[1]—

१.. गुरु..... नृसिंह के जाउ पास।
स्मारत वैष्णव सो पुनीत। अखिल वेद आगम अधीत॥

ग्रंथ के अंत में मुरलीधर लिखते हैं—

एक पितामह सदन दोउ जनमे बुधिरासी।
दोऊ एकै गुरु नृसिंह बुध अंतेवासी॥
तुलसिदास नंददास मते द्वै मुरली धारे।
एक भजे सियराम एक घनस्याम पुकारे॥
एक बसे सो रामपुर एक स्यामपुर में रहे।
एक रामगाथा लिखी एक भागवतपद कहे॥

यहाँ रामपुर तथा श्यामपुर से क्रमशः अयोध्या और मथुरा का अभिप्राय स्पष्ट प्रकट होता है।

इससे भिन्न 'मूल गोसाईं चरित' का कथन है—

नंददास कनौजिया प्रेम पढ़े, जिन शेष सनातन तीर पढ़े।
सिच्छा गुरु बंधु भए तेहि ते, अति प्रेम सों आय मिले यहि ते॥

इस कथन की पुष्टि निम्नलिखित छंद से, जो कि श्री गुरांदित्ता खन्ना ने 'महाकवि नंददास-संबंधी एक नई खोज' में सन् १९३९ ई० के 'सुधाकर' (लाहौर से प्रकाशित) के विशेषांक में दिया है, होती है—

श्रीमत्तुलसीदास स्व-गुरु भ्राता पद वंदे।
सेष सनातन विपुल ज्ञान जिन पाइ अनंदे॥
रामचरित जिन कीन ताप त्रय कलिमल-हारी।
करि पोथी पर सही आदरेउ आप मुरारी॥
राखी जिनकी टेक मदन-मोहन धनुधारी।
बालमीकि अवतार कहत जेहि संत प्रचारी॥

चक्रतीर्थ ढिंग पाठसाल। तहीं पढ़ावत विपुल बाल॥
तहँ रामपुर के सनाढ्य। सुकुल बंस घर द्वै गुनाढ्य॥
तुलसिदास अरु नंददास। पढ़त करत विद्याविलास॥
एक पितामह पौत्र दोउ। चंदहास लघु अपर सोउ॥
तुलसी आतमराम पूत। उदर हुलासी के प्रसूत॥

× × × ×

नंददास अरु चंदहास। रहहिं रामपुर मातु पास॥

नंददास के हृदय नयन को खोलेउ सोई।
उज्ज्वल रस टपकाय दियो जानत सब कोई॥

'भक्तमाल' की टीका से इतना ही पता चलता है कि नंददास के छोटे भाई चंदहास सुकुल-आस्पद थे।

इसके अतिरिक्त 'रास पंचाध्याई' से पता चलता है कि—

परम रसिक इक मित्र मोंहि तिन आग्या दीनी।
ताही तें यह कथा जथा-मति भाषा कीनी।

और गोवर्द्धननाथजी की 'प्राकट्य की वार्त्ता' से विदित होता है कि श्रीनाथजी की सेविका 'रूपमंजरी' से नंददास की खूब मित्रता थी तथा उसी के लिये 'रूपमंजरी' ग्रंथ की रचना हुई।

इस प्रकार इन सब ग्रंथों के आधार पर इतना तो कहा जा सकता है कि नंददास रामपुर के निवासी ईसा की सोलहवीं शती में विद्यमान थे और अनेक शास्त्रों का गहन अध्ययन उन्होंने तुलसीदासजी के साथ एक ही गुरु के श्रीचरणों में रहकर किया था। प्रेम-रस तुलसीदास तथा नंददास दोनों के हृदय में विद्यमान था। तुलसी की प्रेम-गंगा पत्नी के कारण रामोन्मुखी हुई, नंददास की विट्ठलनाथ के प्रभाव से कृष्णोन्मुखी। किंतु इसमें भी नारी-प्रेम मुख्य साधन रहा है और नंददास की सारी काव्य-रचना उनके रसिक मित्र के अनुरोध का फल था।

प्रवृत्ति के अनुकूल एकनिष्ठ तुलसी ने मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के गुणगान में अपनी वृत्ति लीन कर दी और भक्ति की तीव्रता से स्फुरित अंत:प्रेरणा से राम के आदर्श रूप को निराश जनता के सामने रखने में कोई बात उठा न रखी। रामचरितमानस को प्रस्तुत कर तुलसी ने हिंदू-जीवन को राममय बनाकर ही अपनी भक्ति का परिचय दिया। किंतु नंददास ने कृष्ण-काव्य के आनंदमय सरस पक्ष को श्रीमद्भागवत से लेकर, अपनी रसिक वृत्ति से उसे सुंदर बनाकर जनता के हृदय में स्थान पाया और वल्लभीय-भक्ति के सिद्धांतों का निरूपण भी इन ग्रंथों में होने से वे भक्तों तथा जन-साधारण के प्रिय बन गए।

नंददास के ग्रंथ

नंददास के संपूर्ण ग्रंथों का पता लग गया है यह नहीं कहा जा सकता। काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने अब तक इनके करीब बाईस ग्रंथों का पता लगाया है। परंतु एक ही ग्रंथ भिन्न भिन्न समय में भिन्न भिन्न नामों से नोट हुआ भी जान पड़ता है। मानमंजरी, नाम-मंजरी और नामचिंतामणिमाला इसी प्रकार नोट हुए हैं। प्रकाशित रिपोर्टों में निम्नलिखित ग्रंथों का उल्लेख है—

(१) अनेकार्थनाममंजरी—यह ग्रंथ संस्कृत अमरकोष के आधार पर लिखा गया है। इसमें एक शब्द के अनेक अर्थ दिए गए हैं। यह ग्रंथ अनेक नामों से नोट हुआ है—जैसे अनेकार्थ, अनेकार्थनाममाला, अनेकार्थभाषा इत्यादि। इस ग्रंथ का रचना-काल १५६७ ई० (संवत् १६२४) है।

(२) क—नाममाला—इसमें पर्यायवाची शब्द दिए गए हैं।

ख—मानमंजरी—नायक-नायिका-भेद तथा राधा के मान-संबंधी पदों सहित यह नाममाला ही है। अनेकार्थनाममंजरी और नाममाला के सम्मिश्रण से गलत नाम मानमंजरी प्रचलित हो चला है। मानमंजरी नंददास अथवा नंदव्यास के नाम से प्रचलित है। यह नहीं कहा जा सकता कि नंददास ही नंदव्यास थे, क्योंकि नंदव्यास की अनेक रचनाएँ प्राप्त हैं और वल्लभ-संप्रदाय के कवियों की उपाधि 'दास' थी, 'व्यास' नहीं। कहा जा सकता है कि नंददास वल्लभ-संप्रदाय में आने से पहले नंदव्यास नाम से ख्यात थे, किंतु नंददास की रचनाएँ वल्लभ-संप्रदाय में आने के पश्चात् आरंभ होती हैं। अस्तु, यही जान पड़ता है कि नाममाला के साथ जब नायिका-भेद और राधा के मान-संबंधी पद भी पाए गए तो उसे मानमंजरी नाम दे दिया गया। यही ग्रंथ नाममंजरी तथा नाम-चिंतामणिमाला के नाम से भी नोट हुआ है। अधिक संभव यही है कि यह रचना नंददास की ही है।

अनेकार्थनाममंजरी तथा नाममाला हिंदी के बहुत प्राचीन कोश ग्रंथ हैं। इनसे पहले केवल खालिकबारी खुसरो ने लिखी थी। ये दो ग्रंथ बहुत समय तक नंददास के अन्य ग्रंथों की भाँति पाठ्य-पुस्तक रूप से पाठशालाओं में पढ़ाए जाते थे।

(३) रूपमंजरी—गोवर्धननाथजी की 'प्राकट्य की वार्ता' के अनुसार यह ग्रंथ नंददास ने अपने परम (रसिक) मित्र श्रीनाथजी की सेविका रूपमंजरी के लिये लिखा था। इस ग्रंथ में कृष्ण का विरह-वर्णन है। वर्णन बारहमासा के ढंग पर है।

(४) रसमंजरी—नायिका-भेद की हिंदी में यह सबसे पहली पुस्तक है। इसमें काव्य रीति पर बहुत सुंदर ढंग से प्रकाश डाला गया है। इस विषय की महत्त्वपूर्ण पुस्तक यह इसलिये भी है कि नंददास के समय में भक्ति की धारा इतनी तीव्र थी कि उनके काल के किसी भी कवि ने इधर ध्यान नहीं दिया। इसके पूर्व तो इसका चिह्न भी नहीं मिलता। इसमें संदेह नहीं कि उस समय यह रचना एक असाधारण बात थी। नंददास का तो यहाँ तक विश्वास था कि बिना रस-शास्त्र के ज्ञान के प्रेमतत्त्व की पहचान होना कठिन ही नहीं, असंभव सी बात है—

हाव भाव हेलादिक जिते,
रति समेत समझावहुँ तिते।
जब लगि इनके भेद न जाने
तब लगि प्रेम न तत्व पिछाने॥

(५) विरहमंजरी—इसमें विप्रलंभ शृंगार है। कृष्ण द्वारका चले गए हैं। गोपियाँ व्याकुल हैं। प्रेम संदेश भेज रही हैं। बारहमासे में विप्रलंभ शृंगार की कल्पना कवि ने की है और चंद्रमा को दूत बनाया है। भाषा प्रांजल नहीं हो पाई है।

(६) फूलमंजरी—इसमें केवल ३१ दोहे हैं। इनमें नई दुलहिन के रूप-सौंदर्य के वर्णन के साथ साथ प्रत्येक दोहे में एक फूल का नाम आया है—

सीस मुकुट कुंडल झलक सँग सोहे ब्रजबाल।
पहेरे माल **गुलाब** की, आवत है नँदलाल॥
चंपक-बरन सरीर, सब नैन चपल है मीन।
नव दुलहिन कौ रूप लषि, लाल भए आधीन॥

नाममंजरी, रूपमंजरी, रसमंजरी, विरहमंजरी और फूल-मंजरी नामों का 'मंजरी' शब्द जहाँ नंददास की रसिक प्रकृति का सूचक है वहीं 'रूपमंजरी' (मित्र) के नाम की भी याद दिलाता है। हो सकता है कि इसी नाम की मिठास नंददास को भाई हो और उन्होंने उक्त ग्रंथों का नामकरण 'मंजरी' युक्त किया हो।

(७) रानी माँगौ छोटा सा ग्रंथ है। इसके आदि में "मैं जुवती जाँचन व्रत लीन्हों" की प्रतिज्ञा से ग्रंथ का उठान हुआ है और दान माँगने के रूप में कृष्ण-राधिका के प्रेम का वर्णन किया गया है। कूबरी को ध्यान में रखते हुए कवि ने राधिका के द्वारा कृष्ण पर बड़े मनोहर उपालंभ कराए हैं।

(८) श्यामसगाई—श्यामा-श्याम की सगाई की सभी घटनाएँ विस्तारपूर्वक इसमें वर्णित हैं। इसमें भँवरगीत की तरह दो पद रोला और एक दोहा और टेक का क्रम रखा गया है।

(९) रुक्मिणीमंगल—यह आख्यान है। रुक्मिणी-कथा का वर्णन है। इसमें कवि-प्रतिभा का आरंभिक रूप दृष्टिगोचर होता है। रोला छंद प्रयुक्त हुआ है। भाषा सुव्यवस्थित नहीं है।

(१०) योगलीला—योगी-वेश में कृष्ण का राधा के पास जाने का वर्णन है। भ्रमरगीत से विषय में अभिन्न होते हुए भी शैली में यह भिन्न है। अनुमान यही कहता है कि यह भ्रमरगीत का ही भिन्न रूप होगा।

(११) राजनीति हितोपदेश संस्कृत हितोपदेश के आधार पर लिखा गया है, किंतु कहा नहीं जा सकता कि यह ग्रंथ नंददास का ही है।

(१२) नासिकेतपुराण भाषा—यह नंददास का गद्य ग्रंथ है। मिश्रबंधुओं ने इनके दूसरे गद्य ग्रंथ विज्ञानार्थप्रवेशिका का भी उल्लेख किया है।

(१३) दशम स्कंध भाषा—इस ग्रंथ को नंददास ने अपने मित्र के कहने से लिखा—

पर विचित्र मित्र इक रहै, कृष्ण चरित सुन्यो सो चहै।
तिन कह्यो दशमस्कंध जु आहि, भाषा करी बरनहु ताहि ॥
सब्द संस्कृत के हैं जैसे, मो पै समझिए परै नहि तैसे।

जान पड़ता है कि यह भ्रमरगीत के पश्चात् की रचना है क्योंकि इसकी रचना शैली अति सुंदर है। कथा का वर्णन कहीं कहीं तो ऐसा हुआ है मानों दो मित्र परस्पर संवाद करते हैं।

(१४) भ्रमरगीत—हिंदी-साहित्य में सूरदास और नंददास के भ्रमरगीत बहुत ही सुंदर बन पड़े हैं। दोनों कवियों ने श्रीमद्-भागवत के मूल कथानक को लिया है, किंतु एक ही चंद्र की चंद्रिका जिस प्रकार दो भिन्न व्यक्तियों के हृदयों में भिन्न भिन्न भावों का संचार करती है उसी प्रकार यह कथानक भी अपने दोनों कवियों को साथ साथ लेकर अमर हुआ है। सूरदास मानसिक-परि-स्थितियों के विशेषज्ञ थे। वे जानते थे कि गोपियों की विरह-पीड़ा, जो कि भक्ति की पराकाष्ठा थी, दार्शनिक तर्क की नहीं, हरिदर्शन की प्यासी थी। अतएव गोपियों की विरहदशा और आवेश का प्रतिपादन सूरदास ने अपना प्रधान विषय रखा है। सरस एवं भावुक होने से सूर ने बड़ी ही ललित कल्पनाएँ की हैं। नंददास का भ्रमरगीत असंबद्ध नहीं है। वह वियोग की एक छोटी सी कथा है जिसमें अक्षय प्रेम-रस का सोता बहता है।

नंददास ने रोला, दोहा और टेक के संमिश्रण से बने हुए छंद में इसे लिखा है। इतना सुंदर नवीन छंद ब्रजभाषा के किसी कवि ने प्रयुक्त नहीं किया। रोला छंद में बहुत से कवियों ने कविता लिखी; हिंदी-साहित्य में दोहे की उतनी ही बहुलता है जितनी संस्कृत में अनु-

ट्टुप की। लेकिन नंददास से पहले किसने रोला तथा दोहे का इतना सुंदर परिणय किया है?

नंददास का प्रधान रस श्रृंगार है जिसके वियोगपक्ष के वर्णन में नंददास को विशेष सफलता मिली है। नंददास अपने प्रिय के ध्यान में आँख मूँदकर बैठे हैं। सहसा ही आँखों के आगे नंदनंदन एक झलक दिखा देते हैं और नंददास के—

पुलकि रोम सब अँग भए, भरि आए जल नैन।
कंठ घुटे गद्‌गद गिरा, बोले जात न बैन—
व्यवस्था प्रेम की।

'भ्रमरगीत' उस समय की प्रवृत्ति का अच्छा उदाहरण है। शांकर वेदांत में यद्यपि भक्ति को स्थान दिया गया था किंतु उसमें हृदय की वह समानता न थी जो रामानुज, निंबार्क, माध्व से होती हुई रामानंद के द्वारा उत्तर भारत में आई और जिसका पूर्ण विकास चैतन्य और वल्लभाचार्य में हुआ। ज्ञानमार्ग के अद्वैतवाद का इतना बोलबाला हो चुका था कि उसके अतिरिक्त मानव-जीवन के लिये और कुछ भी दार्शनिक सिद्धांत हो सकता है, यह नहीं जान पड़ता था। कबीर के निर्गुण पंथ ने इस बात को और भी आगे बढ़ाया। किंतु मानव हृदय सदैव एकसा नहीं रहता। ज्ञानमार्ग के विरुद्ध प्रतिक्रिया होने लगी और धीरे धीरे भक्ति के प्राधान्य से ज्ञानमार्ग दबने लगा। वल्लभाचार्य के समय तक भक्ति का इतना अधिक प्रचार हो गया था कि उस काल के भक्त कवियों ने—कबीर को छोड़कर—ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग के सिद्धांतों को संवाद रूप देकर भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादन करना अपना उद्देश्य समझ लिया था। सूर, तुलसी, नंददास इत्यादि भक्त कवि बार बार ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग की तुलना करते थे। इसी लिये परम ज्ञानी लोमश ऋषि का शाप परम भक्त भुशुंडि के लिये वरदान सिद्ध होता है और लोमश को हार माननी पड़ती है। और यही कारण है कि गोपियों के प्रेम ने ज्ञानी ऊधो को स्तब्ध कर दिया और अंत में उन्हें (उद्धव को) स्वीकार करना पड़ा कि 'मुझे अपने थोड़े से

ज्ञान का बड़ा मद था' अब मैं जान पाया हूँ कि वह तो ब्रज-प्रेम का आधा भी नहीं था—हाय मैं 'वृथा श्रम करि मर्‌यो'। अंत में उद्धव ब्रज-रज को माथे लगाकर मन में अपने जीवन को सफल हुआ समझते हैं—

मन में कह रज पायकै लै माथे निज धारि।
हौं तो कृतकृत ह्वै रह्यौं त्रिभुवन आनँद बारि॥

यद्यपि भ्रमरगीत में ज्ञान पर भक्ति की विजय संवाद रूप में है किंतु वह रुक्ष न होकर सरस, सरल और सुंदर ढंग से हुई है।

(१५) रास पंचाध्याई—रास पंचाध्याई नंददास का सर्वश्रेष्ठ मधुर ग्रंथ है। वल्लभ-संप्रदाय के धर्मग्रंथ श्रीमद्भागवत का विशद अध्ययन करना उनके लिये धर्म और काव्य, दोनों की दृष्टियों से अनिवार्य था। तुलसी के मानस की ख्याति नंददास के मन में श्रीमद्भागवत को भाषा में लिखने की इच्छा उत्पन्न करती यह स्वाभाविक था। अपने परम रसिक मित्र के अनुरोध ने इस कार्य की ओर जहाँ उन्हें अग्रसर किया वहाँ 'द्विजों की प्रार्थना से विट्ठलनाथ द्वारा आज्ञा न मिलने पर इन्हें केवल दशम स्कंध तक ही सीमित रह जाना पड़ा। अपने रसिक मित्र की खातिर रसिक नंददास वैसे भी कुछ उठा न रखते किंतु जब उनके मित्र स्वयं संस्कृत की कोमल-कांत पदावली से परिचित थे तब यह और भी आवश्यक हो गया है कि वे पूर्ण परिश्रम से शब्दों का भी अध्ययन करके संस्कृत की सी सरस, मधुर पदावली अपने दशम स्कंध में लावें'। उस समय की प्रवृत्ति के अनुकूल यह आवश्यक था कि संगीत की धारा में नंददास प्रवाहित हों। श्रीमद्भागवत की कृष्णकथा को राधा के रंग से अनुरंजित कर जयदेव अपने गीतगोविंद का संगीत सुना चुके थे। नंददास के समसामयिक भक्त कवि सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई सभी संगीतज्ञ थे। वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ स्वयं कुशल गायक थे। गोविंदस्वामी, श्रीनाथजी तथा नवनीतप्रिय के सामने कीर्तन करते करते गायनाचार्य हो गए थे। फिर 'रसिक राग रँगमग पगे' नंददास वल्लभ-संप्रदाय के शिष्यत्व में भी संगीत से अछूते रह जाते यह असंभव था। नंददास

के काव्य की कोमल, कांत पदावली संगीत-पूर्ण हैं। रास पंचाध्याई इसका श्रेष्ठ प्रमाण है।

रास पंचाध्याई की कथा एक धार्मिक रूपक है और श्रीमद्भागवत से ली गई है। भागवत दशम स्कंध के २९ से ३३ अध्याय तक की कथा रास पंचाध्याई का आधार है। इस कथा को जयदेव के गीत-गोविंद ने राधा-प्रदान कर संगीत-माधुर्य और कोमल-कांत-पदावली से पूर्ण कर दिया था। कबीर की विचारधारा के विरुद्ध होनेवाली प्रतिक्रिया ने इसे पुष्ट कर दिया, किंतु ज्ञान और योग का समावेश भी अनजाने इसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप इस कथा में हो गया। वल्लभाचार्य की विचारधारा ने इसे आनंद और रस से सराबोर कर दिया था। नंददास ने आवश्यकतानुसार इन सब का उपयोग कर कथा को बहुत ही सरस बना दिया। अद्वैत तथा निर्गुण पंथ के उपदेशों से विरस जनता की हृदय-वाटिका भक्ति के मेघों के गर्जन-वर्षण से सहसा ही फूल उठी।

किंतु कृष्णकथा को सरस और आकर्षक बनाने के लिये नंददास ने शिष्टता को च्युत नहीं होने दिया। रासलीला की आध्यात्मिकता तथा कृष्णसौंदर्य से उन्होंने समस्त ब्रजभूमि के लता-कुंज, वन-वृक्ष, पशु-पक्षी इत्यादि को अनुरंजित करके भक्ति का प्रतिपादन किया है। इसी लिये रास पंचाध्याई के आरंभ में ही वृंदावन का वर्णन साधारण वनों की तरह नंददास ने नहीं किया है। उनका वृंदावन केवल कृष्णलीला ही के लिये भू पर अवतरित हुआ है, वह वास्तव में इस संसार का नहीं है। वहाँ के पहाड़ों, पक्षियों, मृगों तथा लताओं पर काल का प्रभाव नहीं पड़ सकता—वहाँ सर्वदा मेघदूत की अलका की भाँति वसंत ऋतु ही रहती है। वहाँ की भूमि चिंतामणि सी है। और जिस वृक्ष के नीचे रासलीला होती है वह वृक्ष कल्पद्रुम है। और वे गोपियाँ साधारण स्त्रियाँ नहीं हैं। वे प्रेम-रस-भरी और पूरी गुन-भरी हैं।

कृष्ण का स्वर्गीय सौंदर्य, वन, उपवन, पुष्प, पवन, आकाश, पृथ्वी, पुरुष, स्त्री सभी को सौंदर्यशाली बना रहा है। इसी सौंदर्य

के शब्द-चित्रों से नंददास ने मधुर ब्रजभाषा को और भी मधुर बना दिया। रसावेश से हर्षित, लटकते हुए कृष्ण ने कुसुम-धूल से धुँधले कुंज में प्रवेश किया जहाँ मधुकरों के पुंज थे। इसका वर्णन कवि करता है—

कुसुम-धूरि धूँधरी कुंज मधुकरनि पुंजन जहँ।
हुलसत रस आवेस, लटकि कीन्हौ प्रबेस तहँ॥

इस शब्द-कुंज में 'धू' की कुसुम-धूलि कई बार उड़ रही है, 'म' की पुनरावृत्ति से भौंरों की गूँज सुनाई पड़ रही है और यद्यपि कवि ने केवल इतना ही कहा है कि वहाँ भौंरे हैं, फिर भी हम स्पष्ट सुन रहे हैं कि वहाँ भौंरे गूँज रहे हैं। पहला पद एक कुंज की तरह है। अनुस्वार वर्ण सघन पल्लवों की तरह 'र' तथा 'ध' को आवेष्टित किए हैं, 'ज' की पुनरावृत्ति ने उस कुंज को अँधेरा कर दिया है। सहसा ही दूसरा पद हुलसता आता है, जो श्रीकृष्ण की भाँति 'लटक' कर उस पहले पद के कुंज में प्रवेश कर जाता है।

दूसरा शब्द-चित्र देखिए। सघन कुंज में चंद्रमा की पतली किरण झिलमिलाती हुई, काँपती हुई गिर रही है—

फटिक-छटा-सी किरन कुंज-रंध्रन ह्वै आई!

'फ' का उच्चारण ओष्ठ से होता है, इसलिये फटिक के कहते ही होंठ खुल जाते हैं। 'छ' का उच्चारण तालु से होता है, इसलिये 'छ' के कहते ही होंठ और खुल जाते हैं और दाँतों की फटिक स्वच्छता दिखाई देती है। बस, दंतपंक्ति ही सा स्वच्छ किरण का वर्ण है। लेकिन यह किरण नहीं है, 'किरन' है, क्योंकि 'कुंज की सघन रंध्र' से छनती हुई आ रही है।

यह तो स्वरूप का चित्र हुआ। अब गति का एक चित्र देखिए—

मंद मंद चलि चारु चंद्रमा अस छवि छाई।

इस पद में अधिक वर्ण ह्रस्व हैं (इ, उ सब छोटे हैं)। पद अत्यंत धीरे धीरे चल रहा है, जैसे आकाश में चंद्रमा।

रास पंचाध्याई में इस प्रकार के वर्णन भरे हैं। इसमें भाव बहुत दूर तक बहुत खूबी से बहे हैं। संगीत-प्रवाह विद्यमान होने से इसमें माधुर्य गुण की प्रधानता है जो कि सरस हृदय की छाया में और

भी अधिक खिल उठा है। श्रृंगार रस के मुख्य होने पर भी करुण और शांत रस इसमें सुंदर रूप से विद्यमान है—

कहाँ हमरी प्रीति, कहाँ पिय ! तुव निठुराई।
मनि पखान सौं खचै, दई तैं कछु न बस्याई॥
स्रवन कीरतन, ध्यान-सार, सुमिरन को है पुनि।
ग्यान-सार, हरि-ध्यान-सार, स्रुति-सार, गुही गुनि॥

प्रकृति का नंददास ने स्वतंत्र रूप में वर्णन नहीं किया। फिर भी नंददास प्रकृति को यथेष्ट प्रेम करते थे। उनका चंद्रोदय-वर्णन इसका साक्षी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि "रास पंचाध्याई आनंद की सिद्धावस्था या उपयोग पक्ष को लेकर चलनेवाला काव्य है।"

नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित खोज की रिपोर्टों में आई हुई इन रचनाओं के अतिरिक्त नंददास के दो और भी ग्रंथ 'सुदामा चरित' और 'सिद्धांत पंचाध्याई' मिले हैं।

(१६) सुदामा चरित साधारण श्रेणी का ग्रंथ है। इसमें सुदामा और कृष्ण की कथा बहुत संक्षेप में कही गई है।

(१७) सिद्धांत पंचाध्याई दार्शनिक-विचार-प्रधान ग्रंथ है। रास पंचाध्याई में आए हुए दार्शनिक विचारों का ही इसमें विस्तार से विवेचन किया गया है।

नंददास की सब रचनाएँ ब्रजभाषा में हैं। नंददास की ब्रजभाषा न जन-साधारण की ब्रजभाषा थी और न परिष्कृत, रूढ़िगत ही। उनकी भाषा जन-साधारण की भाषा का वह परिष्कृत रूप है जो अभी साहित्यिक रूढ़ियों से इतनी नहीं जकड़ गई थी कि साधारण जनता से उसका संबंध बिलकुल टूट ही गया हो। नंददास ने अपनी प्रतिभा, अध्ययन और कला का परिचय विभिन्न विषयों पर लिखकर उस भक्तिकाल में दिया जब भक्ति के अतिरिक्त अन्य ओर जाने की कम संभावना थी। इस प्रकार नंददास ने ब्रजभाषा साहित्य को बहुत संपन्न किया।

अकबर का राजत्व-काल आंदोलनों और विप्लवों का समय नहीं था। इस्लाम का चाँद पूर्ण हो रहा था। पृथ्वी पर शांति छाई जान पड़ती थी। वह ललित कलाओं का वसंतकाल था जब भक्ति की सरस धारा समस्त भारतवर्ष में लहरा रही थी। हिंदू जनता सुखसंपन्न जान पड़ती थी। वह राजनीति को छोड़कर रासलीला में बेसुध हो रही थी। वह कृष्ण का शंखनाद नहीं सुन रही थी, कृष्ण की मुरली-ध्वनि से मोहित हो रही थी। इसी काल में कृष्ण-भक्ति संप्रदाय का कवि होने के कारण नंददास में कबीर की सी सूझ, नया संदेश, नई अभिव्यंजना और तुलसी का-सा आत्मबल नहीं पाया जाता। कृष्ण-काव्य के सभी कवि अपने कृष्ण को लेकर ही खुश रहे। आगरा के निकट होने से, अकबर की नीति ने कृष्ण-काव्य के कवियों को ऐसा बेहोश कर लिया था कि उन्हें कृष्ण में सौंदर्य के अतिरिक्त और कुछ सूझा ही नहीं। आगरा के वातावरण से दूर अयोध्या और काशी में पले हुए रामभक्त तुलसी की कथा उस समय कुछ और ही थी। वही उस समय एक ऐसे भक्त कवि थे (हरिदास को छोड़कर) जो अकबर को उस समय जब कि सूरदास सरीखे भक्त कवि हजारी मनसबदारी की लपेट में आ चुके थे और जगन्नाथ सरीखे आत्माभिमानी पंडित 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' का राग अलाप रहे थे, कोरा उत्तर दे सकते थे—

> हम चाकर रघुबीर के, पटौ लिखो दरबार।
> तुलसी अब का होहिंगे, नर के मनसबदार॥

तुलसी राम के भक्त थे—धनुर्धारी राम के। वे पूर्ण रूप से जानते थे कि धनुर्धारी राम से ही जनता के दुःखों का अंत हो सकता है।

> एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
> एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास॥

इस आत्मबल के कारण ही तुलसी ने समाज की बेल में फैले हुए विष के प्रभाव को नष्ट करने के लिये अपना समस्त जीवन अनंत सौंदर्य-शील-शक्ति-संपन्न धनुर्धारी राम के गुणगान में लगाकर बेहोशी

की नींद में पड़ी जनता का उद्धार किया और नंददास इत्यादि 'ब्रज-वासी सब संत' जनता के हृदय में स्थान पाकर भी उसका उद्धार न कर सके। अपितु जिस शृंगारी 'चत्रभुजा' के ध्यान में वे स्वयं पड़े हुए थे उसकी ओर जनता को आकृष्ट कर भी वे निश्शंक न रह सके। शृंगार के लौकिक पक्ष के चित्रण में स्थान स्थान पर आध्यात्मिक पक्ष की सूचना देने की उन्हें आवश्यकता पड़ी ही—

जो रस सिव, अज खोजत, जोजत जोगी-जन हिय।
सो रज बंदन करन लगीं, सिर धरन लगीं तिय॥

नंददास प्रधानत: यौवन के कवि थे। वे 'दाऊ के खिझाए' हुए बालकृष्ण के 'रिस' पर मोहित होनेवाले कवि नहीं थे। उन्होंने कृष्ण को यशोदा से 'मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी' पूछते नहीं सुना। उन्होंने अपने यौवन के प्रथम प्रहर में रासलीला करते हुए चिरयुवा मोहन को अपने हृदय में देखा और उसी की पूजा की। वे अपने मोहन की तरुणाई पर एक गोपिका की भाँति मुग्ध थे। वे रसावेश में इतने तल्लीन थे कि उनका ध्यान इस बात की ओर भी नहीं गया कि उनके प्रिय मोहन कभी शिशु भी थे। सूर में बाललीला समाप्त कर लेने के पश्चात् कृष्ण यौवन में पदार्पण करके नंददास में आते हैं।

नंददास में जीवन की वह अनेक-रूपता नहीं है जो तुलसी को सार्वभौम कवि बना देती है। पर उनमें साहित्य-भावना सदैव रही है। उन्होंने अपनी रचनाओं को साहित्यिक नियमों की दृष्टि से बनाया है। रास पंचाध्याई में नखशिख-वर्णन, वृंदावन-वर्णन, शरद-वर्णन, चंद्रोदय-वर्णन इत्यादि सब काव्य-शास्त्र के अनुकूल हुए हैं। मानमंजरी में पर्यायवाची शब्दों सहित नायक-नायिका-भेद तथा राधा के मान-संबंधी पद रीति-कालीन प्रवृत्ति को लिए हुए हैं। इसी प्रकार विरह-मंजरी बारहमासा के ढंग से लिखी गई है। और हाव-भाव-हेला-दिक सहित नायक-नायिका-भेद समझाने का प्रयत्न रसमंजरी में किया गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वल्लभाचार्य ने जनता के सम्मुख भगवान् की जिस रस-विभूति को रखा था वह नंददास में रीतिकालीन

प्रवृत्ति के रूप में अंकुरित हुई। इस दृष्टि से नंददास को रीतिकाल का सबसे पहला कवि मानना अनुचित न होगा।

नंददास यदि भक्ति-जनित अंत:प्रेरणा से अपनी काव्य-रचना करते तो निश्चय ही वह कृष्ण-काव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि होते और तुलसी के साथ उन्हें स्थान मिलता। यह ठीक है कि समस्त कृष्ण-साहित्य में कोई भी हिंदी का कवि नंददास की तरह संबद्ध रूप से कृष्ण-कथा लिखनेवाला नहीं हुआ है, किंतु हमें भूल न जाना चाहिए कि इनकी रचनाओं के मूल में उत्कृष्ट भक्तिजनित अंत:प्रेरणा की स्फूर्ति नहीं है, वरन् एक परम रसिक मित्र की आज्ञा से उत्पन्न हुई काव्य-रचना की अभिलाषा है। अत: यह स्वाभाविक है कि नंददास की रचनाओं में भक्तजनोचित अंत:प्रेरणा की तीव्रता न मिलकर रसिक हृदय का प्रयास ही मिले। किंतु इस प्रयास में नंददास को जो सफलता मिली है वही उनकी विशेषता है। सूरदास की भाँति उनकी कविताएँ दो श्रेणियों में नहीं बाँटी जा सकतीं—एक तो वह श्रेणी जिसमें कविता कवि का स्वाभाविक उद्गार होने के कारण अपने भावों के माधुर्य से मधुर हो जाती है और दूसरी वह जिसमें भावों में तो मधुरता रहती नहीं है, शब्दों में भी नहीं रहती। नंददास की कविता में जहाँ भाव मधुर नहीं हैं, वहाँ उन्होंने 'कोटि जतन' से भाषा को सजाया है। सूर और तुलसी भक्त होने के कारण श्रेष्ठ कवि थे, किंतु नंददास उन कवियों में थे जिन्होंने अंतरंग के साथ बहिरंग का विशेष ध्यान रखा। उनके विषय में प्रसिद्ध ही है 'और सब गढ़िया, नंददास जड़िया।' नंददास के काव्य का प्रत्येक पद एक मुक्तक कविता है और हार की लड़ी का एक मोती है। वह एक बार ही ग्रथित और मुक्त है। नंददास गीतगोविंदकार जयदेव से केवल एक बात में कम थे—जयदेव ने अपने भक्तिनि:सृत मधुर संगीत के सहारे राधा को खोज निकाला था किंतु नंददास अपने सने हुए हाथों में 'कोटि जतनन से पोई' 'उज्ज्वल रस माल' को लिए उसकी बाट जोहते ही रह गए।

चयन

साहित्य-सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष का भाषण

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के २८वें (काशी-)अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष के पद से महामना पं० मदनमोहन मालवीयजी ने जो महत्त्वपूर्ण भाषण दिया उसके मुख्य अंश यहाँ उद्धृत हैं[1]—

इस सम्मेलन का अपना ही महत्व है। सन् १९१० में काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के निर्णय पर हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन बड़े समारोह से हुआ और उस समय लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् पं० सुधाकर द्विवेदीजी उस सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष थे[2]। आज २९ वर्ष के बाद सम्मेलन का २८वाँ अधिवेशन ठीक उसी स्थान पर हो रहा है जहाँ पर प्रथम सम्मेलन हुआ था। नागरी-प्रचारिणी सभा ने अपने जन्मकाल सन् १८९३ से हिंदी-साहित्य और नागरी लिपि की जो सेवा की है वह प्रायः सबको विदित है। इसी प्रकार हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ने भी हिंदी के प्रचार के लिये जो कार्य किया और उन्नति की वह अवर्णनीय है। अब तक भारत के विभिन्न स्थानों में हिंदी-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वानों के सभापतित्व में २७ सम्मेलन हो चुके हैं और लोगों के मन में नागरी अक्षरों के प्रति और हिंदी के प्रति प्रेम और उत्साह फैल गया है। यह क्या कम प्रशंसा की बात है कि मद्रास जैसे सुदूर प्रांत में सम्मेलन के उद्योग से अब डेढ़ लाख से अधिक पुरुष और स्त्रियाँ शुद्ध हिंदी पढ़, लिख और बोल सकती हैं। उत्कल में, बंगाल में, सिंध, पंजाब, महाराष्ट्र, गुजरात आदि प्रांतों में हिंदी भाषा का

१—खेद है कि हम इस उद्धरण को यथास्थान गत अंक में प्रकाशित न कर सके। —संपादक।

२—पाठकों को यह स्मरण होगा कि महामना मालवीयजी उस प्रथम अधिवेशन के सभापति थे।

निरंतर प्रचार हो रहा है। इसका श्रेय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन को ही है।

× × × ×

जो कार्य हो चुका वह अच्छा ही हुआ, उसके अतिरिक्त बड़े बड़े प्रश्न नागरीप्रचारिणी सभा और साहित्य-सम्मेलन के सामने उपस्थित हैं, और यह आवश्यक है कि हिंदी भाषा और नागरी लिपि के प्रेमी सभा और सम्मेलन के कार्यों को ध्यान से देखते रहें और उसमें भाषा तथा लिपि की रक्षा के कार्य में बहुत सावधानता से काम करें।

इस स्थान पर यह संभव नहीं है कि मैं उन सब विषयों की चर्चा करूँ जिन पर सम्मेलन को विचार करना है। मैं केवल दो बातों पर विशेष ध्यान दिलाना चाहता हूँ। पहला हिंदी भाषा के स्वरूप पर, दूसरा नागरी लिपि पर। हमें यह जान लेना चाहिए कि भाषा बहुत सी बातों के संयोग से बनती है, वह बनाई नहीं जाती। हिंदी भाषा के विषय में कम से कम यह बात बहुत स्पष्ट है, इसका स्वरूप भाषा के बनने के अनुसार बना है, इसका निकास उस भाषा से है जो पृथ्वी-मंडल की भाषाओं में पुरानी है और जिसका सबसे पुराना ग्रंथ ऋग्वेद है, जिसकी प्राचीनता और महत्ता का यूरोपियन लेखक भी आदर करते हैं और कम से कम चार हजार वर्षों का पुराना मानते हैं। ऋग्वेद की पहली ऋचा "अग्निमीळे पुरोहितं" में पहला शब्द आया है 'अग्निम्', वह आज भी हिंदी में अगिन और आग के नाम से प्रचलित है। दूसरा शब्द आया है 'पुरोहितम्'। वह जैसा हजारों वर्ष पहले था वैसा ही आज भी है। यदि कोष लेकर कोई बैठे तो जान पड़ेगा कितने विशेष्य, विशेषण और क्रियात्मक शब्द हिंदी में हैं, उनका मूल संस्कृत है। भाषा-विज्ञान शास्त्र जाननेवालों का कहना है कि हिंदी के समान दूसरी कोई भाषा नहीं है जिसमें तद्भव शब्दों के इतने और ऐसे सुंदर उदाहरण मिलें जितने हिंदी में मिलते हैं। जैसे नदी की तली में लुढ़कते लुढ़कते पत्थर गोल और चिकने हो जाते हैं, वैसे ही संस्कृत के शब्द समय के प्रवाह की रगड़ से गोल और चिकने हो गए। कर्ण कान हो गया, अक्ष आँख,

मुख मुँह, दंत दाँत, हस्त हाथ, शिर सिर, मिष्ट मीठा, रुक्ष रूखा, त्रीणि तीन, सप्त सात हुआ। ऐसे ही और भी अनेक शब्द हैं।

मुसलमानों के समय में बहुतेरे मुसलमानी शब्द हमारी भाषा में मिल गए और अब वे भाषा के अंग हैं। इसी प्रकार अँगरेजों के आने से कुछ अँगरेजी भाषा के शब्द भी हमारी भाषा में मिल गए, किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हमारी भाषा उन शब्दों से बनी है या उनके कारण बनी है। हमारी भाषा उन्हीं शब्दों से बनी है जो संस्कृत से प्राकृत और अपभ्रंश बनकर हिंदी की शोभा को बढ़ाते हैं। जीवित भाषाओं की यह स्वाभाविक गति है कि उनमें प्रयोजन के अनुसार दूसरी भाषा के शब्द मिला लिए जाते हैं। किंतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं होना चाहिए कि हम अपने शब्दों को छोड़कर उनके स्थान पर दूसरी भाषा के शब्द भी ग्रहण करें। हमें केवल उन्हीं विदेशी शब्दों को ग्रहण करना चाहिए जिनसे हमारी भाषा की शक्ति बढ़े और भाव को स्पष्ट प्रकट करने में सहायता मिले।

जब से भारतीयों के राष्ट्र को फिर से स्थापन करने का जतन होने लगा तब से इस बात की चिंता बहुत से देशभक्तों को हो गई है कि राष्ट्रीय कार्यों और व्यवहारों के लिये एक राष्ट्रभाषा मान ली जाय। अतः उन्होंने हिंदी को राष्ट्रभाषा मान लिया क्योंकि यही देश के अधिक स्थानों में बोली और समझी जाती है। यह उद्योग सर्वथा सराहने के योग्य है। किंतु जिस रीति से आजकल भाषा का स्वरूप बदलने का जतन हो रहा है वह मेरी राय में देश और समाज के लिये हितकारी नहीं होगा और हमारे धार्मिक तथा अन्य सांस्कृतिक भावों को इससे हानि पहुँचने की आशंका है। उदाहरण के लिये भाषा-सुधार के उद्देश्य से लिखी हुई एक नई पाठ्य पुस्तक का उदाहरण आप लोगों को दिखाता हूँ जो 'महमूद सीरीज' की रीडरों में से, रामचंद्रजी की कथा में से, लिया गया है—"बहुत पुराने जमाने की बात है कि अयोध्या में दशरथ नाम के एक राजा राज करते थे। उनके राज में रैयत बड़ी खुशी के साथ अपनी जिंदगी बिताती थी। बादशाह इतने

अच्छे थे कि वे कभी किसी को किसी चीज की तकलीफ न होने देते थे।" रामचंद्रजी की शिक्षा के विषय में उसी पुस्तक में लिखा है—"बादशाह ने इन्हें पढ़ाने के लिये एक गुरु बहाल कर दिया, गुरुजी सभी लड़कों के पढ़ाने के तरीके से पूरे वाकिफ थे। कुछ ही दिनों में बादशाह के चारों बेटों ने सभी तालीम अच्छी तरह सीख ली।"

उसी पुस्तकमाला में श्रीकृष्णचंद्रजी के जीवनचरित्र में लिखा है—"दूसरे दिन सुबह में वसुदेव ने कंस को वह लड़की देते हुए कहा, देवकी के हमल से यही लड़की पैदा हुई है।" आगे कृष्णजी के गुणों का वर्णन करते हुए उसमें लिखा है—"श्रीकृष्णचंद्र में सभी सिफतें और हुनर थे। थोड़े ही दिनों में वे इतने हुनरमंद हो गए कि लोग उनकी हुनरमंदी की एक जबान से तारीफ करने लगे। उन्होंने कमान और किताब वगैरह की इतनी इलम हासिल की कि जिससे उनकी होशियारी की खबर तमाम फैल गई।" उसी पुस्तकमाला में गंगाजी का वर्णन इस प्रकार है—"गंगा नदी हिंदुस्तान की सभी नदियों में ज्यादा इज्जत और खातिर की नजरों से देखी जाती है।" यह भाषा और कोई भाषा हो, हिंदी नहीं हो सकती।

दूसरा प्रश्न नागरी लिपि का है। सुधार के नाम पर नागरी लिपि का जो बिगाड़ किया जा रहा है उससे हम लोगों को सावधान हो जाना चाहिए। कई सदियों के निरंतर कलात्मक विकास होने के बाद नागरी अक्षरों ने एक सुंदर रूप स्थिर कर लिया है और इस लिपि को सीखनेवाला बिना किसी बाधा के लिखने और पढ़ने लगता है। इससे अधिक लिपि की श्रेष्ठता का और क्या प्रमाण हो सकता है? इसमें अनावश्यक परिवर्तन करने से यह लिपि कल की वस्तु हो जायगी और हमारा संपूर्ण लिखा हुआ और छपा हुआ साहित्य अजायबघर की सामग्री बन जायगा। अतः सब प्रतिनिधियों से मेरा निवेदन है कि वे इन दोनों समस्याओं पर गंभीरतापूर्वक सुस्थिर होकर और सावधान होकर विचार करें और ऐसे परिवर्तनों का विरोध करें जो हमारे सांस्कृतिक जीवन में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित करें।

× × × ×

'कुछ विचारणीय शब्द'

वर्धा से प्रकाशित 'सबकी बोली' वर्ष १, अंक ४ में श्री काका कालेलकर ने कुछ पारिभाषिक शब्दों की बहुत उपयोगी चर्चा की है। वह यहाँ उद्धृत है :—

कारटून—विरूप चित्र, कटाक्ष चित्र, व्यंग चित्र।

इनमें से 'व्यंग चित्र' में उच्चारण की सहूलियत नहीं है। और उच्चारण अशुद्ध भी हो जाता है। 'कटाक्ष चित्र' बहुत बड़ा है। 'विरूप चित्र' यह शब्द कुछ अच्छा-सा मालूम होता है।

मारजिन—कोर, हाशिया, मर्यादा, समास।

'समास' शब्द अच्छा है और पुराना रूढ़ भी है। 'कोर' भी उतना ही अच्छा है और आसानी से चल सकता है। 'हाशिया' गुजराती में चलता ही है। हम 'कोर' शब्द चलाने के पक्ष में हैं। अगर 'समास' शब्द कालग्रस्त न हो जाता तो उसे ही चलाते।

पैराग्राफ—कंडिका, अनुच्छेद, परिच्छेद, पैरा—

वगैरा शब्द चल सकते हैं। कंडिका सबसे अच्छा और सबसे पुराना शब्द है। वेद-काल से चला आ रहा है और उच्चारण सुलभ भी है। कंडिका शब्द स्त्रीलिंग है।

शिक्षण-संस्थाओं के सालाना स्नेह-सम्मेलन (Social gathering) होते हैं उनमें जो 'बैठे-खेल' (Indoor games) और 'मैदानी-खेल' (Outdoor games) होते हैं, उनके लिये भी देशी नाम चाहिए। Tug-of-war (टग् ऑफ़् वार) का खेल बड़ा ही लोकप्रिय है। उसे 'रस्साकशी' का अरसिक नाम देना अच्छा नहीं। 'गजेंद्र-मोक्ष' की कथा में हाथी जमीन की ओर खींचता है और मगर पानी की ओर खींचता है। इस पर से ऐसी खींचातानी को 'गज-ग्राह' कहते हैं 'टग् ऑफ़् वार' के लिये यह शब्द गुजरात में प्रचलित हो भी गया है।

इसी तरह 'लाँग जंप' के लिये 'हनुमान-कूद' या 'लंका-कूद' अच्छा शब्द है। हनुमान की 'लंका-कूद' से बढ़कर और कौन सी लंबी कूद हो सकती है ?

इसी तरह हाई जंप (High jump) के लिये 'अंगद-कूद' अच्छा शब्द होगा[१]। × × ×

—कृ
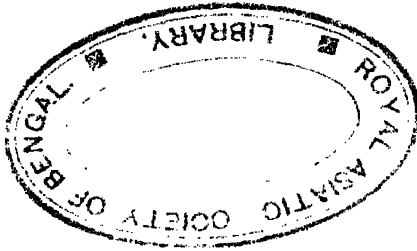
१—'सबकी बोली' में प्रकाशित काकाजी की 'पारिभाषिक-शब्द-चर्चा' का हम सहर्ष स्वागत करते हैं। ऊपर के प्रस्तावित शब्दों में 'कारटून' के लिये हम 'व्यंग चित्र' को ही सार्थक समझते हैं। 'विरूप चित्र' में 'कारटून' की विरूपता ही आती है, उसकी व्यंजना नहीं। और इनडोर-गेम्स के लिये 'बैठे खेल' पूरा बैठता नहीं। शेष प्रस्तावित शब्द अच्छे हैं। इनका प्रयोग होना चाहिए। 'सबकी बोली' के उक्त अंक में ही काकाजी ने 'सभा-समितियों की परिभाषाएँ' भी प्रस्तुत की हैं। उनके संबंध में हम आगे चर्चा करेंगे।—संपादक।

समीक्षा
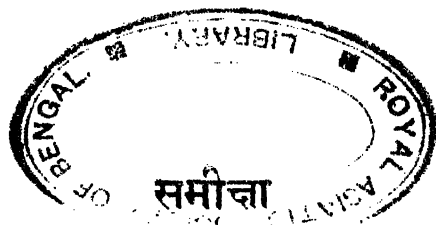
सर्वोदय—लेखक श्री गाँधीजी; नवजीवनमाला—चौथी पुस्तक, प्रकाशक सस्ता साहित्यमंडल दिल्ली : लखनऊ; मूल्य एक आना।

सन् १९२९-३० ई० में "करोड़ों हिंदी-पढ़े लोगों में महात्मा गाँधी के विचारों का प्रचार—खासकर खादी संबंधी। और भी सत्पुरुषों के ऐसे विचार फैलाना जो भारत की स्वतंत्रता के महान् यज्ञ में सहायक हों।" इस उद्देश्य से श्री महावीरप्रसाद पोद्दार और श्री सीताराम सेकसरिया ने शुद्ध खादी भंडार, कलकत्ता से बहुत सस्ते दामों की छोटी छोटी बहुमूल्य पुस्तकों की 'नवजीवनमाला' प्रकाशित की थी। ५-९-१९२९ ई० के 'हिंदी नवजीवन' में गाँधीजी ने "इस सुंदर, सस्ते और उपयोगी हिंदी-साहित्य के प्रकाशन के उद्योग का स्वागत" किया था और "कुल खादी भंडारों से इन्हें (पुस्तकों को) बिक्री के लिये रखने की सिफारिश" की थी। उस काल में इस माला की बहुत वृद्धि हुई थी और इसके द्वारा बहुत लोकशिक्षण और लोकोज्जीवन हुआ था। अब सस्ता साहित्यमंडल (दिल्ली : लखनऊ) ने इस माला की नई योजना चलाई है। 'सर्वोदय' नई नवजीवनमाला की चौथी पुस्तक है।

सर्वोदय उस श्रेष्ठ कृति का सार है जिसने गाँधीजी के जीवन में 'चमत्कारी प्रभाव' उत्पन्न किया था, उन्हें नई सूझ दी थी। अपनी 'आत्मकथा' के चौथे भाग के अठारहवें प्रकरण में गाँधीजी ने उसी चमत्कारी पुस्तक, अँगरेजी के महान् लेखक जान रस्किन की 'अन्टु दिस लास्ट' का वर्णन किया है। 'अन्टु दिस लास्ट' अँगरेजी नीति-साहित्य का एक रत्न है। स्वयं रस्किन ने उसे अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति माना था। गाँधीजी को अपने दक्षिण-अफ्रिका के प्रयोगों में उससे बड़ी शक्ति और स्फूर्ति मिली थी, क्योंकि उनके मन में उसके से ही भाव आंदोलित हो रहे थे। उसमें प्रतिपादित सिद्धांत का निष्कर्ष उन्होंने इस प्रकार निकाला था—

"१—सबके भले में अपना भला है।

२—वकील और नाई दोनों के काम की कीमत एक सी होनी चाहिए; क्योंकि आजीविका का हक दोनों को एक सा है।

३—सादा, मजदूर का और किसान का जीवन ही सच्चा जीवन है।"

'पहली बात में पिछली दोनों बातें समाविष्ट हैं' यह उन्हें स्पष्ट दिखाई दिया। पहली बात तो वे स्वयं समझ चुके थे; दूसरी का आभास भी उन्हें मिलने लगा था। परंतु तीसरी बात ने तो उन्हें नई ही सूझ दी। इसने उन्हें ऐसा प्रभावित और प्रेरित किया कि पुस्तक पढ़ने के दूसरे दिन ही वे अपने जीवन को उसके अनुसार बनाने की चिंता में लग गए। फिनिक्स आश्रम की स्थापना इसका निकट परिणाम था। आगे तो इस सिद्धांत को उन्होंने जैसा चरितार्थ किया, वह विश्वविदित है।

रस्किन को गाँधीजी ने प्रसिद्ध ग्रीक विचारक सुकरात की परंपरा में पाया। सुकरात ने जिस सदाचारनीति के संकेत किए थे, रस्किन ने उसकी विशद व्याख्या कर दी। भारतीय नीतिशास्त्र में उसकी संगति भी गाँधीजी ने देख ली होगी। अतः 'अन्टु दिस लास्ट' में बहुमूल्य और उपादेय हितोपदेश पाकर उन्होंने उसका सार गुजराती में लिख डाला। और सबका उदय, सबका कल्याण ही पुस्तक का उद्देश्य होने के कारण इस सार का नाम उन्होंने 'सर्वोदय' रखा। 'सचाई की जड़', 'दौलत की नसें', 'अदल इंसाफ' और 'सत्य क्या है ?' इन चार संक्षिप्त अध्यायों में पुस्तक का सार, पाँचवें में 'उपसंहार' और आरंभ में 'प्रस्तावना' लिखकर उन्होंने 'सर्वोदय' को संपूर्ण किया।

सर्वोदय को नवजीवनमाला में गुंफित कर माला के संपादकों ने हिंदी पाठकों का बहुत उपकार किया है। पुस्तक का आकार और प्रकार इस माला के योग्य ही है।

ऐसे सुपाठ्य पुस्तक में 'अदल इंसाफ' का सा विदेशीपन बहुत खटकता है। आशा है, आगे के संस्करण में ऐसे कुछ प्रयोग सुधार दिए जायँगे। हमें विश्वास है कि इस पुस्तक को प्रत्येक विचारशील हिंदी पाठक पढ़ेगा और इसका यथेष्ट प्रचार होगा। —कृ

मंदार—लेखक श्री गिरिजाशंकर मिश्र 'गिरीश'; प्रकाशक श्री दुलारेलाल भार्गव, अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला लखनऊ; पृष्ठ संख्या १२६; मूल्य १)।

श्री गिरिजाशंकर मिश्र 'गिरीश' की कविताओं का प्रथम संग्रह होने पर भी 'मंदार' सुंदर है। पुस्तक के आरंभ में श्री सुमित्रानंदन पंत के ये वाक्य बहुत ही सार्थक हैं—'कवि की शब्दयोजना सरल और मधुर है। उसमें अपने भावों को प्रकट करने की शक्ति है। उसकी कल्पना विकासशील और हृदयस्पर्शी है।' वस्तुतः कवि का हृदय ही सरल और मधुर है। उसके भावों में कहीं जटिलता नहीं है। वैसी ही उसकी पंक्तियाँ भी सीधे हृदय में बैठती जाती हैं; कहीं रुकने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह संभव है कि कुछ कविताएँ अपनी सरलता के कारण ही खोखली जान पड़ें, पर कवि ने इससे बचने के लिये गूढ़ शब्दावली अथवा बीजक-शैली द्वारा आवरण डालने की चेष्टा कहीं नहीं की है।

इस संग्रह में अनेक कविताएँ भिन्न भिन्न विषयों पर हैं, जिनमें केवल रोना या गाना ही नहीं है; हर्ष, विस्मय, उत्साह, करुणा, प्रेम आदि अनेक भावों का स्वाद मिलेगा। इंद्रधनुष, बिंदिया, अश्रुछबि, हरसिंगार, वर्षा-विहार, वनबाला आदि बहुत सुंदर रचनाएँ हैं। इनमें प्रकृत के वर्णन के लिये तत्सम अप्रस्तुत की 'संभावना' में कवि की विधायक कल्पना बहुत सफलतापूर्वक और परिष्कृत रूप में प्रवृत्त हुई है। 'इंद्रधनुष' की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

तुम प्रकृति-पाणि के अर्धवलय, तुम व्योम-हृदय के हार बने,
तुम प्रकृति-प्रिया की पिचकारी की रंग-बिरंगी धार बने।
तुम इस सुंदर श्यामांबर की झिलमिल करती सी कोर बने,
तुम नंदन वन जानेवाली सुर-पगडंडी के छोर बने।
तुम प्रकृति-शीश की रत्न-खचित सुंदर टेढ़ी सी माँग बने,
या कसने को अलकावलियाँ रंजित रेशम के ताग बने।

अथवा 'बिंदिया' की ये पंक्तियाँ—

गोरे ललाट पर आती, इक लट उड़ उड़कर काली।
क्या स्फटिक-शिला पर मणि रख, करता भुजंग रखवाली॥

खग, वर्षाविहार, वनबाला आदि में कवि की कोमल कल्पना और सुंदर सरल व्यंजना-शैली बड़ी मनोहर है। 'खग' को पढ़ने से वड्‌र्सवर्थ और शेली के 'स्काइलार्क' की याद आती है। मानो शेली के "The scorner of the ground" और वड्‌र्सवर्थ के "Dost thou despise the earth where cares abound?" के उत्तर में ही 'गिरीश' का 'खग' गा उठता है—

"मैं सुनहले पंख का खग
जग मधुर मेरा बसेरा।"

'वनबाला' मेरेडिथ के 'लव इन दी वैली' की याद दिलाती है। दोनों में स्वच्छंदता है, पर 'वनबाला' कम प्रखर और अधिक सौम्य है। चंचलता और द्रुतगति इसमें भी है पर वैसी नहीं जैसी मेरेडिथ की बाला में—

Shy as the squirrel and wayward as the swallow,
Swift as the swallow along the river's light
Circleting the surface to meet his mirror's winglets,
Fleeter she seems in her stay than in her flight.

'गिरीश' जी अपनी 'वनबाला' से कहते हैं—

तुम द्रुतपद से विचरण करतीं,
सीटी के रव से वन भरतीं,
कण कण में हाँ, वितरण करतीं,
यह अल्हड़ यौवन की हाला।

'विद्युत् सी फुर्तीली' होने पर भी उष्ण कटिबंध की इस वनबाला में विलायती परी की वह तेजी कहाँ? पर यदि एक की फुर्ती में चुटीलापन है तो दूसरी की शिथिलता में ही मादकता है।

'रजनी' की आरंभिक पंक्तियों का मिलान आगे उद्धृत 'निराला' जी की पंक्तियों से कीजिए—

वह करने आई दीप-दान,
वह अलस चरण धर धर सुंदर,
धीरे धीरे उतरी भू पर,
फिर जादू के कर से छूकर,
कर दिए विमूर्च्छित विश्वप्राण।

—गिरीश

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुंदरी परी सी
धीरे-धीरे-धीरे

—निराला

एक की 'रजनी सुंदरी' है और दूसरे की 'संध्या सुंदरी'। दोनों सुंदरियाँ धीरे धीरे आसमान से भू पर उतरी हैं। यह भाव-साम्य होते हुए भी 'निराला' जी की पंक्तियों में एक अभ्यस्त कलाकार की सिद्धता है।

अन्य कवियों के साथ भाव-साम्य आकस्मिक भी हो सकता है। पर यदि 'गिरीश' ने कहीं किसी के भाव को अपनाया ही है, तो उधार के रूप में नहीं बल्कि उसे अपने साँचे में ढाल लिया है, चाहे इससे वह कुछ अधिक सुंदर हो गया हो या कुछ कम।

आशा है, कवि की प्रतिभा आगे चलकर और उज्ज्वल रूप में प्रस्फुटित होगी।

—चित्रगुप्त

समीक्षार्थ प्राप्त

आँधी के छंद—लेखिका श्रीमती उषादेवी मित्रा; प्रकाशक नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ; मूल्य १।) ।

आत्मचरित चंपू—लेखक श्री अक्षयवट मिश्र; प्रकाशक पुस्तक-भंडार लहेरिया सराय; मूल्य १॥) ।

इंद्रधनुष—लेखक श्री नीलकंठ तिवारी; प्रकाशक मध्यभारत हिंदी-साहित्य-समिति, इंदौर; मूल्य ॥।) ।

उद्गार—लेखक श्री कनक अग्रवाल; प्रकाशक भारतीय विद्वत्परिषद् कार्यालय, अजमेर; मूल्य ॥) ।

एकादशी—लेखक श्री नत्थाप्रसाद दीक्षित 'मिलिंद'; प्रकाशक इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग; मूल्य १) ।

कहानी-संग्रह भाग १—३, प्रकाशक राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति वर्धा; मूल्य क्रम से ।), ।=), ॥) ।

कामुक—लेखक मिल्टन, अनुवादक श्री रामनारायण मिश्र; प्रकाशक नवयुग पुस्तक-भंडार बहादुरगंज, प्रयाग; मूल्य १॥) ।

गाँधी टोपी—लेखक राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह; प्रकाशक श्री राजेश्वरी साहित्य-मंदिर सूर्यपुरा, शाहाबाद; मूल्य १) ।

गुलदस्ता भाग १—३, प्रकाशक राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति वर्धा; मूल्य क्रम से ।), ।-), ॥) ।

श्री जगद्गुरु सदुपदेश—लेखक श्री गरीबाचार्य; प्रकाशक स्वरूपानंद, बाँस का फाटक, बनारस; अमूल्य ।

जापान दिग्दर्शन—लेखक श्री सुरेंद्रनाथ दुबे; प्रकाशक नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ; मूल्य ॥) ।

ज्योत्स्ना—लेखक श्री रामदीन पाण्डेय; प्रकाशक पुस्तकभंडार, लहेरिया सराय दरभंगा; मूल्य ॥) ।

तलाश—श्री व्रजमोहन मिहिर; प्रकाशक बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद; मूल्य ।-) ।

त्रिधारा—लेखक सर्व श्री माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, केशवप्रसाद पाठक; प्रकाशक कर्मवीर प्रेस, जबलपुर; मूल्य १) ।

द्विवेदी मीमांसा—लेखक श्री प्रेमनारायण टंडन; प्रकाशक इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग; मूल्य १॥) ।

धर्मविज्ञान प्रथमखंड—लेखक श्री दयानंद; प्रकाशक भारतधर्म महामंडल, बनारस; मूल्य २) ।

पुरुषोत्तम—लेखक श्री तुलसीराम शर्मा 'दिनेश'; प्रकाशक मीरामंदिर, ३३६ ए कालबादेवी रोड, बंबई; मूल्य २) ।

प्रभुमति के दोहे—लेखक श्री प्रभुदयाल अग्रवाल, प्रकाशक लेखक, श्रीकृष्ण व्यापारी पाठशाला हापुड़—मेरठ; मूल्य १) ।

प्रयागप्रदीप—लेखक श्री शालिग्राम श्रीवास्तव; प्रकाशक हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग; मू० ३।।) ।

बाल द्विवेदी—लेखक श्री देवीदत्त शुक्ल; प्रकाशक इंडियन प्रेस, लिमिटेड, इलाहाबाद; मू० ।।) ।

सचित्र बिजली दर्पण—लेखक श्री शैलजाप्रसाददत्त वर्म्मन; प्रकाशक लेखक, १८१ मानिकतल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता; मू० २।।) ।

बिजली मशीन मास्टर—लेखक 'मणि'; प्रकाशक शिल्पशास्त्र प्रकाशन मंदिर, दिल्ली; मू० १।) ।

बिजली की बैटरियाँ—लेखक श्री भीष्मचंद्र शर्मा; प्रकाशक इलेक्ट्रिकल इंजिनियर्स ५५, लाटूश रोड, लखनऊ; मू० ।।।) ।

बिहार की भाषा-समस्याएँ—प्रकाशक ग्रंथमाला कार्यालय बाँकीपुर; मू० ।) ।

भारतीय इतिहास की बालपोथी—लेखक श्री परिपूर्णानंद वर्मा; प्रकाशक पुस्तक-भंडार, लहेरिया सराय; मूल्य १।।) ।

भारतीय तंतुमिल मजदूर पहला भाग—श्री का० ना० रामन्ना शास्त्री; प्रकाशक सोशलिस्ट लिटरेचर पब्लिशिंग कंपनी, गोकुलपुरा, आगरा; मूल्य ।।) ।

सचित्र मोटर दर्पण—लेखक श्री शैलजाप्रसाददत्त वर्म्मन; प्रकाशक टेकनिकल पब्लिशर्स, ५१ महानिर्वाण रोड, कलकत्ता; मूल्य १।।) ।

श्रीमद्राजचंद्र—अनुवादक श्री जगदीशचंद्र शास्त्री; प्रकाशक श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल बंबई; मू० ६) ।

राष्ट्रभारती—लेखक श्री रामचरित उपाध्याय; प्रकाशक ग्रंथमाला कार्यालय बाँकीपुर; मू० ।।) ।

राष्ट्रभाषा की प्रारंभिक बोधिनी—प्रकाशक राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति वर्धा; मू० =) दूसरा संस्करण ।

राष्ट्रभाषा की पहली, दूसरी और तीसरी पुस्तक—प्रकाशक राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति वर्धा; मू० क्रमश: ⅃, ।–⅃, ।–⅃ ।

वफाती चाचा—लेखक श्री रामनरेश त्रिपाठी; प्रकाशक हिंदी-मंदिर प्रयाग; मूल्य ॥⅃ ।

विद्युत् प्रकाश प्रथम भाग—संपादक श्री जयकृष्ण शर्मा; प्रकाशक शिल्पशास्त्रमाला, देहली ।

शिकारियों की सच्ची कहानियाँ—लेखक चौधरी शिवनाथसिंह शांडिल्य; प्रकाशक पुस्तक-भंडार लहेरिया सराय; मू० १॥⅃

संचारिणी—लेखक श्री शांतिप्रिय द्विवेदी; प्रकाशक इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग; मूल्य नहीं लिखा है ।

सतपंच चौपाई—लेखक और प्रकाशक श्री हरिगोविंद तिवारी, गोविंदसदन बालूगंज आगरा; मूल्य १।⅃ ।

सबकी बोली (पत्रिका)—प्रकाशक राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति वर्धा; मूल्य ।⅃ ।

सभा-विधान—लेखक श्री विष्णुदत्त शुक्ल; प्रकाशक सत्साहित्य-प्रकाशन-मंदिर, ७।९ बाबूलाल लेन कलकत्ता; मूल्य २॥⅃ ।

सम्मोहन विद्या—लेखक श्री पी० सी० सरकार; प्रकाशक ग्रंथमाला कार्यालय बाँकीपुर; मूल्य ॥।⅃

सरल रचना और पत्र लेखन—प्रकाशक राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति वर्धा; मूल्य ।⅃ ।

संशोधन—हमें खेद है कि पत्रिका के गत अंक के 'समीक्षार्थ प्राप्त' में ३२९ पृ० पर 'सुमित्रानंदन पंत—लेखक नरेंद्र' छप गया। वहाँ 'लेखक नगेंद्र' होना चाहिए।—संपादक ।

विविध

भूषण का असली नाम

भूषण को हृदयराम-सुत रुद्रराम सोलंकी ने 'कवि-भूषण'[1] की उपाधि दी थी, जैसा कि शिवराजभूषण के इस दोहे से प्रकट है—

कुल सुलंकि चितकूट पति साहस सील समुद्र ।
कवि-भूषण पदवी दयी हृदयराम-सुत रुद्र ॥२८॥

इसके आधार पर यह भी विश्वास चला आ रहा है कि भूषण उनका असली नाम नहीं था, उपाधि मात्र थी। यदि यह बात सच है तो उनका नाम क्या था, यह जानने का आज कोई साधन नहीं है। इस संबंध में कुछ अनुमान अवश्य लगाए जा रहे हैं। सबसे नया अनुमान है कि उनका नाम मनिराम था। अपने 'भूषण-विमर्श' में पं० भगीरथ-प्रसाद दीक्षित ने यह अनुमान लगाया है। इस अनुमान का आधार है पं० बदरीदत्तजी पांडेय के 'कुमाऊँ का इतिहास' का यह कथन[2]—

"कहते हैं कि सतारागढ़ साहू महाराज के राजकवि मनिराम राजा (उद्योतचंद) के पास अल्मोड़ा आए थे। उन्होंने राजा की प्रशंसा में यह कवित्त बनाकर राजा को सुनाया। राजा ने १०,०००) रु० तथा एक हाथी इनाम में दिया।

पुराण पुरुष के परम दृग दोऊ कहत बेद बानी यूँ पढ़ गई।
वे दिवसपति वे निशापति जोत कर काहूँ की बढ़ाई ना बढ़ गई॥
सूर्य के घर में कर्ण महादानी भयो याहू सोच समझ चिंता सों चढ़ गई।
अब तोहू राज बैठत उद्योतचंद चंद के कर्ण की किरण करेजे सों कढ़ गई॥"

इस पर दीक्षितजी ने विवेचन किया है—"इस छंद में किसी कवि का नाम नहीं है। परंतु प्रथम चरण में तीन अक्षर कम हैं।

१—'कवि-भूषण' उपाधि का अर्थ 'भूषण कवि' नहीं, 'कवियों का भूषण' है।
२—कुमाऊँ का इतिहास, पृ० ३०३।

भूषण नाम में भी तीन ही अक्षर हैं अतः यह कहना अनुचित न होगा कि इस रिक्त स्थान पर से भ्रमवश भूषण नाम ही उड़ गया है। इसके अतिरिक्त सितारा-नरेश साहू महाराज के राजकवि भूषण ही थे और कोई दूसरा कवि उनके दरबार में न था। प्रायः सभी विद्वानों ने इस बात को स्वीकार किया है कि 'भूषण' तथा 'मतिराम' उद्योतचंद के दरबार में गए थे[1]।"

परंतु यह कवित्त वस्तुतः भूषण का न होकर मतिराम का है। शिवसिंहसरोज में वह मतिराम के नाम से इस रूप में दिया गया है—

पूरन पुरुष के परम दृग दोऊ जानि
कहत पुरान वेद बानि जोरि रढ़ि गई।
कवि मतिराम दिनपति जो निशापति जो
दुहुँन की कीरति दिसन माँझ मढ़ि गई॥
रवि के करन भए एक महादानि यह
जानि जिय आनि चिंता चित्त माँझ चढ़ि गई।
तोहि राज बैठत कुमाऊँ उदोतचंद्र
चंद्रमा की करक करेजे हू ते कढ़ि गई॥

हैं दोनों एक ही, पर पांडेयजी को जो कवित्त मिला उसमें स्मृति या लेख-दोष से थोड़ा सा अंतर पड़ गया है।

दीक्षितजी से उनका 'भूषण-विमर्श' पाते समय जैसा मैंने उनसे संदेह प्रकट किया था, जान यह पड़ता है कि कहीं किसी ने मतिराम नाम को भ्रम से मनिराम पढ़ लिया। 'त' का 'न' पढ़ा जाना बहुत संभव है और उत्तराखंड के पहाड़ों पर मनिराम नाम खूब चलता है, इसलिये इस भ्रम का हो जाना और भी स्वाभाविक है। अतएव यह

१—भूषणविमर्श, पृ० ५।

ऊपर का कवित्त दीक्षितजी के ग्रंथ में कुछ सुधरकर आया है। प्रथम चरण में तीन नहीं, पाँच अक्षर कम हैं। परंतु इससे उनके तर्क के बल में कोई कमी नहीं आती।

निश्चय है कि मनिराम भूषण का असली नाम नहीं था। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि पांडेयजी ने 'कहते हैं' से आरंभ कर उपर्युक्त कथन की पूर्ण सत्यता का उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं लिया है और उसे किंवदंती ही माना है।

—डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल

असम प्रांत में हिंदी

नौगाँव राष्ट्रभाषा विद्यालय

नौगाँव राष्ट्रभाषा विद्यालय, असम के प्रधानाध्यापक श्री हेमकांत भट्टाचार्य ने उक्त विद्यालय का अगस्त १९३८ से जून १९३९ तक का विवरण पत्रिका में प्रकाशनार्थ भेजा है। उसका सारांश नीचे दिया जाता है—

१५ जून १९३८ को जिला नौगाँव हिंदुस्तानी ट्रेनिंग स्कूल की स्थापना हुई। उसके पूर्व ही २६ और २७ अप्रैल को एक प्रांतीय राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति की बैठक हुई थी और उसके अध्यक्ष की आज्ञा से उक्त स्कूल असम प्रादेशिक राष्ट्रभाषा-प्रचार-विद्यालय के नाम से चलाया जाने लगा। कार्य की सुविधा की दृष्टि से पहले केवल १० छात्रों को भर्ती करने का नियम रखा गया, पर छात्रों के उत्साह के कारण यह नियम ढीला करना पड़ा और एक महीने भर में ही ५० छात्र भर्ती हो गए। वर्ष के अंत तक कुल १५० छात्र भर्ती हुए।

यद्यपि उक्त विद्यालय की कोई निजी संपत्ति नहीं है, फिर भी राष्ट्रभाषा-प्रेमियों की बढ़ती हुई श्रद्धा को देखकर ७ केंद्र खोलने पड़े जिनमें छात्रों और छात्राओं की संख्या ३१५ रही। पर खेद है कि अध्यापकों के अभाव में इन केंद्रों को बंद कर देना पड़ा। इस समय विद्यालय में प्रारंभिक, प्रवेश, परिचय, ये तीन वर्ग खोले गए हैं जिनमें ४२ छात्र हैं। कोविद और विशारद की पढ़ाई भी आरंभ की जायगी। राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति के द्वारा इसमें एक अध्यापक और नियुक्त किया गया है।

इस विद्यालय की ओर से एक हरिजन विद्यालय भी चलाया जाता है जिसमें ४० विद्यार्थी शिक्षा पाते हैं। विद्यालय की ओर से छः छात्र उत्तर भारत के भिन्न भिन्न स्थानों में शिक्षा पाने के लिये भेजे गए हैं जिनमें चार को छात्रवृत्तियाँ भी मिलती हैं। दो छात्र स्थानीय बोर्ड तथा सरकारी शिक्षा-विभाग में भी लिए गए हैं। विद्यालय में एक छोटा पुस्तकालय भी है जिसमें १५० पुस्तकें हैं और कुछ दैनिक, साप्ताहिक तथा मासिक पत्र-पत्रिकाएँ भी आती हैं। इनमें साप्ताहिक विश्वमित्र, समाज-सेवक, हरिजन-सेवक, नवशक्ति, संघर्ष और नागरी-प्रचारिणी पत्रिका के अंक बिना मूल्य प्राप्त होते हैं। विद्यालय की ओर से 'राष्ट्रवाणी' नाम का एक हस्तलिखित मासिक पत्र असमी और देवनागरी लिपि में निकलता है। छात्रों के द्वारा गाँवों में साक्षरता-प्रचार का भी कुछ कार्य आरंभ कर दिया गया है। नौगाँव के गवर्नमेंट हाईस्कूल में भी दो घंटे प्रतिदिन विद्यालय की ओर से अध्यापन के लिये समय दिया जाता है। इस समय नियमित रूप से केवल दो ही अध्यापक हैं और कार्य बहुत अधिक है।

विद्यालय के पास धन की बहुत कमी है जिसके कारण असम प्रांत में बढ़ते हुए हिंदी प्रचार के कार्य को पूरा करना कठिन हो रहा है। विद्यालय के छात्रों से नाममात्र का मासिक एवं प्रवेश-शुल्क लिया जाता है। बड़ी कठिनता से शिक्षणालय के लिये केवल ४ बीघे १० लोचे (?) भूमि प्राप्त हो सकी है। पर भवन बनवाने के लिये न कोई सामान है न धन। यदि भवन बन जाय और शिक्षकों का पूरा प्रबंध रहे तो इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि नौगाँव राष्ट्रभाषा विद्यालय के द्वारा असम में बहुत अधिक प्रचार-कार्य हो सकता है।

अगस्त १९३८ से जून १९३९ ई० तक इस विद्यालय की आय १३२॥-) तथा व्यय १०९=) हुआ।

कुछ दिन पूर्व श्रीयुत काका कालेलकर, बाबा राघवदास तथा अखिल-भारतीय राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति के मंत्री श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल ने विद्यालय का निरीक्षण कर उसके कार्यों पर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की।

विद्यालय के चलाने में पब्लिक लायब्रेरी के मंत्री श्री मतिराम बरा एम० ए०, बी० एल० ने प्रशंसनीय सहृदयता दिखलाई है जिसके लिये विद्यालय उनका कृतज्ञ है।

इस विवरण से पता चलता है कि नौगाँव राष्ट्रभाषा विद्यालय असम प्रांत में राष्ट्रभाषा-प्रचार का कार्य उत्साह से कर रहा है। यह बड़े खेद की बात है कि विद्यालय को आर्थिक सहायता नहीं मिल रही है जिसके कारण राष्ट्रभाषा सीखने की इच्छा रखनेवाले असमी भाइयों को निराश होना पड़ता है। उदार और समर्थ राष्ट्र-भाषा-प्रेमियों को इस ओर शीघ्र ध्यान देना चाहिए। हमें आशा है कि विद्यालय की शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जायगी और उसे यथेष्ट सफलता मिलेगी।

—पु०

पुस्तकालय, संकेतलिपि-विद्यालय

पुस्तकालय में सूची तैयार करने का काम अभी चल रहा है और साथ ही साथ जिल्दबंदी का काम भी जारी है। आशा है, शीघ्र ही यह काम समाप्त हो जायगा और पाठकों को पुस्तकें पढ़ने के लिये मिलने लगेंगी।

बहुत से लेखकों तथा प्रकाशकों ने सदा की भाँति अपनी पुस्तकें पुस्तकालय को भेंट की हैं। इसके लिये सभा हृदय से उनकी कृतज्ञ है।

संकेतलिपि-विद्यालय में हिंदी संकेतलिपि और हिंदी टाइप-राइटिंग की शिक्षा का कार्य नियमपूर्वक जारी है।

भारतकला-भवन

भारतकला-भवन में इधर जो वस्तुएँ आई हैं उनमें सबसे मुख्य वस्तु हमजानामा का एक अकबर-कालीन चित्र है जो बहुत ही दुर्लभ वस्तु है और जिसकी भारतवर्ष भर में केवल यही एक प्रति है। यह चित्र २०००) में खरीदा गया है जिसमें से १०००) कृपा कर युक्तप्रांतीय सरकार ने दिया था और शेष इस प्रकार मिला था—

५००) श्रीमती मनीबेन शाह	१०१) श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार
३००) औसानगंज स्टेट	१००) श्रीमती कुसुम शाह

इस वर्ष भी भारतकला-भवन के लिये युक्तप्रांतीय सरकार ने १०००) की अस्थायी सहायता प्रदान करने की कृपा की है जिसके लिये सभा उसे धन्यवाद देती है।

खोज विभाग

हिंदी की हस्तलिखित पुस्तकों की खोज का कार्य पूर्ववत् हो रहा है। खोज विभाग के कार्यालय में कागज-पत्र रखने का कोई

उचित स्थान न होने के कारण अब तक बड़ी कठिनाई पड़ती थी। पर अब दो आलमारियों का प्रबंध हो गया है और सब कागज-पत्र उनमें सुरक्षित रूप से रख दिए गए हैं।

प्रकाशन

रघुनाथ रूपक और मध्यप्रदेश का इतिहास, इन दोनों पुस्तकों के प्रकाशित होने में अनिवार्य कारणों से कुछ विलंब हो गया, पर अब ये शीघ्र ही प्रकाशित हो जायँगी। श्रीयुत गोविंद सखाराम सरदेसाई की 'मेन करेंट्स इन मरहठा हिस्ट्री' नाम की अँगरेजी पुस्तक का हिंदी अनुवाद सभा ने प्रकाशित करने का निश्चय किया है, और इसका अनुवाद उज्जैन के प्रोफेसर हरि रामचंद्र दिवेकर एम० ए०, डो० लिट्० कर रहे हैं। मुसलमान कवि नजीर (अकबराबादी) की चुनी हुई कविताओं का संग्रह भी हिंदी में संपादित कराके प्रकाशित करने का निश्चय हो चुका है। यह कार्य सभा के स्थायी सभासद पंडित मनोहरलाल जुत्शी एम० ए० के प्रस्ताव पर सभा ने आरंभ किया है और इसका संपादन पं० चंद्रबली पांडे एम० ए० कर रहे हैं। संपादन-कार्य में परामर्श देने के लिये निम्नलिखित सज्जनों की एक समिति बना दी गई है—

श्री रामबहोरी शुक्ल
श्री रामचंद्र वर्मा
श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़

जीवन के आनंद नाम की पुस्तक अब संशोधित होकर छपेगी। इसका संशोधन श्री पं० रामनारायण मिश्र (सभा के सभापति) कर रहे हैं। भीष्म पितामह तथा तुलसी-ग्रंथावली भाग २ ये दोनों पुस्तकें पुनर्मुद्रण के लिये प्रेस में भेज दी गई हैं।

हिंदी प्रचार

पंजाब, कश्मीर और असम प्रांतों से सभा को बहुत से पत्र मिले हैं जिनमें उन प्रांतों में हिंदी की अवस्था का उल्लेख है। वहाँ

के हिंदी-प्रेमियों ने हिंदी पर होनेवाले प्रत्यक्ष और परोक्ष आक्रमणों से क्षुब्ध होकर सभा का आवाहन किया है। यद्यपि धनाभाव के कारण सभा उक्त प्रांतों में पूरा पूरा कार्यभार उठाने में समर्थ नहीं है, फिर भी वह अपने सामर्थ्य भर प्रयत्न कर रही है। जनवरी के आरंभ में सभा के सभापति श्री पं० रामनारायण मिश्र ने पंजाब जाकर वहाँ की अवस्था का निरीक्षण किया था। वहाँ एक प्रतिनिधि-मंडल भेजने का निश्चय हो चुका है और उसके संबंध में लिखा-पढ़ी हो रही है।

सभा से प्रकाशित 'बिहार में हिंदुस्तानी' नाम की पुस्तक को लेकर कुछ लोगों ने बिहार में यह भ्रम फैलाना आरंभ किया कि युक्त-प्रांत के साहित्यिक बिहार के साहित्यिकों को अवज्ञा की दृष्टि से देखते हैं। सभा ने इस भ्रम को दूर करने का प्रयत्न किया और इस संबंध में दो वक्तव्य निकाले जो युक्तप्रांत, बिहार और कलकत्ते के प्रमुख पत्रों में छपे। भभुआ (शाहाबाद) में नवजीवन साहित्य-परिषद् का उत्सव, कुछ ही दिन हुए, श्रीयुत पं० रामनारायण मिश्र (सभा के सभापति) के सभापतित्व में हुआ था। श्री चंद्रबली पांडे भी उनके साथ गए थे। वहाँ भी सभा का वक्तव्य देकर स्थिति का स्पष्टीकरण किया गया।

विशिष्ट दर्शक

गत २४-१२-३६ को सर चुन्नीलाल मेहता बैरोनेट और रायबहादुर डाक्टर श्यामबिहारी मिश्र सभा में पधारे। ३१ जनवरी को श्री जवाहरलाल नेहरू, श्री रणजित् पंडित के साथ, आए और कलाभवन देखकर उन्होंने बड़ा संतोष प्रकट किया।

१ फरवरी को चीनी सद्भाव-संदेश-मंडल के नायक और वहाँ की राष्ट्रीय सरकार के धर्माध्यक्ष महामान्य ताईसू का सभा में आगमन हुआ। सभा की ओर से उनका स्वागत किया गया और उनके सम्मान में साहित्यगोष्ठी की ओर से जलपान का आयोजन किया गया। महामान्य ताईसू ने चीनी भाषा में सभा के कार्यों पर बड़ा संतोष प्रकट किया जिसका भाव श्री भदंत आनंद कौसल्यायन ने हिंदी भाषा में

समझाया। उन्होंने कहा कि महात्मा बुद्ध ने भी लोकभाषा को प्रधानता देकर उसकी उन्नति की थी। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि सभा भी उसी पवित्र कार्य को कर रही है। भारत की राष्ट्रभाषा की उन्नति के लिये सभा का प्रयत्न सर्वथा स्तुत्य है।

अर्थ-विभाग

हर्ष की बात है कि सभा की निधियों को ट्रेजरर चैरिटेबुल एंडाउमेंट्स के पास जमा करने के लिये जो लिखा-पढ़ी हो रही थी वह सफल हो गई। ता० ५ जनवरी १९४० के युक्तप्रांतीय सरकारी गजट में उसकी विज्ञप्ति प्रकाशित हो चुकी है और निधियों के कागज डिप्टी-एकाउंटेंट जनरल के पास भेज दिए गए हैं।

सभा को जिन सज्जनों ने इधर धन की सहायता दी है उन्हें वह हृदय से धन्यवाद देती है। उनकी नामावली इसी अंक में अन्यत्र प्रकाशित की जा रही है।

नियम-संशोधन

सभा की प्रबंध समिति ने अपने २१-१२-३९ के अधिवेशन में निश्चय किया कि आगामी वार्षिक अधिवेशन में सभा के नियमों में निम्नलिखित संशोधन के प्रस्ताव उपस्थित किए जायँ—

नियमावली में संशोधन

प्र० स० के ता० २१-१२-३९ के अधिवेशन में निश्चय हुआ कि सभा की नियमावली में निम्नलिखित संशोधन के प्रस्ताव आगामी वार्षिक अधिवेशन में उपस्थित किये जायँ—

पृष्ठ-सं०	नियम-सं०	पंक्ति-सं०	संशोधन
४	९	२	बढ़ाया जाय—'सभा में इसी संवत् का व्यवहार होगा'।
,,	१०	३	'आडिटरों' के स्थान पर 'जाँचकर्ताओं' रखा जाय। 'द्वारा' के बाद बढ़ाया जाय–

पृष्ठ-सं०	नियम-सं०	पंक्ति-सं०	संशोधन
४	१०	३	'प्रतिमास के अथवा'। 'करेगी' के पश्चात् 'और' निकालकर पूर्ण विराम रखा जाय। पादटिप्पणी निकाल दी जाय।
५	१२	५	'डेप्यूटेशन' के स्थान पर 'प्रतिनिधि-मंडल' रखा जाय।
,,	१३	१	
६	१५	५	बढ़ाया जाय—'स्थायी कोष का मूल-धन व्यय नहीं किया जायगा'।
,,	१६	१	निकाल दिया जाय—'स्थायी.. तथा'।
,,	१८	१	'कार्यालय' के बाद अर्द्धविराम रखा जाय। 'तथा' निकाल दिया जाय। 'पुस्तकालय' के बाद बढ़ाया जाय—'तथा कलाभवन'।
७	१९	२	'सभासद को' के बाद बढ़ाया जाय 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका द्वारा'।
८	२१	३	'सभासद' के बाद 'अपने''अनंतर' निकाल कर उसके स्थान पर रखा जाय—'पत्रिका के पुराने अंक और'
		४	'सामयिक' शब्द निकाल दिया जाय।
		५	'ले सकते हैं' के बाद पूर्ण विराम रखा जाय।
		५-८	निकाल दिया जाय—'और जितने'' ले सकते हैं'।
९	२२ (ग)	२, ३	'किया' के स्थान पर 'हो' रखा जाय।
१०	२५	३	बढ़ाया जाय—'पर जो सज्जन वर्ष के अंतिम तीन मास में सभासद होंगे उन्हें उस वर्ष की पत्रिका का केवल चौथा अंक प्राप्त होगा। उनका चंदा अगले वर्ष में

पृष्ठ-सं०	नियम-सं०	पंक्ति-सं०	संशोधन
			जमा होगा और तभी से उन्हें सभासदों के अधिकार प्राप्त होंगे।'
१०	२७(ख)	१	'हिंदी' के बाद 'भाषा' शब्द निकाल दिया जाय।
		१-२	'को भरना,' 'की रक्षा' के स्थान पर रखा जाय—'की रक्षा करना और उसे संपन्न'
१०	२७(ग)	३-४	निकाल दिया जाय—'और' 'माँगना'
११	२८(क)		— अनावश्यक है इसलिये निकाल दिया जाय।
,,	२८(ख)	१	(ख) को (क) कर दिया जाय। 'पहले' के बाद 'लिखित' शब्द बढ़ा दिया जाय।
,,		२	'विषय' के बाद 'को' के स्थान पर 'पर' रखा जाय। 'पत्र लिखकर या' अंश निकाल दिया जाय।
,,		३	'पूछे' के स्थान पर 'प्रश्न करे' रखा जाय।
,,			२८ (ग), (घ), (ङ) के स्थान पर क्रम से (ख), (ग), (घ) रखा जाय।
१२	२९(क)	४	'वोट' के स्थान पर 'मत' रखा जाय।
	२९(ग)	२	'व्यापारिक' शब्द पर चिह्न लगाकर पादटिप्पणी में उसका अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया जाय— *सभा के लिये पुस्तकों का लेखन, संपादन, संकलन, संशोधन और अनुवाद व्यापारिक कार्य नहीं समझा जायगा।

पृष्ठ-सं०	नियम-सं०	पंक्ति-सं०	संशोधन
१२	३१	३	'उसका' के स्थान पर 'उनका' रखा जाय और " 'ख' सूची" को "सूची 'ख' " कर दिया जाय।
१७	४७	४	'इक्कीस' के स्थान पर 'उनतालीस' रखा जाय। 'होंगे' के बाद बढ़ाया जाय-- 'जिनमें कम से कम एक महिला सभासद का रहना आवश्यक होगा'।
	४७(क)	१	१२ के स्थान पर १५ रखा जाय।
	४७(ख)	१	'संयुक्त' के पहले जोड़ा जाय—'काशी के बाहर'। 'बाहरी' शब्द निकाल दिया जाय। २ के स्थान पर ५ रखा जाय।
	४७(ग)	१-२	इस प्रकार रखा जाय—'असम, ब्रह्मदेश, बंगाल, उत्कल, बिहार, दिल्ली, पंजाब और सीमाप्रांत, सिंध, बंबई, मध्यदेश और बरार, मद्रास तथा सिंहल इनमें प्रत्येक से एक एक···१२'
	४७(घ)		'मध्यप्रदेश···से···१' के स्थान पर रखा जाय—'मध्यभारत और राजपूताना की तथा अन्य रियासतों से एक एक···७'
	४७		अंत में समस्त योग २१ के स्थान पर ३९ रखा जाय।
१८		२	१५ के स्थान पर केवल ५ रखा जाय।
		३	'किसी' के बाद 'निकटवर्ती' शब्द बढ़ाया जाय।
		४	'जायगा' के बाद 'जिसमें···अधिक हो' अंश निकाल दिया जाय।

पृष्ठ-सं०	नियम-सं०	पंक्ति-सं०	संशोधन
१९	४७	४	पूर्ण विराम के बाद बढ़ाया जाय— "प्रबंध-समिति को अधिकार होगा कि किसी प्रांत में ५ से कम सभासद रहने पर भी उस प्रांत से प्रबंध-समिति के लिये सभासद निर्वाचित करे।"
१९	५४ के बाद		बढ़ाया जाय— विशेष अधिवेशन— ५५—विशेष अधिवेशन के संबंध में आगे दिए गए नियम ६१ के अनुसार कार्य होगा।
१९	५६		नियम ५६ को ५७ कर दिया जाय और इसके बाद प्रत्येक नियम की संख्या एक एक बढ़ा दी जाय जिससे अंतिम नियम ७५ के स्थान पर ७६ हो जायगा।
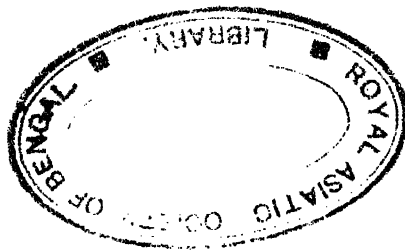
१ मार्गशीर्ष से ३० माघ तक २५) या अधिक दान देनेवाले सज्जनों की नामावली

प्राप्ति-तिथि	दाता	प्राप्त धन	प्रयोजन
६ मार्ग० ९६	श्री मुरारीलाल केडिया, काशी	२५)	श्री रामप्रसाद-समादर
२७ पौष ,,		५०)	भवन-निर्माण कोष
२३ ,, ,,	श्री कृष्णराव पूर्णचंद्र मांडलीक, धार राज्य	१००)	स्थायी कोष
२५ ,, ,,	श्रीमान् महाराजा भरतसिंह, मुल्थान, मध्यभारत	१००)	,, ,,
८ ,, ,,	श्री हरिप्रसाद वर्मा, मुकामाघाट	१००)	,, ,,
१० ,, ,,	श्री सर चुन्नीलाल वी० मेहता, के० सी० एस० आई०, बंबई	१००)	नागरी-प्रचार
११ ,, ,,	श्री केदारनाथ सेठ शास्त्री, कलकत्ता	१००)	स्थायी कोष
२५ ,, ,,	म्युनिसिपल बोर्ड, बनारस [३०) मासिक]	२७०)	पुस्तकालय
२७ ,, ,,	श्री पं० रामधन शर्मा एम० ए०, एम० ओ० एल०, शास्त्री, साहित्याचार्य, दिल्ली	१००)	स्थायी कोष

२७ पौष ६६	श्री लाला ज्ञानचंद आर्य, १२ खंभा रोड, नई दिल्ली	१००)	स्थायी कोष
१६ माघ ,,	श्रीयुत पं० रमेशदत्त पांडे बी० ए०, काशी	१००)	,, ,,
२३ माघ ,,	श्री सेठ रामेश्वरलालजी, कोठी विश्वंभरलालजी, गोरखपुर	२५)	नागरी-प्रचार
२८ ,, ,,	श्री युक्तप्रांतीय सरकार	१०००)	कलाभवन
इस वर्ष चार किस्तों में	,, ,,	१०००)	पुस्तकालय
,, ,,	,, ,,	२०००)	हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज

नोट—जो सज्जन किस्त से चंदा देते हैं उनका नाम पूरा चंदा प्राप्त होने पर प्रकाशित किया जायगा।

हिंदी की संस्थाएँ

हिंदी के प्रचार और उन्नति में लगी हुई भारत की जितनी संस्थाओं के नाम अब तक सभा को प्राप्त हो सके हैं उनकी सूची नीचे दी जाती है। इन सभी संस्थाओं, सभा के सभासदों तथा पत्रिका के अन्य पाठकों से प्रार्थना है कि वे अपनी जानकारी से ऐसी अन्य संस्थाओं के पते देकर इस सूची को पूर्ण करने में सभा की सहायता करें।

असम

असम-हिंदी-प्रचार-समिति गौहाटी, असम।

नौगाँव राष्ट्रभाषा विद्यालय, असम।

विद्योत्साही समिति मनीपुर, असम

उत्कल

उत्कल प्रांतीय हिंदी-प्रचार सभा, कटक।

कश्मीर

हिंदी-प्रचारिणी सभा, जम्मू।

दिल्ली

गुरुकुल, इंद्रप्रस्थ,

मारवाड़ी हिंदीपुस्तकालय, दिल्ली।

पंजाब

साहित्य-सदन, अबोहर।

हिंदी पाठशाला, चंबा।

राष्ट्रभाषा-प्रचारक संघ, करुणाकाव्य कुटीर, कृष्णनगर, लाहौर।

नागरी-प्रचारिणी सभा, स्यालकोट।

बंगाल

हिंदी परिषद्, विद्यासागर कालेज, कलकत्ता

हिंदी भवन शांतिनिकेतन, बोलपुर।

हिंदी संघ, संत जवियर कालेज, कलकत्ता

महाराष्ट्र हिंदी-प्रचार-समिति, पूना

मारवाड़ी हिंदी पुस्तकालय, कालबादेवी रोड, बंबई।

हिंदी विद्यापीठ, गिरगाँव, बंबई।

गुरुकुल विद्यामंदिर, सूपा, वाया नवसारी, सूरत।

हिंदी प्रचारक मंडल, सूरत।

बिहार

गोवर्धन साहित्य-महाविद्यालय, देवघर।

बालशिक्षासमिति, बाँकीपुर, पटना।

बालकसंघ, विष्णुपुर, पटना।

विद्यापति हिंदी सभा, दरभंगा।

नागरीप्रचारिणी सभा, भगवानपुर रत्ती, मुजफ्फरपुर।

सुहृदसंघ, मुजफ्फरपुर।

हिंदी साहित्य भवन धरफरी, मुजफ्फरपुर।

नवजीवन साहित्य परिषद्, भभुआ, शाहाबाद।

नागरी-प्रचारिणी सभा, आरा (शाहाबाद)

हिंदी साहित्य समिति, शाहाबाद।

स्वयंसेवक पुस्तकालय, सारन।

साहित्य सदन माँझी, सारन।

हिंदी साहित्य समिति, सहसराम।

मद्रास

हिंदी शिक्षण केंद्र, उत्तर कन्नड़।

दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा त्यागरायनगर।

कर्नाटक प्रांतीय हिंदी प्रचार सभा, मंगलोर।

हिंदी प्रचार सभा, मदुरा।

मध्य प्रान्त

मध्यप्रांतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, जबलपुर।

नागरी-प्रचार समिति, छिंदवाड़ा।

शारदा शांति साहित्य सदन, केवलारी, पथरिया, दमोह।

हिंदी साहित्य समिति, बेतूल।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा।

श्री सरस्वती वाचनालय, सागर।

मध्य भारत

मध्यभारत हिंदी साहित्य समिति, इंदौर।

वीरेंद्र केशव साहित्य परिषद्, ओरछा।

ओरछा राज्य और बुंदेलखंड साहित्य परिषद्, टीकमगढ़।

रघुराज साहित्य परिषद्, रीवाँ।

साहित्य सदन, मैलानी।

युक्तप्रांत

प्रांतीय साहित्य परिषद्, अलीगढ़।

नागरी-प्रचारिणी सभा, आगरा।

हिंदी साहित्य समिति सनातनधर्म कालेज, कानपुर।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

प्रसाद परिषद्, काशी।

बनारस जिला हिंदी साहित्य-सम्मेलन, काशी।

लाला भगवानदीन साहित्यविद्यालय, काशी।

हिंदी परिषद्, हिंदू विश्वविद्यालय, काशी।

नागरीप्रचारिणी सभा, गोरखपुर।

रामायणप्रसार-समिति, बरहज, गोरखपुर।

नागरी-प्रचारिणी सभा, गोंडा।

जौनपुर जिला हिंदी साहित्य-सम्मेलन, जौनपुर।
हिंदी साहित्य परिषद्, प्रयाग।
हिंदुस्तानी एकेडमी, प्रयाग।
हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
हिंदी प्रचार समिति टाँडा, फैजाबाद।
हिंदी प्रचार मंडल आर्यकुमार सभा, बदायूँ।
नागरी-प्रचारिणी सभा, बलिया
नागरी-प्रचारिणी सभा, बहराइच।
हिंदी साहित्य सभा, बाँदा।
नागरी-प्रचारिणी सभा, बुलंदशहर।
प्रेम महाविद्यालय, वृंदावन।
हिंदी साहित्य परिषद्, मथुरा।
नागरी-प्रचारिणी सभा, मैनपुरी।
हिंदी साहित्य समिति, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर (सहारनपुर)।
गुरुकुल काँगड़ी, सहारनपुर।
हिंदी-हितैषिणी सभा, सहारनपुर।
श्रवणनाथ ज्ञानमंदिर, हरद्वार।
हिंदी साहित्य समिति, बजाजा बाजार, हापुड़।

राजपुताना

भारतेंदु साहित्य समिति, कोटा।
हिंदी मंडल खेतड़ी, जयपुर।

फारस की खाड़ी

नागरी-प्रचारिणी सभा, मस्कत और मात्रा।

ब्रह्मदेश

हिंदी साहित्य मंडल, ३०८ बार स्ट्रीट, रंगून।

हमारी परिवर्तन-सूची
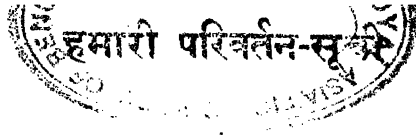
अग्रगामी	बनारस
अनेकांत	सरसावा
अरुण	मुरादाबाद
अर्जुन	दिल्ली
आंध्र साहित्य परिषत्	कोकोनाडा
आज (१) दैनिक और (२) साप्ताहिक	काशी
आदर्श	हरिद्वार
आनंद (मराठी)	पूना
आर्य	लाहौर
आर्य महिला	काशी
आर्यमित्र	आगरा
इंडियन पी० ई० एन० अँगरेजी	बंबई
इंडियन इन्फार्मेशन सिरीज (अँगरेजी)	दिल्ली
इंडियन हिस्टरिकल कार्टर्ली (अँगरेजी)	कलकत्ता
इंडियाना······(अँगरेजी)	काशी
इंस्टीटस डेस ओरिएंटल डेस एकेडेमी साइंस (रूसी)	लेनिनग्रेड
उत्तर भारत	पौड़ी
उर्दू	दिल्ली
उषा	दिल्ली
एजुकेशन (अँगरेजी)	लखनऊ
एनल्स आव दी भांडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट (अँगरेजी)	पूना
एनुएल बिब्लिओग्राफी आव इंडियन आर्क्यालजी (अँगरेजी)	लीडन
एपिग्राफिया इंडिका (अँगरेजी)	उटकमंड
ओरिएंटल लिटरेरी डाइजेस्ट (अँगरेजी)	पूना

ओरिएंटल स्टडीज बुलेटिन (अँगरेजी)	लंदन
कमला	काशी
कर्नाटक हिस्टारिकल रिसर्चसोसायटी (अँगरेजी)	धारवाड़
कर्मवीर	खंडवा
कर्मभूमि	लैंसडाउन
कल्पवृक्ष	उज्जैन
कल्याण	गोरखपुर
कहानी	काशी
कांग्रेस समाचार	हाथरस
किशोर	पटना
किसानोपकारक	लखनऊ
कूर्मि क्षत्रिय दिवाकर	काशी
केसरी (मराठी)	पूना
क्षत्रियमित्र	काशी
क्षात्रधर्म	अजमेर
खंडेलवाल महासभा बंधु	आगरा
खंडेलवाल संदेश	आगरा
खिलौना	प्रयाग
गवर्नमेंट गजट (यू० पी०)	लखनऊ
गीताधर्म	काशी
गुजराती पंच (गुजराती)	अहमदाबाद
गुरुकुल	काँगड़ी
गृहस्थ	काशी
गृहस्थ	गया
ग्रामवासी	काशी
चित्रप्रकाश	दिल्ली
चिनगारी	गया
जनता	पटना

जयाजी प्रताप	ग्वालियर
जर्नल आव आंध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी (अँगरेजी)	राजमुंद्री
जर्नल आव इंडियन हिस्ट्री (अँगरेजी)	मद्रास
जर्नल आव बांबे ब्रांच रायल एशियाटिक सोसायटी (अँगरेजी)	बंबई
जर्नल आव ग्रेट इंडिया सोसायटी (अँगरेजी)	कलकत्ता
जर्नल आव बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी (अँगरेजी)	पटना
जर्नल आव दी मद्रास ज्याग्राफिकल असोसिएशन (अँगरेजी)	मद्रास
जर्नल आव दी यूनाइटेड प्राविंसेज हिस्टारिकल सोसायटी	इलाहाबाद
जागरण	कलकत्ता
जागृति	कलकत्ता
जीवन-सखा	प्रयाग
जीवन-सुधा	दिल्ली
जैन सिद्धांत भास्कर (अँगरेजी)	आरा
ज्योतिष्मती (संस्कृत)	काशी
तत्त्वदर्शी	बड़ोदा
थियोसोफिस्ट (अँगरेजी)	बनारस
दक्षिणभारत हिंदी-प्रचार पत्रिका	मद्रास
दया	काशी
दीपक	अबोहर
देशदूत	प्रयाग
देशी राज्य	नडियाद
धन्वंतरी	विजयगढ़
धर्मदूत	सारनाथ
धर्म-संदेश	इटावा
नवज्योति	अजमेर
नई तालीम	वर्धा
नवशक्ति	पटना
न्यू बुक डाइजेस्ट (अँगरेजी)	बंबई

नाम-माहात्म्य	वृंदावन
प्रकाश	जयपुर
प्रजापति प्रकाश	अहमदाबाद
प्रताप (१) दैनिक, (२) साप्ताहिक	कानपुर
प्रदीप	मुरादाबाद
प्रवासी (बँगला)	कलकत्ता
वसंत (गुजराती)	अहमदाबाद
वानर	प्रयाग
बालक	दरभंगा
बाल-सखा	प्रयाग
बालहित	उदयपुर
बुद्धिप्रकाश (गुजराती)	अहमदाबाद
बुद्धप्रभा (अँगरेजी)	बंबई
ब्रह्मविद्या (अँगरेजी)	अदयार
भारत (१) दैनिक और (२) साप्ताहिक	प्रयाग
भारत इतिहास संशोधक मंडल	पूना
भारतोदय	ज्वालापुर
भूगोल	प्रयाग
मध्यभारत	इंदौर
मराल	आगरा
मलेरिया (अँगरेजी)	आम्सटर्डम
महाराष्ट्र साहित्य पत्रिका (मराठी)	पूना
मातृभूमि अब्दकोश	झाँसी
महिला	कलकत्ता
माया	प्रयाग
माधुरी	लखनऊ
मारवाड़ी समाचार	जोधपुर
मिथिक सोसायटी (अँगरेजी)	बंगलौर

म्युनिस्पल गजट बनारस	काशी
यादवेश	काशी
योगी	पटना
राजस्थान	अजमेर
राष्ट्रमत	प्रयाग
लीडर (अर्द्ध साप्ताहिक अँगरेजी)	प्रयाग
लोकमान्य (१) दैनिक (२) साप्ताहिक	कलकत्ता
विजय	काशी
विश्वभारती (अँगरेजी)	शांतिनिकेतन
विश्वमित्र (१) दैनिक (२) साप्ताहिक (३) मासिक	कलकत्ता
वीणा	इंदौर
श्रीवेंकटेश्वर	बंबई
वैदिक धर्म	औंध
वैद्य	मुरादाबाद
ब्राह्मण-सर्वस्व	इटावा
शनिवारेर चीठी (बँगला)	कलकत्ता
शुभचिंतक	जबलपुर
शिक्षण अने साहित्य	अहमदाबाद
श्रेय	मथुरा
संकीर्तन	मेरठ
संगीत	हाथरस
संदेश	आजमगढ़
सचित्र दरबार	दिल्ली
सचित्र भारत	कलकत्ता
सबकी बोली	वर्धा
सरस्वती	प्रयाग
समय	जौनपुर
साधना	आगरा

सार्वदेशिक	दिल्ली
सर्वोदय	वर्धा
साहित्य	पटना
साहित्य परिषद पत्रिका (बँगला)	कलकत्ता
साहित्य-संदेश	आगरा
सुकवि	कानपुर
सुधा	लखनऊ
सुधानिधि	प्रयाग
सूर्य (१) द्विदैनिक और (२) साप्ताहिक	काशी
सूर्योदय (संस्कृत)	काशी
सैनिक	आगरा
स्वतंत्र	झाँसी
स्वाधीन भारत	आरा
हरिजन-सेवक	दिल्ली
हारवर्ड जर्नल आव एशियाटिक स्टडीज (अँगरेजी)	कैंब्रिज चुसेंट्
हिंदी केशरी	काशी
हिंदी प्रेम प्रचारक	आगरा
हिंदी बंगवासी	कलकत्ता
हिंदी मिलाप	दिल्ली
हिंदी शिक्षण पत्रिका	इंदौर
हिंदी स्वराज्य	खंडवा
हिंदुस्तान रिव्यू (अँगरेजी)	पटना
होमियोपैथिक प्रचार	मुरादाबाद